ओ३म्

प्राचीन सांख्य संदर्भ

विद्याभास्कर, वेदरत्न, न्याय-वैशेषिक,
सांख्य-योग तीर्थ, वेदान्ताचार्य शास्त्रशेवधि

आचार्य उदयवीर शास्त्री

* ओ३म् *

उदयवीर शास्त्री ग्रन्थावली

९

प्राचीन सांख्य-सन्दर्भ

विद्याभास्कर, वेदरत्न

उदयवीर शास्त्री

न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योगतीर्थ, वेदान्ताचार्य, विद्यावाचस्पति, शास्त्रशेवधि

भूमिका-लेखक

स्वामी विद्यानन्द सरस्वती

गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली-६

हमारे यहाँ से प्रकाशित लेखक द्वारा प्रणीत ग्रंथ

१. न्यायदर्शन भाष्य
२. वैशेषिकदर्शन भाष्य
३. सांख्यदर्शन भाष्य
४. योगदर्शन भाष्य
५. मीमांसादर्शन भाष्य
६. ब्रह्मसूत्र (वेदान्तदर्शन भाष्य)
७. सांख्यदर्शन का इतिहास
८. सांख्य सिद्धान्त
९. प्राचीन सांख्य-संदर्भ
१०. वेदान्तदर्शन का इतिहास
११. वीर तरंगिणी (विभिन्न विषयों पर लेख)

ग्रन्थावली के ११ खण्डों का मूल्य २०००-००

मूल्य १००-००

प्रकाशक :

विजय कुमार
गोविन्दराम हासानन्द
४४०८, नई सड़क,
दिल्ली-११०००६

संस्करण : १९९१

मुद्रक :
अजय प्रिंटर्स,
एक्स-११, नवीन शाहदरा, दिल्ली-३२

विषय-सूची

भूमिका

भारतीय जीवन में दर्शन की अतिशय उपयोगिता सदा से रही है। मनीषिप्रवर डॉ० वासुदेवशरण के शब्दों में "भारतीय संस्कृति का इतिहास वस्तुतः भारतीय दर्शन का ही विकसित रूप है।" सांख्यदर्शन के इतिहास का विवेचन एक प्रकार से प्राचीन भारतीय दार्शनिक विचारों के सांगोपांग इतिहास से सम्बन्धित है। कपिल के मूलग्रन्थ का नाम षष्टितन्त्र था। उसी का अपर नाम सांख्यदर्शन है। कपिल के मूल ग्रन्थ पर पञ्चशिख तथा वार्षगण्य इन दो प्रमुख आचार्यों ने व्याख्याएँ लिखीं। आसुरि के शिष्य पञ्चशिख ने अपने दादागुरु कपिल के विषय में लिखा है—

आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच।

अर्थात्—आदिविद्वान् परमर्षि कपिल ने रचनानिमित्त चित्त को स्थिर कर जिज्ञासु आसुरि के लिए (षष्टि) तन्त्र का प्रवचन किया।

तत्त्वों के विषय में दार्शनिक विवेचन सबसे पहले कपिल ने प्रस्तुत किया, इसी कारण उन्हें आदिविद्वान् कहा जाता है। ग्रन्थकार ने यहाँ प्रसंगोपात्त ऋषि, महर्षि तथा परमर्षि पदों का भी विवेचन प्रस्तुत किया है। अध्यात्मविषय में साक्षात्कृत-धर्मा व्यक्ति को 'ऋषि' कहा जाता है। इसी दिशा में जो व्यक्ति अधिक उन्नत होते हैं, वे 'महर्षि' कहाते हैं। परन्तु जो अध्यात्म—अभिभूत दोनों दिशाओं में साक्षात्कृत-धर्मा होते हैं, सम्भवतः उन्हीं के लिए प्राचीन आचार्यों ने 'परमर्षि' पद का प्रयोग किया; प्राचीन वाङ्मय में कदाचित् ही कहीं अन्य ऋषि के साथ 'परम' पद जोड़ा गया हो। कपिल नाम के साथ प्रायः इस पद का प्रयोग सर्वत्र देखा जाता है। जिस एक दर्शनशास्त्र में स्थूल जगत्, उसके अनेक प्रकार के गुणात्मक व्यवहार और मनुष्यों की अध्यात्मप्रधान प्रवृत्ति इन तीनों का बुद्धिपूर्वक विवेचन और समन्वय किया गया था, वह दर्शन सांख्य में ही सबसे अधिक लोकोपकारी सिद्ध हुआ। यही सांख्य की सबसे बड़ी विशेषता थी और इसी के कारण आचार्य कपिल 'परमर्षि' कहलाए।

वैदिक संहिताओं में सांख्य शब्द साक्षात् कहीं नहीं मिलता। किन्तु सांख्य की विचारधारा का मूल ऋग्वेद के निम्न मन्त्र में विद्यमान है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥ १।१६४।२०

आज से ४० वर्ष पूर्व आचार्य उदयवीर शास्त्री की लेखनी से निःसृत 'सांख्य-दर्शन का इतिहास' दार्शनिक वाङ्मय के क्षेत्र में एक अनूठा प्रयास था। उस अन्यतम रचना ने जहाँ शास्त्रीजी को दार्शनिक जगत् में एक मूर्धन्य विद्वान् के रूप में प्रतिष्ठित किया, वहाँ सांख्यदर्शन तथा उसके प्रणेता कपिल के सम्बन्ध में फैली हुई अनेक भ्रान्तियों का निराकरण करने में अद्‌भुत सफलता पाई। 'सांख्यदर्शन का इतिहास' एक प्रकार से सांख्यशास्त्र की बहिरंग परीक्षा के रूप में लिखा गया था। उस दर्शन के वस्तुतत्त्व—उसके मूलभूत तात्त्विक विचार और दूसरे दार्शनिक विचारों के साथ उनके सामंजस्य अथवा भेद का निरूपण करते हुए कपिल के विचारों का दार्शनिक आधार इत्यादि पर विस्तृत विचार तत्पश्चात् लिखे गए 'सांख्यसिद्धान्त' में किया गया है। दार्शनिक इतिहास की दृष्टि से वह ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्रस्तुत 'प्राचीन सांख्य-सन्दर्भ' उक्त दोनों ग्रन्थों का पूरक है।

सांख्यशास्त्र के महत्त्व के कारण उसपर अनेक आचार्यों ने भाष्य लिखे। यह क्रम परमर्षि कपिल के साक्षात् शिष्य आसुरि से आरम्भ हुआ। प्राचीनों के भाष्यों से महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ लेकर परवर्ती आचार्य अपने भाष्यों में उद्धृत करते रहे। सन्दर्भ के साथ 'तथा चोक्तम्' 'तथैतदत्रोक्तम्' लिख दिया तो बहुत समझो। योगदर्शन के अपने प्रसिद्ध भाष्य में व्यासमुनि ने भी इतना ही किया। सांख्यशास्त्र की व्यापकता के कारण उसका प्रसार तो खूब हुआ, किन्तु अनुपलब्ध मूल होने से उन सन्दर्भों में निहित गूढ़ार्थ से लोग वंचित रहे। इस दुरूह कार्य को करने का बीड़ा आचार्य उदयवीर शास्त्री ने अपने ऊपर लिया। सांख्यशास्त्र में गहरी पैठ होने के कारण आचार्य जी जैसा सांख्यशास्त्र-मर्मज्ञ ही इस दुरूह कार्य को कर सकता था। अपने व्यापक अध्ययन के कारण आचार्य जी ने यत्र-तत्र बिखरे सन्दर्भों के मूल को खोज निकाला और वहाँ पर प्रसंगानुकूल विवक्षित अर्थों का निर्धारण कर एक-एक शब्द में निहितार्थ को जानकर उनकी विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की। इस प्रकार यह ग्रन्थ सांख्यशास्त्र और उसके व्याख्या-ग्रन्थों को समझने में और ऐतिहासिक दृष्टि से सांख्य-सिद्धान्त के क्रमिक विकास को जानने में परम सहायक सिद्ध होगा।

डी-१४/१६ माडल टाउन
दिल्ली

—विद्यानन्द सरस्वती

व्याख्याकार का निवेदन

कलकत्ता की सांख्य-योग-तीर्थ परीक्षा मैंने ईसवी सन् १९२६ के मार्च के प्रथम सप्ताह में देकर उत्तीर्ण की।

पाठ्य-ग्रन्थों के अध्ययन के समय सांख्य-ग्रन्थों के पढ़ने का समय मुझे गुरुजी के पास नहीं मिल सका। उन सब ग्रन्थों का अध्ययन स्वयं करना पड़ा। सांख्य-सिद्धान्तों को ठीक समझ सकूँ, इसके लिए सांख्य-विषयक किसी का भी कोई लेख मिला उनको बराबर पढ़ता रहा।

इस प्रकार अध्ययनकाल में दो विशेष बातें मेरे सामने आईं। पहली—देशी-विदेशी विद्वानों का यह विचार कि षडध्यायी सांख्यदर्शन कपिल की रचना नहीं है। इसे सोलहवीं शताब्दी के बाद किसी पण्डित ने लिखकर कपिल के नाम पर आरोपित कर दिया। दूसरी बात यह सामने आई कि पातञ्जल योगदर्शन के व्यास-भाष्य में उद्धृत प्राचीन सन्दर्भों को, भाष्यकार श्री वाचस्पति-कृत टीका-तत्त्ववैशारदी में पञ्चशिख के सन्दर्भ बताया है।

तब संकल्प किया कि आधुनिक देशी-विदेशी विद्वानों के सांख्यदर्शन-विषयक विचारों का ऊहापोह तथा साधक-बाधक प्रमाणपूर्वक विवेचन कर सांख्यदर्शन का इतिहास लिखा जाना चाहिए, जिससे कपिल की वास्तविक रचना का यथार्थ ज्ञान हो सके। दूसरा संकल्प था प्राचीन सांख्याचार्यों के उद्धृत सन्दर्भों का संकलन होना चाहिए। उनसे सांख्य-सिद्धान्तों के समझने में विशेष सहयोग प्राप्त हो सकता है। इसके परिणामस्वरूप सांख्यदर्शन का इतिहास लिखा गया और उसके अन्तिम आठवें अध्याय में उपलब्ध सन्दर्भों का संग्रह कर दिया गया।

'सांख्य दर्शन का इतिहास' नामक रचना के अन्तिम आठवें अध्याय में प्राचीन ४५ सांख्याचार्यों का यथोपलब्ध इतिवृत्त दे दिया गया है। परन्तु सांख्य-संदर्भ केवल निम्नलिखित ग्यारह आचार्यों के संग्रह किये गये जिनकी उपयुक्त व अपेक्षित व्याख्या इस रचना में प्रस्तुत है।

आचार्य हैं—

१. आसुरि; २. पञ्चशिख; ३. सनन्दन; ४. जैगीषव्य; ५. देवल; ६. हारीत सांख्याचार्य; ७. वार्षगण्य; ८. पतञ्जलि; ९. पौरिक; १०. पंचाधिकरण; ११. रुद्रिल विन्ध्यवासी।

प्रस्तुत रचना में आचार्य नाम के पहले दिया गया अंक इतिहास में दिये गये नाम-क्रमानुसार है तथा नाम के अन्त में दिया गया अंक वर्तमान रचना में दिये नामक्रम के अनुसार है।

सांख्य-इतिहास में जिन सांख्याचार्यों का उल्लेख हुआ है और इस रचना में सांख्याचार्यों के जितने उद्धरणों की व्याख्या प्रस्तुत की गई है, ये दोनों चीज़ें (आचार्यों के नाम और संदर्भ) उतनी ही नहीं हैं, जितने का उल्लेख हुआ है। सांख्याचार्य अन्य भी हो सकते हैं और अन्य तथा इन आचार्यों के उद्धरण भी अनेक हो सकते हैं जिनका उल्लेख यहाँ नहीं हुआ। यह केवल इसलिए लिख रहा हूँ कि इस दिशा में आगे भी कार्य किए जाने का पूरा अवकाश है। जितना मुझसे हो सका, उसको प्रस्तुत कर दिया गया है।

संगृहीत संदर्भों की व्याख्या जब कभी समय मिलता तब थोड़ी-थोड़ी करता रहता था। एक बार ऐसे ही अवसर पर स्वामी गिरानन्द जी गाजियाबाद पधारे। मैंने उनसे इसकी चर्चा की तथा कुछ अंश सुनाये। उन्होंने इस कार्य को उपयोगी बताया। कुछ दिनों के बाद अनूपशहर से कुछ राशि भेजी और लिखा कि आप इसे स्वीकार कर लें। पाँच-छह महीनों के बाद स्वामी जी पुनः गाजियाबाद पधारे। उन्होंने संदर्भों की व्याख्या के विषय में जानना चाहा कि यह कार्य कितना हो चुका है। उनको वह सब बता दिया जो कार्य हो गया था; पर अभी तक यह बहुत थोड़ा हुआ था। तब उन्होंने आग्रह किया कि इसको उपयुक्त समय देकर जितना हो सके, पूरा किया जाना चाहिये और इसके लिए उन्होंने तभी एक सहस्र रुपये की राशि मुझे दी। कार्यान्तरों में व्यासक्त रहने के कारण इस व्याख्या के लिए फिर भी अधिक समय न दिया जा सका और गाजियाबाद-निवास छूट गया। अनन्तर अजमेर आकर उस कार्य को पूरा कर दिया है। इस बीच में स्वामी जी अनेक बार राशि भेजते रहे हैं।

गाजियाबाद रहते हुए स्वामी जी से मैंने निवेदन किया था कि यदि आप अपना संक्षिप्त जीवन-परिचय भेज सकें और इस रचना की भूमिका में उसको प्रकाशित करने की अनुमति दे दें तो मुझे प्रसन्नता होगी। उन्होंने मेरे निवेदन को स्वीकार कर अनूपशहर-निवासी पं० रामदत्त शास्त्री के द्वारा अपना परिचय लिखवाकर कृपापूर्वक भेजा है। पाठक उसे उन्हीं शब्दों में स्वयं पढ़ लें—

Scanned with CamScanner

ओ३म्

पक्की सराय—अनूपशहर
३-६-८५

श्रीयुत सम्मान्य शास्त्री जी !

सादर प्रणामांजलि

आशा है आप स्वस्थ होंगे। मुझे नेत्रों से बहुत कम दीख रहा है, फिर भी आपकी आज्ञा का पालन यथामति पूर्ण कर प्रेषित कर रहा हूँ। जैसा उचित समझें परिवर्तन कर लीजिए।

आपका अपना ही
रामदत्त शास्त्री

श्री स्वामी गिरानन्द सरस्वती महाराज

कानपुर मण्डलान्तर्गत तहसील घाटमपुर में स्थित ग्राम छतुरुवा (पो० बरई) के निवासी श्री चौधरी भीष्मसिंह जी यादव के सुपुत्र श्री चौ० देवीसिंह जी यादव के आत्मज—श्री स्वामी गिरानन्द जी सरस्वती बाल्यकाल से ही साधु-सन्तों के सतत संसर्ग में रहे हैं। स्वामीजी के पूज्य पितामह श्री चौ० भीष्मसिंह जी यादव भारतीय सेना में उच्च पदासीन होते हुए देश-हित में आत्म-बलिदानी हो गये थे। स्वामी जी के पूज्य पितृदेव श्री चौ० देवीसिंह जी यादव अपने समय के प्रसिद्ध भूमिधर थे। स्वामी जी का बचपन का नाम रघुवर था। लोग उन्हें रघुवर और कभी रघुवीरदास के नाम से पुकारते थे। बचपन में ही जननी-वियोग से संतप्त बालक रघुवर के मानस पर प्रबल आघात पहुँचा। माता जी सन् १९०० ई० की महामारी (गिल्टी की बीमारी) में कालकवलित हो गईं। अब पिता पर ही बालकों के पालन-पोषण का भार आ पड़ा। मातृ-निधन से हृदय अत्यन्त डावाँडोल हो गया। इस मातृहीन विक्षुब्ध स्थिति में बालक रघुवर घर पर अधिक काल तक न रुक सका; मन में विरक्ति होने लगी। इसी बीच बनारस के एक विद्वान् साधु किसी काछी से कह रहे थे कि 'बाबा नारद गुरुविहीन थे और गुरुविहीन की सुगति नहीं होती।' मातृवियुक्त बालक के मन पर नारद बाबा की इस घटना का गहरा प्रभाव पड़ा, और मन में गुरु बनाने की प्रेरणा जागृत हुई। इस स्थिति में अयोध्यास्थित—गुप्तारघाट यज्ञशाला के श्री स्वामी जानकीदासजी महाराज को, जिन्होंने सवा सहस्र मन घृत और सामग्री का एक विशाल वृहद् यज्ञ सम्पन्न किया था—अपना गुरु बना लिया। गुरु जी ने बालक रघुवर को दीक्षा के साथ राम-नाम जपने का भी उपदेश दिया। बालक निर्मल मन से चिरकाल तक गुरूपदेशानुसार राम नाम के जप में लीन हो गया। घण्टों तक ध्यान में बैठा रहने के कारण

लोग बालक को 'ध्यानी' नाम से पुकारने लगे। अयोध्या से गुरु जी के आदेशानुसार बालक चित्रकूट चला गया और वहाँ बहुत समय तक रामनाम-जप-निरत रहा। चित्रकूट में मन्दाकिनी-तट-स्थित 'जानकी कुण्ड' पर निवास करता हुआ सतत जप-निरत रहा। गुरुदेव के निधन-समाचार को सुनकर बालक पुनः अयोध्या वापस आया। गुरु-शरीरान्तोपरान्त वहाँ पुनः मन न रम पाया, पुनः गंगोत्तरी से हरिद्वार होते हुए गंगातट पर बलिया तक पदयात्रा करता रहा। तत्पश्चात् तिब्बत, नेपाल, मान्धाता पर्वत, मानसरोवर आदि की भी पैदल यात्रा की। लगभग ३०-३२ वर्ष की उम्र में गंगातटस्थित अनूपशहर में निवास किया। तब से अनूपशहर में ही चिरनिवास बना रहा। मध्य-मध्य में यहीं से अन्यत्र जाना-आना होता रहा।

अनूपशहर में रहते कतिपय विचारशील आर्यसमाजी विद्वानों के संसर्ग में आये। शनैः-शनैः विचारधारा में परिवर्तन आया और संस्कृताध्ययन-रुचि के साथ भगवद्गीता, उपनिषद्, महाभारत, दर्शन, वेद, आदि के स्वाध्याय में संरत रहने लगे और पुनः आर्यसमाज के वैदिक मनीषी एवं मूर्धन्य विद्वान् श्री स्वामी वेदानन्द तीर्थ जी महाराज से यथाविधि संन्यास की दीक्षा ले ली और रघुवीरदास से— स्वामी गिरानन्द सरस्वती बन गये। स्वामी वेदानन्द जी महाराज के निधन के उपरान्त वेद, उपनिषद्, दर्शन साहित्य, इतिहास आदि के प्रकाण्ड पण्डित, समस्त दर्शनों के विचारशील व्याख्याकार विद्वद्वरेण्य श्री पं० उदयवीर जी शास्त्री दर्शनाचार्य के सान्निध्य से सदा लाभान्वित होते रहे हैं। आर्यसमाज के गोहत्या-आन्दोलन-प्रसंग में सक्रिय सहयोग देते हुए तीन बार दिल्लीस्थित तिहाड़ जेल की यातनाएँ भी भोगी हैं। हिन्दी-आन्दोलन-प्रसंग में भी पं० प्रकाशवीर शास्त्री के साथ पूर्ण सहयोगी रहे। आर्यसमाज के प्रचार-कार्य में सर्वदा सन्नद्ध रहे हैं। अभी भी जिज्ञासावृत्ति परिवर्धमान है। प्रत्येक पदार्थ को सदसद् रूप से जानने की लालसा विद्यमान है। प्रभु-भक्ति में लीन रहते हैं; निशा के ढाई बजे से प्रबुद्ध होकर ईश-भक्ति में मग्न रहना जीवन का शाश्वत कार्यक्रम है।

श्री मनीराम बाबा, जो बुलन्दशहर जिले के निकटवर्ती तीन-चार जिलों में अच्छे सन्त माने जाते रहे हैं—को भी प्रथम श्री स्वामी गिरानन्द सरस्वती जी ही फर्रुखाबाद जिले के जलालाबाद से अपने साथ अनूपशहर लाये थे। फर्रुखाबाद जिले में स्वामी जी कई बार विचरण करने चले जाते थे। उनके जीवन से प्रभावित होकर तथा पत्नी-वियोग से गृहस्थ-जाल से विरत होकर मनीराम जी के सततानुरोध पर उन्हें अपने साथ अनूपशहर ले आये थे। स्वामी जी के साथ कई वर्ष तक मनीराम जी रहे और तपस्वी-भाव के साथ जीवन का पथ प्रशस्त करते रहे। मनीराम बाबा का संन्यास आश्रम का नाम 'विवेकाश्रम' था, तथापि वे मनीराम बाबा के नाम से ही अधिक प्रसिद्ध रहे हैं। बाबा के देहावसान के उपरान्त

उनके सहोदर ज्येष्ठ बन्धु श्री पं० रामभरोसे मिश्र ने भी श्री स्वामी गिरानन्द-जी महाराज से स्वसान्निध्य में रखने के लिए सानुरोध प्रार्थना की थी, किन्तु कालगति बलवान् है और दैवदुर्विपाकात् मिश्र जी का शरीरान्त हो गया और मनोभावना पूर्ण न हो सकी।

स्वामी गिरानन्द सरस्वती महाराज सदा परोपकारवृत्ति-परायण, संयम-धनी, ईशभक्त, स्वाध्यायशील, सत्सङ्गी परिव्राजक रहे हैं।

मेरे निवेदन पर श्री स्वामी विद्यानन्द जी सरस्वती ने इस ग्रन्थ की भूमिका लिखना स्वीकार कर लिया है, यह मेरे लिए हर्ष की बात है।

इस ग्रन्थ के सम्पादन का कार्यभार भी उन्होंने वहन करना मान लिया है जिससे यह ग्रन्थ शुद्ध व आकर्षक रूप में छप सकेगा। अजमेर बैठकर लिख रहा हूँ। ग्रन्थ का मुद्रण व प्रकाशन दिल्ली में होना है; वह कार्य स्वयं मेरे द्वारा होना सम्भव न था। श्री स्वामी जी के इस आत्मीयतापूर्ण सहयोग के लिए हृदय से आभारी हूँ।

८७ A, मधुबन कॉलोनी
नाका मदार, अजमेर (राजस्थान)
पिन—३०५००१

उदयवीर शास्त्री
श्रावण अमावास्या, मंगलवार
सं० २०४६, एवं १ अगस्त, १९८९

आसुरि–१

आसुरि का इतिवृत्त-सम्बन्धी विवरण 'सांख्यदर्शन का इतिहास' नामक हमारी रचना में देखना चाहिए। यहाँ केवल उसके सांख्य-सम्बन्धी विचारों को प्रस्तुत करना अभीष्ट है। आसुरि-रचित कोई ग्रन्थ अभी तक प्रकाश में नहीं आया। उसके नाम से अनेक[1] ग्रन्थों में उद्धृत केवल एक श्लोक उपलब्ध होता है। उसी के आधार पर आसुरि के सांख्य-सम्बन्धी कतिपय विचार प्रकाश में आते हैं, जो अत्यल्प हैं। श्लोक इस प्रकार है—

विविक्ते दृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते।
प्रतिबिम्बोदयः स्वच्छे यथा चन्द्रमसोऽम्भसि॥

विविक्ते स्वरूपेण विशुद्धचित्यात्मके सत्येव पुरुषे, अस्य पुरुषस्य भोगः बाह्यांतर विषयात्मिकाऽनुभूतिः, बुद्धौ दृक्परिणतौ सत्यां दृशि द्रष्टरि चेतनात्मके पुरुषे या बुद्धेः परिणतिः सर्मपितिः तस्यां सत्ये विद्यमानायां कथ्यते व्यवह्रियते।

अपने अविवेक के कारण प्रकृति के सम्पर्क में आया पुरुष जो बाह्य अथवा आभ्यन्तर विषय-जनित सुख-दुःख आदि से अभिभूत हुआ देखा जाता है, उसका स्वरूप क्या है? यही बात उक्त श्लोक में बताई गई है।

श्लोक का प्रथम पद है—'विविक्ते'। यह सप्तमी विभक्ति का एकवचनान्त पद श्लोक में अपठित 'पुरुष' पद का विशेषण है। तात्पर्य है, प्रकृति के सम्पर्क में आया भी पुरुष अपने विशुद्ध चेतन स्वरूप में तब भी प्रतिष्ठित रहता है। जड़ प्रकृति-सम्पर्क से उसके चैतन्य रूप में कोई शैथिल्य—जड़ता का अंश नहीं आता। पुरुष के साथ प्रकृति-सम्पर्क का प्रयोजन पुरुष के भोग और अपवर्ग को सिद्ध करना है। पुरुष की अविवेक दशा में प्रकृति-संपर्क उसके भोग का सम्पादन करता है। शम, दम, तितिक्षा, वैराग्य आदि के प्राबल्य से विवेक हो जाने पर अपवर्ग को सिद्ध करता है। अविवेक-दशा में भी पुरुष का शुद्ध चैतन्य रूप निष्कलंक, असंग, जड़ अंश से नितांत निर्लिप्त बना रहता है, यही तात्पर्य श्लोक के प्रथम पद का है।

बाह्य-आन्तर करणों (इन्द्रिय आदि) का यह सब खेल—विषयों में उछल-कूद, चेतन आत्मा के सहयोग—आत्मा का इनके साथ अहं-भावनाओं में डूबा सम्पर्क—

१. 'तथा चासुरिः' कहकर मल्लिषेण सूरि विरचित 'स्याद्वाद मञ्जरी' के श्लोक १५ पर हेमचन्द्र सूरि विरचित 'अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकास्तवन' नामक टीका में उद्धृत है।

Scanned with CamScanner

पर ही—खेला जाया करता है। यदि चेतन का अहंयुक्त सम्पर्क इनके साथ न रहे, तो ये करण—इन्द्रिय आदि जड़ तत्त्व किसी भी क्रिया के करने में असमर्थ रहते हैं। यही मूलभूत छोटा-सा सिद्धान्त समस्त विश्व पर लागू होता है। यह विश्व स्वरूप से जड़ होता हुआ भी निरन्तर प्रतिक्षण चालू है, गतिशील है, जगत्—अखिल ब्रह्माण्ड में कोई तत्त्व स्थिर नहीं; प्रत्येक पृथिवी, सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारा आदि निरन्तर गतिशील हैं, यह चेतन का चमत्कार है। उस चेतन सर्वान्तिर्यामी परमात्म ब्रह्मतत्त्व ने स्वयं निष्क्रिय होते हुए भी इसे निरन्तर सक्रिय बनाया हुआ है। उस विश्व-देह का ही यह अति-अल्प प्रतीक प्राणि-देह है। इस देह में भी विराजमान यह चेतन-तत्त्व अपने चैतन्य के कारण उसी सीमा में इसे सक्रिय बनाता है। विश्व की सर्वव्यापी सक्रियता से—यह दैहिक सक्रियता अपनी सीमा में संकुचित रहते हुए कुछ भेद रखती है। देह की अपनी संकुचित सीमित सक्रियता समाप्त होने पर भी वह सर्वव्यापी सक्रियता निरंकुश चला करती है। मृत देह, शव उसी सक्रियता के कारण प्रतिक्षण परिणामान्तर को प्राप्त होता रहता है।

इसी परिप्रेक्ष्य में देखना है कि अहंभावना के साथ देह में बैठा जीवात्म-पुरुष अपने साधनों के द्वारा किस प्रकार भोग को सिद्ध किया करता है। सांख्य-प्रक्रिया में व्यवहृत पदों के द्वारा उसे निम्न प्रकार प्रस्तुत किया जाता है—बाह्य विषय रूप-रस आदि अपने निर्धारित इन्द्रिय में प्रतिबिम्बित होता है, उस प्रतिबिम्बित इंद्रिय द्वारा वह विषय आन्तर इन्द्रिय मन में प्रतिबिम्बित होता है। मन के द्वारा वह विषय बुद्धि नामक करण में प्रतिबिम्बित होता है। वह विषय-प्रतिबिम्बित बुद्धि चेतन पुरुष में प्रतिबिम्बित होती है, तब बाह्य विषय की अनुभूति पुरुष को होती है। यह विशिष्ट पद का प्रयोग अपने में कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता; वस्तुतत्त्व के उद्घाटन मात्र में इसका उपयोग है।

प्रतिबिम्बित बुद्धि

बाह्य विषय की पुरुष को होनेवाली अनुभूति में ये सब इन्द्रिय, मन, बुद्धि साधनमात्र हैं। पुरुष को जो अनुभूति, उपलब्धि या बाह्य आदि विषय का ज्ञान होता है, उस विषय की छाया, प्रतिबिम्ब या अमूर्त्त अस्तित्व को बाहर से भीतर आत्मा तक पहुँचाने के लिए भारवाही पशु आदि साधन के समान ये (इन्द्रिय आदि) केवल साधन हैं। इस कार्य को सम्पादन करने के लिए इन इन्द्रिय आदि करणों, साधनों का फंक्शन हरकत, सक्रियता, चेष्टा आदि—जो कुछ कहा जाय—है, उसको दार्शनिक क्षेत्र में 'वृत्ति' कहा जाता है। इसी के लिए अन्य पद 'व्यापार' का प्रयोग होता है। इससे स्पष्ट हुआ—बाह्य विषय का इन्द्रिय द्वारा बुद्धि तक पहुँचने का जो कार्यक्रम है, वह दार्शनिक सीमा में 'करण व्यापार' अथवा 'करणवृत्ति' के नाम से

जाना जाता है। इस व्यापार का अन्तिम केन्द्र बुद्धि है। यह व्यापार की स्थिति जैसे ही बुद्धि में उभरती हैं, तत्काल वह इसे पुरुष में अर्पित करती है। बाह्य-विषयक यह करणव्यापार पुरुष में पहुँचकर बाह्य-विषयक ज्ञान, उपलब्धि अथवा बोध, अनुभूति के रूप में जाग उठता है। ऐसी स्थिति केवल चेतन तत्त्व में सम्भव है। इसी को बुद्धि का चेतन पुरुष में प्रतिबिम्बित होना कहा जाता है। यही पुरुष का भोग है; अर्थात् पुरुष को सुख-दुःख आदि की अनुभूति का यही स्वरूप है। इसी को श्लोक के पूर्वार्द्ध में कहा गया है—

दृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते।

दृक्—द्रष्टा चेतन पुरुष में परिणत-सर्मपित-प्रतिविम्बित हुई बुद्धि की अवस्था में—उसी स्थिति को—इसका भोग कहा जाता है।

श्लोक के पूर्वार्द्ध का यह तात्पर्य उस उदाहरण के आधार पर स्पष्ट होता है, जो यथार्थ को समझाने के लिए श्लोक के उत्तरार्द्ध में दिया गया है—

प्रतिबिम्बोदयः स्वच्छे यथा चन्द्रमसोऽम्भसि।

यथा स्वच्छे निर्मले अम्भसि सलिले चन्द्रमसः सोमस्य प्रतिबिम्बोदयः छाया-प्रकाशः—जैसे स्वच्छ निर्मल जल में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब प्रकट होता है, ऐसे ही शुद्ध चेतन द्रष्टा पुरुष में बुद्धि का प्रतिबिम्ब समझना चाहिए।

चन्द्रमा अपनी जगह अवस्थित रहता है, जल अपनी जगह; पर जल के सामने जब चन्द्रमा पड़ता है, जो उसकी छाया जल में भासित होती है। चन्द्र की अपनी विशेषता—वर्तुलाकारता, कलंक आदि सब जलगत छाया में भासित होते हैं, परन्तु जल उनसे स्वरूप में दूषित नहीं होता; अर्थात् जल उन विशेषताओं से अप्रभावित रहता है। जल में प्रतिबिम्ब क्यों पड़ता है? क्योंकि वह स्वभावतः स्वच्छ निर्मल है। इसी प्रकार बुद्धि का प्रतिबिम्ब पुरुष में क्यों पड़ता है? क्योंकि वह स्वभावतः शुद्ध चेतन है। बुद्धिगत व्यापार व बुद्धि के जड़ता आदि दोष पुरुष को दूषित नहीं करते। व्यापार आदि बुद्धि तक सीमित हैं, केवल व्यापार पुरुष तक पहुँचने पर अनुभूति के रूप में उभर आता है; व्यापारता या वृत्तिता का अस्तित्व करण तक सीमित रहता है; क्योंकि यह व्यापार पुरुष के लिए किया जाता है, अतः उसके लिए कार्य करनेवाले साधनों तक ही वह सीमित रह सकता है। अपने शुद्ध चेतन स्वरूप के कारण करणवृत्ति के सामने आने पर तद्गत बाह्य-विषय के छाया-रूप से उसके अस्तित्व को ग्रहण कर लेता है। इसी का नाम अनुभूति, उपलब्धि या पुरुष का भोग है।

भोग-विषयक अन्य विचार

कतिपय आचार्यों का ऐसा विचार रहा है कि ज्ञान, इच्छा, द्वेष आदि बुद्धि-

गत धर्म हैं। यदि पुरुष में इनको माना जाए, तो पुरुष इनसे दूषित हो जाने पर अपने शुद्ध स्वरूप से च्युत हो जाएगा।

परन्तु यह विचार वास्तविक स्थिति के अनुरूप नहीं है। सोचना चाहिए—सुख, दुःख, राग, द्वेष, ज्ञान आदि क्या हैं? अनुकूल अनुभूति का नाम सुख, प्रतिकूल अनुभूति का नाम दुःख, इच्छानुकूल विषय में आसक्ति की अनुभूति राग, इससे विपरीत अनुभूति का नाम द्वेष, ज्ञान तो स्वयं अनुभूति-रूप है। अनुभूति चेतन आत्मा का अपना स्वरूप है, तब इससे चेतन आत्मा में किसी दोष की उद्भावना समझना नितान्त निराधार है। ऐसी अनुभूति का होना तो पुरुष के शुद्ध चेतन-स्वरूप का द्योतक है। आत्मा से अन्यत्र अनुभूति का होना सम्भव नहीं। अनुभूति चेतन का स्वरूप है। आत्मा चेतन तत्त्व है। अतः जड़रूप बुद्धि-तत्त्व के धर्म इच्छा, द्वेष, राग, ज्ञान आदि हों, ऐसा सम्भव नहीं। आत्मा के इच्छा आदि के उद्भावन में बुद्धि एवं अन्य समस्त करण केवल साधन हैं। इसी आधार पर पुरुष के भोग की सिद्धि के लिए प्रकृति का उपयोग माना गया है। बुद्धि आदि सब पदार्थ प्राकृत हैं; इसी रूप में प्रकृति पुरुष के भोग को सिद्ध करती है।

ज्ञान, इच्छा, द्वेष आदि को बुद्धि का धर्म बतानेवाले आचार्यों के सम्मुख जब यह प्रश्न आता है कि जड़ बुद्धि को ज्ञान, इच्छा आदि का होना कैसे सम्भव होगा, तो उनका उत्तर होता है—चेतन आत्मा अपने सान्निध्य से जड़ बुद्धि को चेतन-जैसा बना देता है। सोचना चाहिए, क्या चेतन के सान्निध्यमात्र से कोई जड़ वस्तु चेतन बन सकती है? यह कथन केवल अपना मन बहलाने-जैसी बात है। कोई वस्तु किसी विजातीय वस्तु के सान्निध्यमात्र से अपने यथाभूत स्वरूप का परित्याग नहीं कर सकती। फिर इस कथन में कि जड़ बुद्धि चेतन-जैसी हो जाती है—बुद्धि की जड़ता को स्वीकार ही कर लिया जाता है। तब एक ही वस्तु में जड़ता और चेतनता दोनों का होना असम्भव है।

इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है यदि ज्ञान, इच्छा, द्वेष आदि बुद्धिगत धर्म हैं, उनका अनुभव ही भोग का स्वरूप है, और वह बुद्धि को होता है, बुद्धि के जड़ होने से उसमें अनुभव-सामर्थ्य उभारने के लिए चेतन पुरुष का उपयोग किया जाता है—चेतन के सान्निध्य से बुद्धितत्त्व चेतन-जैसा बनकर ज्ञान, इच्छा, सुख, दुःख आदि का ग्रहण किया करता है, तो यह वस्तुस्थिति का शीर्षासन कर देने के समान है। यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि प्रकृति की प्रवृत्ति, पुरुष के भोग-अपवर्ग की सिद्धि के लिए हुआ करती है; परन्तु उक्त कथन इसके विपरीत अर्थ को उपपादन करता दिखाई दे रहा है, जहाँ बुद्धि के द्वारा सुख-दुःख आदि को ग्रहण करने के योग्य उसमें सामर्थ्य जागृत करने के लिए पुरुष का उपयोग माना गया। तात्पर्य हुआ—बुद्धि द्वारा सुःख-दुःख आदि ग्रहण किए जाने में पुरुष सहयोग देता है, तब पुरुष साधन-कोटि में आ जाता है, यही वस्तुतत्त्व का शीर्षासन है।

Scanned with CamScanner

वस्तुतः पुरुष को सुख-दुःख आदि के ग्रहण अथवा अनुभूतिरूप भोग के सम्पादन-कार्य में बुद्धि आदि करण केवल साधनरूप से व्यापृत रहते हैं। इसी को करणों अथवा इन्द्रियों का व्यापार व वृत्ति (वर्तना) कहा जाता है। उक्त मान्यता विंध्यवासी आदि आचार्यों ने अभिव्यक्त की है; उस प्रसंग में इसका विस्तृत विवेचन किया जाएगा। इस विषय में मूल सांख्याचार्यों की मुख्य मान्यता वही है, जिसका श्लोक-व्याख्या के अवसर पर गत पंक्तियों में उपपादन कर दिया गया है।

नित्य, नैमित्तिक ज्ञान—ज्ञान, बोध, चेतना, प्रत्यय आदि पदों से जो अर्थ बोधित होता है, वह दो प्रकार का है—नित्य और नैमित्तिक। नैमित्तिक ज्ञान, नित्यज्ञान को ही हो सकता है, अन्य चेतनाहीन या अचेतन को नहीं। छात्रों के सन्मुख प्राध्यापक अपेक्षित वाणी द्वारा ज्ञान बखेरता है। वहाँ मेज-कुरसी-दीवार आदि सब हैं; पर प्राध्यापक द्वारा बखेरे ज्ञान को केवल छात्र समेटते हैं, कुरसी-दीवार आदि नहीं। परिणाम निकला, नैमित्तिक ज्ञान को बखेरनेवाला और समेटनेवाला दोनों नित्य ज्ञान=चिन्मय तत्त्व हैं। प्रश्न हो सकता है, वाणी द्वारा बखेरे ज्ञान को समेटने के लिए दीवार आदि के पास श्रोत्र नहीं हैं, अन्यथा वहाँ भी ज्ञान समेटा जाता। उत्तर है, श्रोत्र के पास अपना अन्य श्रोत्र सुनने के लिए साधन-रूप कहाँ है? तात्पर्य है—साधन-मात्र श्रोत्र को आप साधक न बनाएँ। श्रोत्र केवल ध्वनि का आदान करता है, अर्थबोध नहीं करता। जिज्ञासा हो सकती है, श्रोत्र द्वारा शब्द सुना जाकर बुद्धि को अर्थ का ज्ञान या बोध हो जायगा। समाधान है—बुद्धि भी श्रोत्र के समान केवल साधन है, साधक नहीं। स्थूल रूप से कहा जा सकता है—जड़तत्त्व केवल साधन होगा, साधक नहीं। साधक केवल चेतन तत्त्व हो सकता है। फलतः नैमित्तिक ज्ञान का आदान-प्रदान केवल नित्य ज्ञान में सम्भव है। नित्य ज्ञान चेतन-आत्मतत्त्व है। अतः बुद्धि आदि जड़तत्त्व में ज्ञान=सुख-दुःखानुभूति का होना सम्भव नहीं। नैमित्तिक ज्ञान का आदान-प्रदान श्रोत्र व वाणी द्वारा होता है। इस समस्त व्यापार की सफलता तभी है, जब अन्तरालवर्त्ती वागुच्चरित ध्वनि-समुदाय का सार्थक ज्ञान श्रोता को हो। यदि ऐसा नहीं है, तो प्रवक्ता के द्वारा बखेरे ज्ञान को चेतन साधक श्रोता भी समेट नहीं पाएगा। ध्वनिमात्र-श्रवण अवश्य होगा, अर्थबोध नितान्त भी न होगा। इससे स्पष्ट होता है, वाक्-श्रोत्र-बुद्धि आदि सब उस नैमित्तिक ज्ञान के आदान के लिए साधनमात्र हैं। आदाता, साधक केवल चेतन-आत्मतत्त्व रहता है, इसलिए जड़बुद्धि में ज्ञान—सुखादि अनुभूति—का मानना प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। उक्त मान्यता वस्तुतत्त्व का उपहासमात्र है। चेतन आत्मा को सुख-दुःख होना क्यों नहीं माना जाता? इसका कोई समाधान उपलब्ध नहीं है। आचार्यों ने जहाँ कहीं सुख-दुःख आदि को करण-धर्म कहा है, वह केवल सुखादि के प्रति करणों की साधनता के आधार पर है, साधकता के नहीं। साधकता के आधार पर आचार्यों के कथन को मानना उनके साथ अन्याय होगा।

पञ्चशिख–२

आचार्य पञ्चशिख के कतिपय सन्दर्भ भारतीय प्राचीन वाङ्मय के अनेक ग्रन्थों में यत्र-तत्र उद्धृत हुए उपलब्ध होते हैं। कतिपय सन्दर्भों का संकलन 'सांख्य दर्शन का इतिहास' नामक रचना के अष्टम अध्याय के पञ्चशिख-प्रकरण में किया है। ऐसे सन्दर्भों की संख्या ३६ है। सम्भव है, भारतीय प्राचीन महान् अतिविस्तृत वाङ्मय में अन्य कोई सन्दर्भ अन्वेषक की प्रतीक्षा में छिपे पड़े हों। यथोपलब्ध सन्दर्भों का अर्थानुसार क्रम देने का प्रयास किया गया है। उसी के अनुसार सन्दर्भों की व्याख्या प्रस्तुत है—

आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच ॥ १ ॥

आदिविद्वान् परमर्षिः निर्माणचित्तम् अधिष्ठाय जिज्ञासमानाय आसुरये तन्त्रं प्रोवाच।

आर्यविद्वान् परमर्षि कपिल ने रचनानिमित्त चित्त को स्थिर कर जिज्ञासु आसुरि के लिये तन्त्र का प्रवचन किया।

आदिविद्वान्—कपिल को आदिविद्वान् कहा जाता है। तत्त्वों के विषय में दार्शनिक विवेचन सबसे प्रथम कपिल ने प्रस्तुत किया। दर्शनशास्त्र अध्यात्म और अधिभूत तत्त्वों को प्रमाण आदि साधनों के आधार पर नाप-तोल व जाँच-पड़ताल कर प्रस्तुत करता है। अन्यत्र ये विषय नाममात्र लेकर भले ही कथन किये जायें, पर इनकी जाँच-पड़ताल की पद्धति दर्शनशास्त्र का रूप है। इस दिशा में सर्वप्रथम कार्य कपिल ने किया, इसी कारण वह आदिविद्वान् माना जाता है।

परमर्षिः—अध्यात्म विषय में साक्षात्कृतधर्मा व्यक्ति को ऋषि कहा जाता है। इसी दिशा में जो व्यक्ति अधिक उन्नत होते हैं, वे महर्षि कहाते हैं, परन्तु जो अध्यात्म-अधिभूत दोनों दिशाओं में साक्षात्कृतधर्मा होते हैं, सम्भवतः उनके लिए प्राचीन आचार्यों ने 'परमर्षि' पद का प्रयोग किया। प्राचीन वाङ्मय में कदाचित् ही कहीं अन्य ऋषि के साथ 'परम' पद का प्रयोग हुआ हो; कपिल नाम के साथ प्रायः इस पद का प्रयोग सर्वत्र देखा आता है।

निर्माणचित्तम्-अधिष्ठाय—शब्दार्थ है—निर्माणचित्त पर अधिष्ठित होकर, रचना के लिये चित्त पर क़ाबू पाकर, रचना के अनुकूल अपने चित्त को व्यवस्थित कर। आजकल ऐसी भावना को अभिव्यक्त करने के लिए इंग्लिश भाषा के 'मूड'

Scanned with CamScanner

(Mood) पद का प्रायः प्रयोग किया जाता है। इसका अर्थ है—Temper of mind, जिसको संस्कृत में भाव, भावना, चित्तवृत्ति, मनोभाव आदि पदों से कहा जाता है। सूत्र में 'चित्त' पद इसी अर्थ को अभिव्यक्त करता है। तात्पर्य है—रचना की भावना से प्रेरित होकर।

जिज्ञासमानाय आसुरये—जिज्ञासु आसुरि के लिए; जिज्ञासा रखनेवाले, जिज्ञासा करनेवाले आसुरि नामक शिष्य के लिये।

तन्त्रम् प्रोवाच—तन्त्र को कहा, तन्त्र का प्रवचन किया। सूत्र के 'निर्माण-चित्तम्' पद में जो 'निर्माण' पद का प्रयोग हुआ है, उसपर यह आशंका स्वभावतः उभरती है कि कपिल किसका निर्माण करने लगा था, जिसके लिए उसने अपने चित्त—अपने मनोभाव—को व्यवस्थित किया? अन्य कार्यों से चित्तवृत्ति को हटाकर उस रचना के लिए प्रवृत्त हुआ? इस आशंका का समाधान 'तन्त्रम्' पद से किया गया है। कपिल-रचित शास्त्र के लिए प्राचीन वाङ्मय में दो पदों का प्रयोग देखा जाता है—'षष्टितन्त्र' और 'सांख्य'। द्वितीय पद को अधिक स्पष्ट करने के लिए उसके साथ 'दर्शन' पद का प्रयोग भी कर दिया जाता है। सूत्र में 'तन्त्र' पद 'षष्टितन्त्र' का—अर्द्धनाम से पूरे नाम का कथन माने जाने के अनुसार—बोधक है। जैसे—'देवदत्तो दत्तः, सत्यभामा भामा' आदि व्याकरण-महाभाष्यगत कथन के अनुसार स्वीकार किया जाता है। 'तन्त्र' पद अपने वाच्य 'शास्त्र' अर्थ के आधार पर 'सांख्य दर्शन' नाम का भी उपलक्षण है। तात्पर्य है—रचना के लिए प्रयुक्त एक नाम-पद से दोनों नामों का बोध हो जाता है।

कतिपय आधुनिक विद्वान् सूत्र के 'प्रोवाच' क्रियापद के आधार पर ऐसी कल्पना करते हैं कि कपिल ने केवल प्रवचन किया, शिष्य को मौखिक उपदेश किया। क्या उन महानुभावों का ऐसा विचार है कि कपिल शिष्य के हाथ में लिखित पुस्तक थमा देता? इससे क्या उसे शास्त्रीय तात्त्विक बोध हो जाता? भोले लोगो! प्रवचन सदा मौखिक होता है। वे महानुभाव भी जीवन-पर्यन्त अपने शिष्यों को मौखिक ही उपदेश करते हैं; शिष्य के हाथ में पुस्तक थमाते किसी को नहीं देखा जाता। पर उनके ये मौखिक उपदेश क्या कभी 'तन्त्र' या 'शास्त्र' कहे जाते हैं? पर सूत्र में 'प्रोवाच' क्रियापद का कर्म 'तन्त्र' स्पष्ट कथित है। इसके अतिरिक्त केवल मौखिक उपदेश के लिये 'निर्माण' पद का प्रयोग कहीं नहीं देखा जाता। ज्ञान के विषय में इस पद का प्रयोग ग्रन्थरचना के लिये ही किया जा सकता है। उसी रचना को सूत्र में 'तन्त्र' कहा है।

पाश्चात्य लेखकों ने प्राचीन भारतीय वाङ्मय से संपर्क के प्रारम्भिक काल में यह हवा उड़ाई थी कि 'पुराने समय में भारत के लोग लिखना नहीं जानते थे, क्योंकि उनके वेदों का नाम 'श्रुति' है,—जो केवल सुने जायें, पुस्तक पर लिपिबद्ध किये पढ़े न जायें। भारतीयों ने लिखना कालान्तर में विदेशियों से सीखा।' पर वे

भोले लोग यह न समझ सके, या समझने का प्रयास ही न किया कि 'वेद' का श्रुति नाम क्यों है ? वेद की यथार्थता और पवित्रता उसके शुद्ध उच्चारण में है। वेद का अशुद्ध उच्चारण पुण्य के स्थान पर पाप का जनक होता है। गुरु से श्रवण किये बिना उच्चारण का शुद्ध होना सम्भव नहीं। वेदपाठी ब्राह्मणों ने इस अत्यन्त आवश्यक परम्परा को आज तक अक्षुण्ण रक्खा है, जब कि सहस्रों वर्षों से वेदों के लिपिबद्ध पुस्तक उपलब्ध होते रहे हैं। इसी भावना से वेद के लिए 'श्रुति' पद है, इसलिए नहीं कि वह लिपिबद्ध नहीं था।

इसके अतिक्ति वेद के लिए 'आम्नाय' पद का प्रयोग इसी भावना से किया गया प्रतीत होता है। यह पद अभ्यास अर्थवाले 'म्ना' धातु से निष्पन्न होता है। आम्नाय वह है, जिसका सब प्रकार से पुनः-पुनः शुद्ध उच्चारण-निमित्त अभ्यास किया जाय। शुद्ध उच्चारण में ये सब बातें आती हैं—तालव्य-मूर्द्धन्य का यथायथ उच्चारण, ह्रस्व-दीर्घ का, उदात्त आदि स्वरों का ठीक प्रयोग। इस सबके लिए निरन्तर अभ्यास अपेक्षित होता है। यह अभ्यास शिक्षक के उच्चारण के अनुरूप बार-बार मौखिक रूप में बोलकर किया जाता है। शिक्षक द्वारा किये जाते उच्चारण को सावधानतापूर्वक शिष्य द्वारा श्रवण किया जाना 'श्रुति' पद का मुख्य प्रवृत्तिनिमित्त है। उस श्रवण के अनुरूप शिक्षक के उच्चारण को निरन्तर अभ्यास द्वारा अपने (शिष्य के) उच्चारण में यथायथ उतार लेना—वेद के लिए प्रयुक्त--'आम्नाय' पद का मुख्य प्रवृत्तिनिमित्त है। इसका यह निष्कर्ष कैसे निकलता है कि वेद प्राचीन काल में लिपिबद्ध न थे, अथवा उस काल में भारतीय आर्य लिखना नहीं जानते थे ?

अनेक पाश्चात्य विद्वान् इस बात की उद्घोषणा करते रहे हैं कि संसार के पुस्तकालय में सबसे पुरानी पुस्तक ऋग्वेद है। ऋग्वेद [१०।७१।४] का एक मन्त्र है—

'उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचम्, उत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।'

इस सूक्त का ऋषि 'बृहस्पति' और देवता 'ज्ञान' है। ज्ञान वाणी के प्रयोग बिना निरर्थक है। इस सूक्त में ज्ञानगरिमा की अभिव्यक्ति के लिए वाणी के स्वरूप व महिमा का वर्णन है। यह ऋचा का पहला आधा भाग है। अज्ञानी या मूर्ख की स्थिति वाणी के विषय में कैसी रहती है, यह इस अर्द्धभाग में बताया है। ऋचा में 'त्वः' पद का अर्थ 'एक' है; 'उत' पद 'अपि' (भी) के अर्थ में है। इसके अनुसार ऋचा के इस भाग का अर्थ हुआ 'त्वः' एकः=एक मूर्ख, अज्ञानी व्यक्ति 'वाचम्' वाणी को 'पश्यन् उत' देखता हुआ भी 'न' नहीं 'ददर्श' देख पाता। 'त्वः' एक अज्ञानी मूर्ख व्यक्ति 'एनाम्' इस वाणी को 'शृण्वन् उत' सुनता हुआ भी 'न' नहीं 'शृणोति' सुन पाता।

मैं इंग्लिश, फ्रेंच या रशन भाषा (वाणी) नहीं जानता; अथवा कोई व्यक्ति भारतीय या विदेशी संस्कृत वाणी नहीं जानता; ऐसे व्यक्तियों के सामने यदि

Scanned with CamScanner

इंग्लिश, फ्रेंच, रशन या संस्कृत वाणी का प्रयोग उच्चारण-रूप में किया जाता है, तो वह व्यक्ति ध्वनि-रूप में सुने जाने पर भी उसके न सुने जाने के बराबर है; क्योंकि उस वाणी से उसके अज्ञानी होने के कारण—कोई ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। यह सुनना कानों का कार्य है। परन्तु ऋचा का प्रथम भाग वाणी के देखने का उल्लेख कर रहा है। देखना चक्षु इन्द्रिय का विषय है। वाणी का देखा जाना लिपि के बिना असंभव है। मूर्ख के सामने रक्खा ग्रन्थ, लिपियुक्त पन्नों के देखे जाने पर भी उसके (मूर्ख के) लिए वह न देखे जाने के समान है; क्योंकि वह उस वाणी से कुछ ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। इस दृष्टि से इसी सूक्त की सातवीं ऋचा भी अवलोकनीय है। यह सब देखते हुए भी यह कहना या समझना कि प्राचीन भारतीय लिखना नहीं जानते थे—अपनी अज्ञानता का ही द्योतक है।

कतिपय आधुनिक विद्वान् सूत्र के 'निर्माणचित्तम्' पद का 'निर्माणकायम्' अर्थ करने का सुझाव देते हैं। परन्तु उनका ऐसा सुझाव केवल एक अनबूझ पहेली के समान है। ऐसे अर्थ का सूत्र के साथ किसी प्रकार का सामंजस्य नहीं। इसका विवेचन 'सांख्य दर्शन का इतिहास' नामक रचना के पृष्ठ-संख्या २६ से ४० तक (द्वितीय संस्करण) में विस्तारपूर्वक कर दिया गया है।

सूत्र का सारभूत अर्थ है—आदिविद्वान् परम-ऋषि कपिल ने शास्त्र-रचना की भावना से प्रेरित होकर जिज्ञासु आसुरि को माध्यम बना, लोकहित के लिए षष्टि-तन्त्र—सांख्यशास्त्र का उपदेश किया।

तन्त्रमिति व्याख्यायते—तम एव खल्विदमग्र आसीत्,
तस्मिंस्तमसि क्षेत्रज्ञ एव प्रथमोऽध्यवर्त्तत,
तम इत्युच्यते प्रकृतिः, पुरुषः क्षेत्रज्ञः ॥ २ ॥

ईश्वरकृष्ण-रचित सांख्यकारिका की ७१वीं आर्या पर अवतरणिका-रूप से माठरवृत्ति में यह सन्दर्भ पठित है। पदानुसारी साधारण अर्थ है—'तन्त्रम्' इस पद की व्याख्या की जाती है, 'तम' ही यह निश्चित रूप से सर्ग के पहले था, उस तम की अवस्थिति में क्षेत्रज्ञ ही प्रथम अधिष्ठाता-रूप से विद्यमान था। 'तमस्' पद से प्रकृति कही जाती है, क्षेत्रज्ञ पुरुष है, अर्थात्—क्षेत्रज्ञ पद से पुरुष कहा गया है।

वृत्तिकार का कथन है, 'तम एव' से प्रारम्भ कर 'अध्यवर्त्तत' तक के सन्दर्भ से 'तन्त्र' पद की व्याख्या की गई है। यह सन्दर्भ यास्कीय निरुक्त (७।३) की दुर्गवृत्ति में निम्न प्रकार पठित है—

"सांख्यास्तु तमःशब्देन प्रधानमुपादानमुच्यमानमिच्छन्ति।
ते हि पारमर्षं सूत्रमधीयते—'तम एव खल्विदमग्रे आसीत्
तस्मिंस्तमसि क्षेत्रज्ञ एव प्रथमोऽध्यवर्त्तत—इति।"

दुर्ग की यह व्याख्या **'तम आसीत् तमसा गूढमग्रे'** इस ऋग्वेद (१०।१२९।३)

की ऋचा पर है। आचार्य दुर्ग का कहना है—सांख्याचार्यों का विचार है, ऋचा के प्रथम कर्तृपद से जगत् के उपादान-कारण प्रधान का कहा जाना अभीष्ट है। क्योंकि ऋचा का शेष भाग यह कहकर कि—सर्ग से पहले वह (प्रधान) अन्धकार से आवृत था—इसकी पुष्टि करता है। वह जगत् का मूल उपादान-कारण 'प्रधान' पदवाच्य--सत्त्व-रजस्-तमस् की साम्यावस्था रूप प्रकृति ही है, जो उस प्रलय-काल के अवसर पर अन्धकार में डूबी रहती है। तमस् पदवाच्य प्रधान की उस अवस्था में केवल एक क्षेत्रज्ञ अधिष्ठाता-रूप में विद्यमान रहता है (=**तस्मिंस्तमसि क्षेत्रज्ञ एव प्रथमोऽध्यवर्त्तत**)। इस प्रकार सर्ग से पूर्व प्रलय-अवस्था में 'तमस्' और 'क्षेत्रज्ञ' ये यथावत् अवस्थित रहते हैं। इन दो पदों में से प्रथम पद का 'तम्' और द्वितीय पद का 'त्र' वर्ण लेकर इनको मिलाने से 'तन्त्र' पद निष्पन्न होता है।

पहले सन्दर्भ में पठित 'तन्त्र' पद का यह निर्वचन कर वृत्तिकार माठर उक्त पद की व्याख्या के रूप में यह अभिप्राय प्रकट करना चाहता है कि जिस तन्त्र का परमर्षि कपिल ने प्रवचन किया, उसमें तमस् पदवाच्य—जगत् के उपादान-कारण—जड़तत्त्व प्रधान और क्षेत्रज्ञ-पदवाच्य चेतन आत्मतत्त्व का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। सर्ग से पहले केवल प्रधान और चेतन आत्मतत्त्व ये दो ही पदार्थ निश्चित रूप में अवस्थित रहते हैं। यह विश्व का विविध रूप में सीमातीत फैलाव सर्गकाल के अनन्तर आता है। सर्गकाल में प्रधान के परिणामस्वरूप अनन्तानन्त रूपों में विविध विश्व एवं चेतनवर्ग में अनन्त जीवात्म-तत्त्व सक्रिय हो उठते हैं। परन्तु तव भी वस्तुतत्त्व का द्वैविध्य (चेतन और जड़) अपने रूप में तदवस्थ रहता है। इन दो विधाओं के अतिरिक्त कोई तीसरी विधा कभी सत्ता में नहीं आती; 'तन्त्र' पद के उक्त निर्वचन में यही रहस्य अन्तर्हित है, जिसको वृत्तिकार ने स्पष्ट करने का प्रयास किया।

आचार्य दुर्ग ने 'पारमर्ष सूत्रम्' कहकर जिस सन्दर्भ को उद्धृत किया है, उसे हमने पञ्चशिख का सन्दर्भ समझकर प्रस्तुत संग्रह में सम्मिलित किया है। यद्यपि 'परमर्षि' पद प्रायः कपिल के लिए अधिक प्रयुक्त हुआ है, परन्तु अन्य ऋषि-मुनि-कल्प सूत्रकारों के लिए भी इस पद का प्रयोग यत्र-तत्र देखा जाता है।

सम्भव है, कपिल के मुख्य प्रशिष्य होने के नाते पञ्चशिख के लिए भी आचार्य दुर्ग ने परमर्षि पद का प्रयोग किया हो। इस सन्दर्भ द्वारा कही गई मुख्य बात इतनी है कि तन्त्र पद के उक्त निर्वचन से षष्टितन्त्र के प्रतिपाद्य विषय का आभास मिल जाता है। इसी कारण वृत्तिकार माठर ने इस सन्दर्भ का उल्लेख कर आगे लिखा है, जड़ और चेतन के विस्तार-रूप में साठ पदार्थों का जहाँ विवेचन व उपपादन किया गया है, वह षष्टितन्त्र है। प्रथम सन्दर्भ में इसी रचना को 'तन्त्र' पद से कहा गया है।

गीता के तेरहवें अध्याय में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञविषयक विवरण से ज्ञात होता है, यह

Scanned with CamScanner

देह क्षेत्र है और इसमें रहनेवाला ज्ञाता क्षेत्रज्ञ है। जैसे एक देह में रहनेवाला चेतन-तत्त्व क्षेत्रज्ञ है, ऐसे ही समस्त विश्व में अन्तर्यामी रूप से विद्यमान नियन्ता सर्वज्ञाता परमात्मा क्षेत्रज्ञ है। एक देह में अधिष्ठित चेतन जीवात्मा तथा समस्त चराचर जगत् में अधिष्ठित चेतन परमात्मा है। सन्दर्भगत क्षेत्रज्ञ पद से दोनों का ग्रहण होता है। सांख्यशास्त्र में चेतन तत्त्व के लिए 'पुरुष' पद का प्रयोग बहुलता से हुआ है। जड़ प्रकृति को स्त्री के रूप में कल्पना कर उसके भोक्ता नियन्ता चेतन का 'पुरुष' पद से कथन सर्वथा समञ्जस है। इसीलिए व्याख्येय सन्दर्भ में 'क्षेत्रज्ञः पुरुषः' कहा है।

उक्त ऋचा (ऋ० १०।१२९।३) में पठित प्रथमान्त कर्त्तृ-पद 'तमस्' प्रधान का संकेत करता है। इसी भावना से मनुस्मृति (१।५) में भी 'तमस्' पद का प्रयोग है। जगत् के मूल उपादान-तत्त्व के लिए इसका प्रयोग उसके स्वरूप जड़ता का द्योतक है।

इस जड़ उपादान-तत्त्व के लिए सांख्य में विशेष रूप से दो पदों का प्रयोग होता है—एक प्रधान, दूसरा प्रकृति। प्रथम पद अपने निर्वचन 'प्रकर्षेण पूर्णतया धीयतेऽन्तर्निलीयतेऽखिलं जगत् यस्मिन् तत् प्रधानम्'—समस्त जगत् पूर्णरूप से जिसमें डूब जाता है, वह प्रधान है—के आधार पर प्रलयकाल की स्थिति का संकेत करता है। धा (जु०) अथवा 'धि' (तु०) धातु से अधिकरण अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय होकर यह पद निष्पन्न होता है। इसके विपरीत दूसरा पद अपने निर्वचन 'प्रकर्षेण पूर्णतया क्रियते समुत्पाद्यते परिणम्यते वाऽखिलं जगत् यया सा प्रकृतिः' के अनुसार जगत् के सर्ग और स्थिति का द्योतक है। परन्तु इस विशेषता की ओर ध्यान न देते हुए दोनों पदों का प्रयोग समान रूप से प्रत्येक अवस्था के लिए कर दिया जाता है ॥२॥

प्रलय-अवस्था से किस प्रकार जड़तत्त्व-प्रधान सर्गोन्मुख होने के लिए प्रवृत्त होता है, यह अगले सन्दर्भ से बताया गया—

पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्त्तते ॥ ३ ॥

सर्गोन्मुख होने के लिए (प्रधानम्) प्रधान (पुरुषाधिष्ठितम्) पुरुष—क्षेत्रज्ञ परमात्मा से अधिष्ठित-नियन्त्रित-प्रेरित होता हुआ (प्रवर्त्तते) प्रवृत्त होता है।

ईश्वरकृष्णीय सांख्यकारिका की सत्रहवीं आर्या के व्याख्यान में माठर 'अपि-चोक्तं षष्टितन्त्रे' कहकर तथा गौडपाद अपने भाष्य में 'तथा चोक्तं षष्टितन्त्रे' कहकर उक्त सन्दर्भ को उद्धृत करते हैं। इसी अर्थ को सन्तुलित करता हुआ सांख्य-दर्शन का सूत्र है—'तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्' (१.९६)'; सूत्र का 'तत्'

१. यह सूत्र संस्थान से प्रकाशित 'सांख्य दर्शन' में (१.६१) संख्या पर देखना चाहिए।

सर्वनाम-पद प्रधान का परामर्शक है। प्रधान के साथ सन्निधान=ईश्वर के सामीप्य से—प्रधान में अन्तर्यामी होने से क्षेत्रज्ञ--परमात्मपुरुष का अधिष्ठाता होना स्पष्ट होता है। सूत्र में मणि का दृष्टान्त दिया गया है। जैसे अयस्कान्त मणि (चुम्बक) लौह धातु में सान्निध्यमात्र से क्रियाविशेष को उत्पन्न कर देती है, ऐसे ही चेतन क्षेत्रज्ञ परमात्मपुरुष केवल अपने सान्निध्य से—अन्तर्यामी स्वरूप से समस्त प्रधान का संचालन करता है। प्रधान में प्रत्येक क्रिया, विकार या परिणाम चेतन की प्रेरणा से होता है। जिस प्रकार मणि में यह स्वाभाविक सामर्थ्य है कि वह लौह धातु को विचलित कर दे, सम अवस्था से सक्रिय बना दे, इसी प्रकार चेतन का यह स्वभाव है कि अचेतन प्रधान को वह प्रेरणा दे। प्रेरणा, संकल्प या सान्निध्य आदि पद चेतन की एक ही स्थिति का निर्देशन करते हैं।

मणि का केवल इतने अंश में उदाहरण है कि वह अपने एक शक्तिविशेष के कारण अन्य धातुविशेष (लौहमात्र) को सक्रिय बना देती है। इस प्रकार अचेतन प्रधान की प्रवृत्ति—सक्रियता में चेतन का सान्निध्य निमित्त है। यही चेतन के अधिष्ठातृत्व का स्वरूप है। इस प्रकार सांख्य में समस्त विश्व के नियन्ता व अधिष्ठाता-रूप में एक क्षेत्रज्ञ चेतन तत्त्व को स्वीकार किया गया है, जो सर्वान्तर्यामी सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापक है। अन्य समस्त वाङ्मय में जिसका—-ईश्वर, परमेश्वर, परमात्मा, ब्रह्म, अजन्मा, अनन्त, परपुरुष, परमपुरुष आदि अनेकानेक पदों से—कथन किया गया है।

सांख्य के 'ईश्वरासिद्धेः' सूत्र में जगत् के उपादानभूत ईश्वर को असिद्ध बताया गया है, अधिष्ठातृभूत ईश्वर को नहीं। आगे तृतीय अध्याय (सूत्र ५६,५७) में ईश्वर को सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, विश्व का कर्त्ता स्पष्ट कहा है। ऐसे सर्वकर्त्ता अधिष्ठाता ईश्वर को सांख्य-सिद्धान्त के अनुसार असन्दिग्ध रूप में स्वीकार किया है। फलतः कपिल को निरीश्वरवादी कहना या समझना नितान्त अज्ञानतामूलक है।

सांख्यदृष्टि से जीवात्मा अनन्त हैं; अल्पज्ञ, अल्पशक्ति हैं। जगत् के उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय के प्रति उनका अधिष्ठातृत्व किसी स्थिति में सम्भव नहीं। कापिल-दर्शन में जगत् की उत्पत्ति आदि के प्रति ईश्वर का अधिष्ठातृत्व संमत है।

जो आचार्य यह मानते हैं कि जगत् ब्रह्म का परिणाम[1] है, ब्रह्म या ईश्वर इसका उपादान-कारण है, यद्यपि वे आचार्य अपनी इस मान्यता को निर्भ्रान्तरूप में सिद्ध नहीं कर सके, यद्यपि शब्दजाल से भरा हुआ पुस्तकों का अम्बार इस विषय में लगा दिया गया है, पर जगत् के प्रति माया की उपादानता से पीछा नहीं छुड़ा सके। 'माया ब्रह्म की शक्ति है' कहते हुए सन्तोष कर बैठते हैं; पर अनिर्वचनीय माया शुद्ध सच्चिदानन्द-स्वरूप ब्रह्म से सर्वथा भिन्न है। माया कभी अनिर्वचनीय

१. द्रष्टव्य, ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य, २.१.१४,२४,२७ इत्यादि।

स्वरूप को नहीं छोड़ती, ब्रह्म कभी सच्चिदानन्द-स्वरूप को नहीं छोड़ता, दोनों अपने रूप में सदा निर्बाध अवस्थित हैं। इन्हीं आचार्यों का यह कहना है कि जो ब्रह्म या ईश्वर को जगत् का उपादान-कारण नहीं मानता, वह अब्रह्मवादी या निरीश्वरवादी है।

वस्तुतः ऐसा कहनेवाले आचार्य ही निरीश्वरवादी या अब्रह्मवादी हैं। उन्होंने जगत् के उपादान-कारण जड़ प्रकृति या माया को ही चेतन नाम देकर ब्रह्म या ईश्वर मान लिया है; उसकी वास्तविकता को धता बता दी है। जगत् को ब्रह्म का परिणाम[1] कहकर ब्रह्म को परिणामी होने से बचाया नहीं जा सकता। यदि ब्रह्म परिणामी है, तो यह निश्चित है, उन लोगों ने प्रकृति या माया का ही नाम ब्रह्म रख दिया है। तब ये निरीश्वरवादी क्यों नहीं?[1]

ईश्वर की प्रेरणा से प्रधान में प्रवृत्ति क्यों होती है? उसका क्या प्रयोजन है? यदि प्रवृत्ति न हो, तो इससे क्या अवाञ्छनीय स्थिति सामने आ सकती है? इसका विवरण अग्रिम संदर्भ में प्रस्तुत है—

प्रधानं स्थित्यैव वर्त्तमानं विकाराकरणादप्रधानं स्यात्, तथा गत्यैव वर्त्तमानं विकारनित्यत्वादप्रधानं स्यात्; उभयथा चास्य प्रवृत्तिः प्रधानव्यवहारं लभते नान्यथा। कारणान्तरेष्वपि कल्पितेष्वेष समानश्चर्चः ॥ ४ ॥

पातंजल योगसूत्र (२.२३) के व्यासभाष्य में 'यत्रेदमुक्तम्' कहकर यह संदर्भ उद्धृत है। सूत्र में बताया गया है—प्रकृति और पुरुष का संयोग पुरुष के भोग और अपवर्ग का हेतु है। सूत्र इस प्रकार है—

'स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः।'

स्वशक्ति और स्वामिशक्ति के स्वरूपों की उपलब्धि का हेतु है—स्व और स्वामी का संयोग। 'स्व' पद से 'दृश्य' का ग्रहण होता है, जो प्रकृति का विकार यह जगत् है। 'स्वामी' पद से 'पुरुष'—चेतन आत्म-तत्व का ग्रहण होता है। सांख्य का सर्वमान्य सिद्धान्त है—दृश्य का प्रयोजन पुरुष के भोग और अपवर्ग को सिद्ध करना है। परन्तु दृश्य जड़ है, स्वभावतः अन्धा है, स्वयं कुछ देख या कर नहीं सकता। पुरुष चेतन है, वह देख व कर सकता है। इस 'स्व' के पुरुष-सम्बन्धी भोग-अपवर्ग के लिए उपयोग में आने के कारण 'स्व' धन-सम्पत्ति आदि का स्वामी पुरुष है। इनका संयोग होने पर भोग और अपवर्ग सम्पन्न हो पाते हैं। संयोग होने पर पुरुष इस 'दृश्य' को देखता है; अब यह 'स्व' अदृश्य से दृश्य हो गया है। पुरुष के द्वारा 'स्व' शक्ति के रूप की उपलब्धि 'भोग' है, तथा स्वामिशक्ति—आत्म-स्वरूप की उपलब्धि 'अपवर्ग' है। ये तभी सम्पन्न हो पाते हैं, जब 'स्व' और 'स्वामी'

---

१. इस विषय को विस्तार के साथ समझना चाहें तो हमारी रचना 'सांख्य-सिद्धान्त' के 'पुरुष' प्रकरण का प्रारम्भिक भाग देखना उपयोगी होगा।

का परस्पर संयोग होता है। इसलिए यह संयोग भोग-अपवर्गरूप उपलब्धि का हेतु है।

स्व और स्वामी का यह संयोग स्वामी अर्थात् आत्मा के साक्षात् दर्शन होने पर समाप्त हो जाता है, इसलिए यह आत्म-दर्शन स्व-स्वामी के वियोग का कारण होने से उक्त संयोग का प्रतिद्वन्द्वी—विरोधी माना गया है। जब तक अदर्शन है, अर्थात् आत्मा का साक्षात् दर्शन नहीं हो पाया है, तब तक भोग-अपवर्ग की उपलब्धि का हेतु संयोग बना रहता है। यह आत्मा की 'बन्ध' दशा है। आत्म-दर्शन हो जाने पर 'बन्ध' के कारण —अदर्शन—का नाश हो जाता है। यह आत्मा की मोक्षदशा है, इसलिए आत्मदर्शन को मोक्ष का कारण माना जाता है।

भाष्यकार ने आत्मदर्शन को मोक्ष का कारण न मानकर अदर्शन के अभाव से बन्ध का अभाव कहकर उसी को मोक्ष बताया है। पर विचारना यह है कि अदर्शन का अभाव तो आत्मदर्शन से ही हो पाता है, फिर दर्शन को मोक्ष के प्रति कारणता से हटाया क्यों जाता है? वस्तुतः आत्मदर्शन, बन्ध के कारण अदर्शन को ठुकराता हुआ बन्ध के अभाव को प्रस्तुत करता है, जो मोक्ष का स्वरूप है। फलतः बन्ध के न रहने में आत्मदर्शन मुख्य कारण है। बन्ध का अभाव ही मोक्ष है, तब आत्मदर्शन को मोक्ष का कारण मानने में क्या झिझक है?

सूत्रकार ने यहाँ 'स्व' प्रकृति और 'स्वामी' पुरुष के स्वरूप की उपलब्धि का हेतु इनका पारस्परिक-संयोग बताया है। इस संयोग का हेतु सूत्रकार ने अगले सूत्र (२.२४) में 'अविद्या' बताया है। देखना यह है—इन प्रकृति-पुरुष के स्वरूपों की उपलब्धि क्या इनके संयोग के बिना होनी सम्भव है? इस अनादि अनन्त विश्व-जीवन की परम्परा में ऐसा अवसर अत्यन्त विरल आता है, जब यह संयोग इनके स्वरूपों की उपलब्धि को प्रस्तुत करता है। यह संयोग किस प्रकार इनके स्वरूपों की उपलब्धि (साक्षात्कार) का प्रयोजक है, यह भाव ईशावास्य उपनिषत् (९-१४) अथवा यजुर्वेद के कतिपय मन्त्रों (४०/९--१४) द्वारा अभिव्यक्त किया गया है।

आत्मा जब तक मानव-शरीर को प्राप्त नहीं करता, तब तक स्वरूप की उपलब्धि (आत्म-दर्शन) का होना सम्भव नहीं। मानव-देह प्राप्त होने पर भी न मालूम कब किसको यह अवसर प्राप्त होता है। इसी मानव-देह को वेद व उपनिषत् में 'सम्भूति' पद से कहा गया है। इस रूप में प्रकृति-पुरुषसंयोग इनके स्वरूप की उपलब्धि का हेतु होता है—(सम्भूत्याऽमृतमश्नुते)। फिर भी अनेक आचार्यों ने आत्मदर्शन को मोक्ष का कारण मानने में जो संकोच अभिव्यक्त किया है, उसका कारण कदाचित् यह हो कि दर्शन-कारण से जनित मोक्ष-कार्य की अनित्यता सम्भावित होगी, जबकि मोक्ष का स्वरूप ब्रह्मानन्द-प्राप्ति कहा गया है। यदि अदर्शन के अभाव से बन्ध के अभाव—अर्थात् बन्ध-ध्वंस—को मोक्ष माना जाता है, तो उक्त दोष की सम्भावना वहाँ नहीं रहती।

वस्तुतः अभावमात्र को मोक्ष कहकर उसे एक प्रकार से अन्धकारमय बना देने के समान है। यह अविश्वासी मानव मोक्षदशा के अनित्य होने से घबरा रहा है; पहले ही नित्यता की गारण्टी चाहता है। थोड़ा गम्भीरता से विचारकर देखा जाय, तो चाहे आत्मदर्शन मोक्ष कहा जाय, अथवा आत्मदर्शन से अदर्शन का अभाव होकर बन्ध का अभाव मोक्ष कहा जाय, इसमें कोई अन्तर नहीं है। यह केवल शब्दों की हेराफेरी है, अर्थतत्त्व के उपपादन में कोई अन्तर नहीं आता। यह अपने-आपको बहलाना-मात्र है कि इस पद्धति के द्वारा मोक्ष को अनित्य होने से बचा लिया गया है। मोक्ष का स्वरूप जो कुछ है, उसे अन्यथा नहीं किया जा सकता। वहाँ पहुँचकर स्वतः स्पष्ट हो जायगा।

जब यह माना जाता है कि अदर्शन के अभाव से बन्ध का अभाव होना मोक्ष है, तब स्वभावतः जिज्ञासा होती है कि अदर्शन का स्वरूप क्या है? भाष्यकार ने इस विषय में आठ[1] विकल्पों का उद्भावन कर उन्हें प्रस्तुत किया है। चौथे विकल्प को सिद्धान्त-पक्ष माना है, जिसमें कहा गया है—चित्त के साथ अविवेक बैठा है। अविवेकजनित वासनाओं के रूप में चित्त का परिणाम होता रहना ही 'अदर्शन' है। जब विवेकख्याति अथवा आत्मदर्शन से अविवेक अथवा अदर्शन का अभाव हो जायगा, तब अदर्शन के अभाव से बन्ध का अभाव हो जाना मोक्ष है।

पाँचवाँ विकल्प बताया है—सत्त्व, रजस्, तमस् गुणों का पर्याय से क्रमपूर्वक सम-विषम अवस्थाओं में पुरुष के लिए परिणाम रूप से प्रवृत्त होते रहना 'अदर्शन' है। जब आत्मदर्शन से गुणों की यह प्रवृत्ति जिस पुरुष के लिए समाप्त हो जायगी, तब अदर्शन का अभाव होकर बन्ध का अभाव मोक्ष हो जायगा।

इस विकल्प में कहे गये गुणों के क्रमिक सम-विषम परिणाम को प्रमाणित करने के लिए व्यासभाष्य में प्रस्तुत सन्दर्भ उद्धृत किया गया है। सन्दर्भ का अर्थ स्पष्ट है। सत्त्व, रजस्, तमस् तीनों गुणों के संघात-रूप इकाई को 'प्रधान' पद से कहा जाता है। तीनों गुणों का एकक समुदाय यदि सम अवस्था में सदा वैसा ही स्थित बना रहता है, विकाररूप में परिणत नहीं होता, तो वह अपने 'प्रधान' रूप को खो बैठेगा। महत् आदि विकाररूप से परिणत होने के कारण ही जगत् के मूल तत्त्व के रूप में प्रधान माना जाता है। इसको छोड़कर यदि वह (प्रधान) केवल गतिरूप से अर्थात् निरन्तर परिणतिरूप से ही सदा वर्तमान रहता है, तो इस परिणतिरूप या विचाररूप जगत् के सदा एक-जैसा बने रहने के कारण नित्य होने से मूल तत्त्व के रूप में मान्यताप्राप्त प्रधान अपना अस्तित्व खो बैठेगा। तात्पर्य है—यदि यह जगत् जैसा अब वर्तमान है, वैसा ही अनादि-अनन्त काल में विद्यमान

१. आठ विकल्पों के स्वरूप व विवेचन के लिए योगसूत्र (२।२३) का व्यास-भाष्य अथवा विद्योदय-भाष्य द्रष्टव्य है।

रहता है, तो इसके मूल तत्त्व के रूप में प्रधान की मान्यता समाप्त हो जाती है। स्थिति और गति, अथवा समता और विषमता इन दोनों अवस्थाओं में से यदि कोई-सी एक ही अवस्था स्वीकार की जाती है, तो विश्व के मूल तत्त्व के रूप में प्रधान का अस्तित्व सर्वथा उपेक्षित हो जाता है। अतः प्रधान का अस्तित्व गुणों की उभयथा प्रवृत्ति में सम्भव है। गुणों की इस उभयथा प्रवृत्ति का ही नाम 'अदर्शन' है। जगत् के मूल उपादान-कारण के रूप में कोई अन्य तत्त्व कहा जाय, यह उभयथा प्रवृत्ति की स्थिति सर्वत्र समान है।

भाष्यकार ने 'अदर्शन' के विवरण के लिए जो आठ विकल्पों का उद्भावन किया है, उनमें से चौथे विकल्प द्वारा सिद्धान्त-पक्ष का निर्देश है, यह आचार्यों की मान्यता है, जिसमें कहा गया है कि स्व-स्वामि-संयोग का कारण अविवेक अर्थात् अविद्या (अदर्शन) है। परन्तु अन्य समस्त विकल्पों में भी अस्पष्ट अथवा परम्परा से अविवेक के रूप में 'अदर्शन' की स्थिति बराबर झाँकती दिखाई देती है। इधर-उधर का घेरा वाग्विजृम्भण- मात्र है, केवल बुद्धि व वाणी की कसरत।

प्रस्तुत सन्दर्भ की अवतरणिका के रूप में कथित 'यत्रेदमुक्तम्' वाक्य की पूर्ति करते हुए वाचस्पति मिश्र ने तत्त्ववैशारदी व्याख्या में 'ऐकान्तिकत्वं व्यासेधद्भिः' लिखा है। इसपर टिप्पणी करते हुए बलराम उदासीन का लेख है—

"स्थित्यैव प्रधानं वर्त्तते न गत्या। यद्वा गत्यैव प्रधानं वर्त्तते न स्थित्या, इत्यनयोः पक्षयोरेकतरपक्षाऽवधारणरूपं नियमं निराकुर्वद्भिः पंचशिखाचार्यैरेतदुक्तमित्यर्थः।"

प्रधान निरन्तर स्थितिरूप से रहता है, अथवा गतिरूप से? इन दोनों पक्षों में से किसी एक पक्ष के नियमित रूप से अवधारण—निश्चय किये जाने का निराकरण करते हुए पंचशिखाचार्य ने यह कहा है। इसी आधार पर पंचशिखाचार्य के सन्दर्भों में इसका संकलन कर दिया गया है॥ ४॥

गत संदर्भ से प्रधान की उभयथा प्रवृत्ति का निर्देश कर अगले संदर्भों में प्रधान के स्वरूप का निरूपण प्रस्तुत है। प्रधान—सत्त्व, रजस्, तमस्—त्रिगुणात्मक है। इन तीनों गुणों का स्वरूप क्या है? यथाक्रम वक्ष्यमाण तीन संदर्भोंद्वारा बताया—

सत्त्वं नाम प्रसादलाघवानभिष्वंगप्रीतितितिक्षासन्तोषादिरूपानन्तभेदं समासतो सुखात्मकम्॥ ५॥

प्रसाद=प्रसन्नता, दया, दाक्षिण्य, अच्छा स्वभाव, धीरता, शान्ति, मन की स्वस्थता, अनुग्रह आदि। लाघव=देह का हल्कापन, आलस्य व श्रम आदि के दबाव का न होना, मानसिक दबाव का न होना, स्फूर्ति, चुस्ती, वेग, क्रियाशीलता, दक्षता, तत्परता, सर्वतोमुखी प्रतिभा आदि। अनभिष्वंग=अत्यधिक आसक्ति—सम्पर्क आदि का न होना। प्रीति=प्रसन्नता, आह्लाद, हर्ष, तृप्ति, पसन्द, खुशी आदि। तितिक्षा=सहनशक्ति, सहिष्णुता, त्याग, क्षमा आदि। सन्तोष=परितुष्टि,

सब्र, खुशी, हर्ष आदि। संदर्भ के 'आदि' पद से सभी धर्मानुकूल भावनाओं का संग्रह अभीष्ट है; उनके फिर अनेकानेक अवान्तर भेद। इस प्रकार अनन्त भेद वाले परिणामों का प्रयोजक 'सत्त्व' नामक मूलतत्त्व होता है। संक्षेप में इसको सुखस्वरूप कहा जाता है। ये सब प्रसाद आदि अवस्थायें अनुकूल भावनाओं को उभारने में प्रयोजक होती हैं ॥५॥

'सत्त्व' के स्वरूप का निर्देश कर 'रजस्' का स्वरूप बताया—

एवं रजोऽपि शोकादिनानाभेदं समासतो दुःखात्मकम् ॥ ६ ॥

इसी प्रकार 'रजस्' भी शोक आदि नाना भेद से अनन्तस्वरूप होता हुआ संक्षेप से दुःखरूप कहा जाता है। अप्रसन्नता, निर्दयता, कठोरता, कटु स्वभाव, अधीरता, अशान्ति, मन का सदा चञ्चल रहना, उलटे कामों में तत्परता, दुःखी या पीड़ित के प्रति सहानुभूति का न होना आदि स्थितियाँ रजस् का परिणाम कही जाती हैं। यही रजस् का स्वरूप है। इन स्थितियों के दुःखजनक होने के कारण रजस् को दुःखरूप माना गया है ॥६॥

अब क्रमप्राप्त 'तमस्' का स्वरूप बताया—

एवं तमोऽपि निद्रादिनानाभेदं समासतो मोहात्मकम् ॥ ७ ॥

इसी प्रकार 'तमस्' भी निद्रा आदि अनेक भेदों से अनन्तरूप होता हुआ संक्षेप से मोहस्वरूप होता है। निद्रा, आलस्य, कोई भी कार्य करने की प्रवृत्ति का न होना, सुस्ती, ढीलापन, क्रियाशीलता-प्रतिभा आदि का सर्वथा अभाव आदि परिस्थितियाँ तमस् का परिणाम हैं।

समस्त कार्यजगत् इन्हीं तीन तत्त्वों का परिणाम है। जब ये तत्त्व अपने विशुद्ध रूप में अवस्थित रहते हैं, तब उनकी यह साम्यावस्था है। वह प्रलयकाल है, उस समय अखिल कार्यजगत् इन तीन मूल उपादान-तत्त्वों में लीन—अन्तर्हित रहता है, छिपा रहता है। समय आने पर अचिन्त्यशक्ति परमात्मा की प्रेरणा से इनमें क्षोभ उत्पन्न होता है, तब ये विक्षुब्ध-बेचैन होकर अन्योन्य-मिथुनीभूत हो जाते हैं; अपने-आपको खोए हुए-से एक-दूसरे में मिल जाते हैं। इनका यह वैषम्य अनन्तानन्त विविध रूपों में मिल जाना ही जगत्‌रूप परिणाम है। मिल जाने पर प्रत्येक तत्त्व अपनी ताकत आज़माने के किसी मौके को छोड़ना नहीं चाहता; कभी कोई दो मिलकर तीसरे को दबाते हैं, कभी अन्य कोई दो। इनकी इस धमाचौकड़ी में इनके स्तर की न्यूनाधिकता की गणना नहीं की जा सकती। इसी के अनुसार जीवात्म-चेतन तत्त्व के साथ चिपके हुए ये तिलंगे सुख-दुःख-मोह के अनन्त स्तरों के रूप में जगत् के सर्गकालीन अवसर पर निर्बाध क्रीड़ा किया करते हैं। इनके बीच छिपा बैठा मदारी दर्शकों की भावनाओं के अनुसार डुगडुगी बजाया करता है। विश्व के समस्त शास्त्र, सारा विज्ञान, गहरी कूटनीतियाँ, सभी इन स्तरों की तरंगों में डूबी उतराया करती हैं। यही त्रिगुणात्मक विश्व है, इससे अन्य कुछ नहीं। चतुर

ज्ञानियों का कहना है, इन तरंगों की लपेट से बचकर किसी तरह डुगडुगी बजाने-वाले के पास जा बैठो; अगर उसे ऐतराज़ न हो तो इस तमाशे की असलियत को समझ सकोगे, इसे सन्तुष्टि के साथ देख सकोगे।

ये तीनों (५-७) संदर्भ सांख्यदर्शन-सूत्र (१.१२७) पर विज्ञानभिक्षु के भाष्य में उल्लिखित हैं। विज्ञानभिक्षु ने इन संदर्भों को पञ्चशिखाचार्य की रचना कहकर उद्धृत किया है। उक्त सूत्र का पाठ है—

'प्रीत्यप्रीतिविषादाद्यैर्गुणानामन्योऽन्यं वैधर्म्यम्' ॥

प्रीति, अप्रीति और विषाद आदि से सत्त्व-रजस-तमस् गुणों का परस्पर वैधर्म्य है। सूत्र के प्रीति-अप्रीति-विषाद पद यथाक्रम सुख-दुःख-मोह के प्रतीक हैं। इन संदर्भों को उद्धृत करने से पहले विज्ञानभिक्षु ने लिखा है—सूत्र के आदि पद से ग्राह्य अन्य भावों को पञ्चशिखाचार्य ने इस प्रकार कहा है—इसके अनन्तर उक्त संदर्भ उद्धृत हैं। इससे ज्ञात होता है, मानो पंचशिखाचार्य इस सूत्र के पदों को लक्ष्य करके ही व्याख्यारूप में इनका विवरण प्रस्तुत कर रहा हो। इस दृष्टि से संदर्भों के अन्तिम दो पद—'समासतः सुखात्मकम्' इत्यादि विशेष ध्यान देने योग्य हैं। सूत्र में सुख-दुःख-मोह पदों को न रखकर 'प्रीति' आदि पदों का निर्देश इसी भावना से किया प्रतीत होता है कि समान वर्ग के अन्य सभी भावों का इससे संकलन समझा जा सके। प्रीति आदि भाव सुख के, अप्रीति आदि दुःख के तथा विषाद आदि मोह के प्रयोजक व जनक हैं। सूत्र में 'सुख' आदि पदों के निर्देश से यह भाव अभिव्यक्त न होता। इन भावों का समास—संक्षेप अर्थात् परिणाम सुख आदि हैं। सूत्र का यह अन्तर्हित रहस्य पंचशिखाचार्य के इन सूत्र-पदों के व्याख्या-रूप संदर्भों से स्पष्ट होता है ॥७॥

तीनों गुणों के स्वरूप व परिणाम का कथन कर गुणों में मुख्य सत्त्वगुण का अधिभूत व अध्यात्म की दृष्टि से उपपादन-निमित्त अगला सन्दर्भ प्रस्तुत है—

सत्त्वारामः सत्त्वमिथुनश्च सदा स्यात् ॥ ८ ॥

सन्दर्भ के प्रथम भाग में दो पद हैं—'सत्त्व' और 'आराम'। कोशकार[1] कहता है—'आरामः स्यादुपवनं कृत्रिमं वनमेव यत्'। आराम उस उपवन का नाम है, जिसमें व्यक्ति द्वारा लगाये हुए वृक्ष, फूल, पौधे आदि हों। 'आराम' पद—आङ् उपसर्ग-पूर्वक क्रीडार्थक—'रम्' धातु से घञ् प्रत्यय (पा० ३.३.१२१) होकर निष्पन्न होता है। निर्वचन होगा—'आरमन्ति सर्वतः क्रीडन्ति स्वैरं समुपवेशेन परिभ्रमणादिना क्रीडनादिना वा मनोरञ्जनं कुर्वन्ति यत्र स आरामः।' ऐसा विशिष्ट उद्देश्य से बनाया हुआ उद्यान 'आराम' पद बोध्य है, जहाँ इधर-उधर से

---

१. अमरकोश, द्वितीय काण्ड, वनौषधिवर्ग ४, श्लो० २।

इकट्ठे होकर व्यक्ति खेलते, बैठते, घूमते तथा अन्य विविध प्रकार के खेल आदि से अपना मनोरंजन करते हैं। आज की भाषा में इन्हें क्रीडोद्यान (स्टेडियम—STADIUM) या पार्क (PARK) कह सकते हैं। इससे व्यक्ति को शान्ति मिलती है, चित्त पर पड़े दबाव दूर होकर स्थिरता आती है, सौम्य भावनाओं का उद्भव होता है।

'आराम' के प्रयोग से होनेवाले इन परिणामों को लक्ष्य कर सन्दर्भकार ने 'सत्त्वाराम:' पद का प्रयोग किया है। यह सन्दर्भ ईश्वरकृष्ण की २९वीं आर्या की 'युक्तिदीपिका'[1] नामक व्याख्या में उद्धृत है। इस आर्या में तीन अन्तःकरणों (बुद्धि-अहंकार-मन) की असाधारण वृत्ति तथा समस्त करणों (आन्तर-बाह्य तेरह करणों) की साधारण वृत्ति का उल्लेख है। प्राण आदि (प्राण-अपान-समान-उदान-व्यान) पाँच वायुविशेष को सब करणों का व्यापार बताया गया है। उक्त व्याख्या में पाँचों प्राणों का विस्तृत विवेचन तथा उनके पारस्परिक बलाबल को प्रस्तुत कर इनका स्रोत कहाँ से प्रवृत्त होता है, यह बतलाने के लिए कहा है—महत् से प्रसृत होकर रजस् अन्य तत्त्वों के साथ यथायथ मिथुनीभूत होता हुआ पाँच कर्मयोनियों[2] की अण्डस्थानीय अवस्था को प्राप्त होता है। जैसे मुर्गी से बच्चा होने के लिए अण्डा मध्य-अवस्था है, ऐसे ही कर्मयोनियों की अभिव्यक्ति के लिए महत् से प्रसृत होकर रजस् की यह—मुर्गी के अण्डे के समान—मध्यगत अवस्था है। इससे पाँच कर्मयोनियों की अभिव्यक्ति होती है। पाँच कर्मयोनि हैं—धृति, श्रद्धा, सुखा, विविदिषा, अविविदिषा।

महत् से प्रसृत होकर रजस् अन्य गुणों के साथ मिथुनीभूत होकर इनकी अभिव्यक्ति करता है। मिथुनीभाव का सामञ्जस्य इस प्रकार है—धृति = रजस्-तमस्-बहुल होती है, सत्व अंश न्यून रहता है। श्रद्धा = सत्त्व-रजस्-बहुल होती है; इसमें तमस् अंश की न्यूनता रहती है। सुखा = सत्त्व-तमस्-बहुल होती है; इसमें रजस् का अंश न्यून रहता है। विविदिषा = इसमें रजस् अंश का बाहुल्य रहता है, सत्त्व-तमस् दोनों न्यून रहते हैं। अविविदिषा = तमोबहुल होती है; इसमें सत्त्व-रजस् का अंश कम रहता है।

यह विवरण अध्यात्म-दृष्टि को मुख्य लक्ष्य समझकर प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि प्रत्येक दिशा में ये प्रवृत्तियाँ व्यक्ति के सामने आती हैं, पर इस विषय में उस व्यक्ति को अधिक सावधान रहना होता है, जिसने अध्यात्म-मार्ग पर अपना कदम

---

१. युक्तिदीपिका, पृष्ठ १२९, पं० ७; कलकत्ता, प्रथम संस्करण।

२. द्रष्टव्य—तत्त्व समास सूत्र, ९। 'सांख्य संग्रह' नाम से प्रकाशित। चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, बनारस, सन् १९२० का संस्करण।

बढ़ाना है। व्यक्ति अपने समस्त कार्य इन करणों[1] के आधार पर ही कर पाता है। इन्हीं समस्त करणों का व्यापार—प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान - हैं, जिनके आधार पर पूरे शरीर व अन्य कार्यकलापों का संचालन होता है। इसी से व्यक्ति उच्च-नीच, न्यूनाधिक सफलता-असफलता अपने जीवन में प्राप्त किया करता है। इस प्राप्ति के लिए पाँच 'कर्मयोनि' हैं, जिनमें से व्यक्ति को गुजरना पड़ता है, अथवा इनके घेरे में रहकर अपना कार्य करना पड़ता है।

'कर्मयोनि' में 'योनि' पद का अर्थ 'आधार' है। अन्यत्र भी इस पद का यही अर्थ जाना जाता है। तात्पर्य हुआ—जो कर्म किये जाते हैं, उनका आधार ये पाँच भाव हैं—धृति आदि, जिनका उल्लेख प्रथम कर दिया गया है। इनमें प्रथम भाव धृति है।

धृति—प्रत्येक कार्य को धैर्य के साथ करना उपयुक्त होता है। उसमें बेचैन होना या घबराना नहीं चाहिए। बाधाएँ प्रत्येक कार्य में न्यूनाधिक आया करती हैं, उनका भी धैर्य के साथ प्रतीकार करने का प्रयास करते रहना चाहिए। यदि अध्यात्म-मार्ग पर कदम रक्खा है, तो बाधाओं को यथाशक्ति दूर करते हुए, उन्हें भुलाते व उपेक्षित करते हुए धैर्यपूर्वक दृढ़ता से आगे कदम बढ़ाते चलिए। यह मार्ग दूर का अवश्य है, पर लक्ष्यप्राप्ति में ऐसे अवसरों पर धैर्य का योगदान अनुपम रहता है। भर्त्तृहरि ने बताया है—वे लोग नीच हैं, निम्न कोटि के हैं, जो बाधाओं के डर से कार्य का प्रारम्भ ही नहीं करते। उन्हें मध्यम कोटि का समझना चाहिए, जो कार्य को प्रारम्भ तो उत्साह के साथ करते हैं, पर बाधा आ जाने पर अधीर होकर छोड़ बैठते हैं। उत्तम पुरुष समाज में वे माने जाते हैं, जो बाधाओं के बराबर आते रहने पर भी उनको तिरस्कृत करते हुए, हटाते हुए अपने प्रारम्भ किये कार्य का परित्याग नहीं करते; अपने निश्चित लक्ष्य पर पहुँचकर ही दम लेते हैं। धीरे-धीरे लक्ष्य की ओर चलते रहना ही कार्य में धृति का योगदान है। निरन्तर मार्ग पर चलते रहना रजस् का तथा धीरे-धीरे सरकना तमस् का भाव है।

श्रद्धा—प्रत्येक कार्य श्रद्धा-निष्ठा के साथ करना ही सद्यः फलप्रद होता है। अध्यात्म-मार्ग में यह भाव अत्यन्त अपेक्षित है, आवश्यक है। ऊपरी मन से कार्य करना कभी सफलता तक नहीं पहुँचाता। इस मार्ग का आश्रय लेकर व्यक्ति जिस लक्ष्य पर पहुँचना चाहता है, वह व्यक्ति के बाह्य साधनों (चक्षु आदि इन्द्रियों) की जकड़ से बाहर होता है। इसलिए व्यक्ति इन्द्रियों के वशीभूत हुआ उन्हीं विषयों

१. करण तेरह हैं—तीन अन्तःकरण—बुद्धि, अहंकार, मन; दस बाह्यकरण—पाँच ज्ञानेन्द्रिय—श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसन, घ्राण; पाँच कर्मेन्द्रिय—वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ।

में फँसा रहता है, जिनको इन्द्रियाँ प्रस्तुत करती हैं। इस अवस्था में उस अलक्ष्य लक्ष्य की ओर कदम बढ़ाते रहने में श्रद्धा का योगदान महान् रहता है। इसी भावना से उपनिषदों—अध्यात्म-शास्त्रों में—'श्रद्धत्स्व सोम्य !' का उद्घोष सुना जाता है। इस भाव में अलक्ष्य होने पर भी उच्च लक्ष्य की अनुकूलता को न छोड़ना सत्त्वांश का तथा मार्ग पर बढ़ते रहना रजस् अंश का परिणाम है।

सुखा—अपने लक्ष्य-कार्य का तीसरा आधार 'सुखा' नामक भाव है। प्रायः अध्यात्म-मार्ग पर चलनेवाले व्यक्तियों में देखा जाता है—कोई एक बाँह ऊपर उठाये रहता है, उसे कभी इधर-उधर नहीं करता, न हिलाता है। मैंने स्वयं ऐसे एक व्यक्ति को देखा, जो एक टाँग से काम लेता था; प्रायः एक ही टाँग पर खड़ा रहता—खाना, पीना, सोना, हगना, मूतना आदि सब शारीरिक आवश्यक कार्य लाठी के सहारे खड़ा रहता ही करता। लोग उसकी इस हरकत को घोर तपस्या समझकर उसकी सेवा करते, सब तरह का सहयोग देते। ऐसे भी एक व्यक्ति को देखा, जो अपने चारों ओर आग जलाकर बीच में बैठा रहता; जाड़ा, गरमी, बरसात प्रत्येक ऋतु में उसका यही क्रम रहता। वर्षा ऋतु में लोग घास-फूंस आदि के द्वारा छाया का प्रबन्ध कर देते। वह अपना स्थान बदलता रहता था। शीत ऋतु में अग्नि का सामीप्य अनुकूल रहता हो, पर ग्रीष्म ऋतु में तो उसे कष्ट-दायक ही माना जाएगा। मैंने उसे ग्रीष्म ऋतु में देखा। शिवालक की तराई में सहारनपुर जिले के अन्तर्गत—एक बरसाती नदी के सूखे रूहाड़े में गाड़ी की लीक के सहारे इसी मुद्रा में उसे आसन जमाये देखा। मैं उस समय एक गाँव से दूसरे गाँव बैल-ताँगे से जा रहा था; कुछ देर रुका, दो-एक बात की। मेरे सामने ही समीप गाँव का एक व्यक्ति बण्टे में दूध लाया, लगभग एक किलो रहा होगा। तपस्वी ने दूध स्वीकार कर उस व्यक्ति से लकड़ी, गोहे और तमाखू आदि का सवाल किया। मैं उस समय अपने मार्ग पर आगे चल पड़ा था।

सन् १९०८ या ९ की बात है, गुरुकुल फर्रुखाबाद में अध्ययन करते समय प्रतिदिन देखता रहा हूँ, गंगा की ओर जाती हुई सड़क के दूसरी ओर धर्मशाला जैसे इकहरे कमरों की कतार के आगे एक अच्छा-तगड़ा साधु शरीर से नंगा केवल लंगोटी लगाये तीन-चार अंगुल ऊँची—नीचे से मोटी, ऊपर से तीखी, घनी खड़ी हुई जड़ी कीलों से भरी चौकी पर—कभी उकड़ूँ कभी पलोथी मार बैठा रहता था, सड़क पर आते-जाते लोगों को निहारता रहता। प्रभु उसकी कामना पूरी करता, लोग उसकी आवश्यकता-पूर्ति की सब सामग्री दे जाते थे। वस्तुतः शरीर को कष्ट देनेवाले इस प्रकार के कार्य ब्रह्मप्राप्ति के साधन नहीं कहे जा सकते। धार्मिक भावुक जनता रोटी-पानी का प्रबन्ध कर ही देती है। कदाचित् उनका अभीष्ट यही रहता हो।

'सुखा' नामक कर्म या अनुष्ठान का आधार उक्त प्रकार की प्रवृत्तियों का

अध्यात्म-साधना में निषेध करता है। देह को अनावश्यक कष्ट न पहुंचाते हुए सुविधापूर्वक शक्ति के अनुसार परमात्म-चिन्तन आदि अनुष्ठानों का करना इस 'सुखा' नामक कर्मयोनि का निर्देश्य है। मानव-देह बड़े पुण्यों का फल है, इसको स्वस्थ-सुरक्षित रखते हुए अध्यात्ममार्ग का प्रश्रय लेना परमलक्ष्य की प्राप्ति के लिए उपयोगी होता है। इसे निरुद्देश्य कर्महीन बनाना, सुखाना, उचित उपयोग न लेना एक प्रकार से पाप करने के समान है। इसी देह के सहारे अमृत की प्राप्ति सम्भव है। इसे निरुपयोगी बनानेवालों को शास्त्र आत्मघाती बताता है—**'ये के चात्महनो जनाः'**। प्रत्येक अनुष्ठान (कर्म) का यह आवश्यक आधार है।

विविदिषा—इसका अर्थ है, जानने की इच्छा। आध्यात्मविषयक जानकारी के लिए इस मार्ग पर चलनेवाले व्यक्ति को सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए। निरंतर आत्म-चिन्तन—प्रणव-जप आदि में व्यक्ति लगा नहीं रह सकता। जब उससे विरत हो, तो अध्यात्मविषयक वाङ्मय का अभ्यास व अध्ययन करते रहना उपयुक्त होता है। इससे ऐसी जानकारी प्राप्त होती रहती हैं, जिनसे अध्यात्ममार्ग की अनेक बाधाओं का निवारण अनायास होता रहता है। अनुभवी आचार्यों का कहना है—

स्वाध्यायाद् योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याययोगसम्पत्या परमात्मा प्रकाशते॥

स्वाध्याय से विरत हो जाने पर योगासन लगाकर आत्मचिन्तन—प्रणव-जप आदि करने में बैठ जाय; जब इसमें श्रम-थकावट का अनुभव होने लगे, तो स्वाध्याय—अध्यात्म-सम्बन्धी ग्रन्थों के अध्ययन में संलग्न हो जाय। इस प्रकार स्वाध्याय और योग का अभ्यास बराबर साथ-साथ चलते रहने से परमात्मा प्रकाशित हो जाता है। आत्मसाक्षात्कार की शीघ्र प्राप्ति में सुविधा हो जाती है। इस प्रकार विविदिषा नामक कर्मयोनि का आत्मसाक्षात्कार में महत्त्वपूर्ण योगदान है।

अविविदिषा—अध्यात्म के विपरीत जानकारी के लिए प्रवृत्ति का न होना। ऐसी जानकारी से—जो व्यक्ति को अध्यात्ममार्ग से निरन्तर विरत करती रहे, जीवन के अभ्युदयकारी उत्तम लक्ष्यों से हटाकर वैषयिक खुराफातों में फँसाती रहे—बराबर बचने का प्रयास करते रहना ही 'अविविदिषा' है।

प्राणों के साथ मिलकर ये पांच कर्मयोनि—अर्थात् प्रत्येक कार्य के सफलतापूर्वक सम्पादन में आधारभूत उपाय हैं। करणों के सामान्य व्यापाररूप इन प्राणों को धृति आदि उपायों के साथ संगत कर उपयुक्त मार्ग का अनुसरण करना ही मानव-जीवन का लक्ष्य है। प्राणों का, शरीर के अन्दर जो व्यापार है, वह नैसर्गिक है, अपने क्रम से निर्बाध चला करता है, उसमें किसी भी प्रकार की छेड़-छाड़ अनावश्यक है। नाड़ी-संचलन, रक्त-संचार, पाचन-क्रिया, ग्रन्थियों द्वारा रसों का निर्माण, ज्ञानवहा नाड़ियों की सक्रियता आदि ऐसे ही स्वाभाविक व्यापार हैं। इनके लिए किसी प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती। जो सत्त्व-रजस्-तमस् से प्रेरित

Scanned with CamScanner

होकर करणों द्वारा बाह्य (शरीर से बाहर) कार्य किया जाता है, वह बाह्य व्यापार स्वाभाविक न होकर नैमित्तिक है। उसमें प्रत्येक व्यक्ति को अपने मार्ग और अमार्ग को समझने-पहचानने का पूरा ध्यान रखना चाहिए। इससे व्यक्ति राजस-तामस व्यापारों से अपने-आपको बचाकर सात्त्विक व्यापार में तल्लीन रह सकता है, जो चरम उन्नति का साधन है। ऐसे ही प्रसंग में सन्दर्भकार ने 'सत्त्वारामः सत्त्वमिथुनश्च सदा स्यात्' कहा है। सदा सत्त्व में क्रीड़ा अर्थात् सत्त्व की सीमा में ही समस्त क्रियाकलाप का अनुष्ठान तथा सत्त्व की सीमा में ही मिथुनीभाव अर्थात् उसी में घुल-मिलकर कार्य करना शान्ति व धैर्य आदि अभीष्ट परिणामों को सद्यः प्राप्त कराने में समर्थ होता है।

प्रस्तुत सन्दर्भ का आधिभौतिक दृष्टि से निम्न प्रकार अर्थ सम्भव है—'सत्त्वारामः' और 'सत्त्वमिथुनः' दोनों जगह 'सत्त्व' पद अन्य गुणों का उपलक्षण है। तात्पर्य है—सत्त्व पद से शेष दोनों गुणों रजस्-तमस् का भी ग्रहण हो जाता है। अर्थ हुआ—समस्त सर्ग अर्थात् अखिल विश्व सत्त्व-रजस्-तमस् इन तीन प्रकार के मूल तत्त्वों में ही क्रीड़ा कर रहा है, इन्हीं में सन्निविष्ट है। अशेष विश्व के रूप में भौतिक दृष्टि से जो अनन्तानन्त विकार होते रहते हैं, वे सब इन त्रिविध मूल तत्त्वों में पर्यवसित हैं, इनसे अतिरिक्त भौतिक सत्ता अन्य कुछ नहीं, क्योंकि सदा सर्वकाल में यह सब जगत् सत्त्व-रजस्-तमस् के अन्योन्य-मिथुनीभाव का ही परिणाम है। जगत् के मूल उपादान-कारण के रूप में इन तीन गुणों से अतिरिक्त अन्य कोई तत्त्व नहीं है।

मानव-जीवन में न केवल अध्यात्ममार्ग पर चलने के अवसर में, प्रत्युत साधारण लोकव्यवहार में भी धृति आदि भावनाओं का महत्त्वपूर्ण उपयोग है। गुणानुरोध से मानव के सामने अभ्युदय एवं अपवर्ग के साधक-बाधकरूप में धृति आदि भाव आगे-पीछे आते रहते हैं। सत्त्व-रजस्-तमस् इन तीनों गुणों के मिथुनीभाव में परस्पर न्यूनाधिक्य होने के कारण उन्हीं के अनुसार धृति आदि अभ्युदय और अपवर्ग में साधक या बाधक होते हैं। इनका उपदेश इसीलिए आचार्य ने किया कि मानव साधकरूप से इनका उपयोग करे, बाधकरूप से न करे।

ये विविध परिणाम इन तीन गुणों से कैसे होते रहते हैं, इसका समाधान अगले सन्दर्भ द्वारा प्रस्तुत है—

चलञ्च गुणवृत्तम् ॥ ९ ॥

गुणवृत्तम्—गुणों का वर्तना—व्यवहार, चलम्—चल स्वभाव है, गुणों का अपना बर्त्ताव गतिशील है। 'गति' पद का—एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने का—अर्थ केवल न होकर वस्तुतत्त्व में निरन्तर परिणाम होने से तात्पर्य है। वस्तु के कतिपय धर्म कालान्तर में समान जैसे बने रहने पर भी वस्तुतत्त्व निरन्तर परिवर्तित—परिणत होता रहता है। उसकी स्तरीय रचना के आधार पर अपेक्षाकृत न्यून या

Scanned with CamScanner

अधिक काल के अनन्तर प्रत्येक अधिभौतिक पदार्थ अपने पहले रूप-आकार को छोड़कर भिन्न रूप-आकार में परिणत होता देखा जाता है। तात्पर्य है—गुण या गुणों के परिणामभूत तत्त्व कोई भी 'कूटस्थ' नहीं हैं। इन त्रिविध गुणों से अतिरिक्त तत्त्व चेतन है, जो 'कूटस्थ' है, अर्थात् उसमें कभी कोई परिणाम सम्भव नहीं। इस दृष्टि से भी सांख्य-विचारधारा में द्विविध तत्त्वों का अस्तित्व सिद्ध होता है। एक—परिणामी, दूसरा—कूटस्थ=अपरिणामी। पहला जड़ तत्त्व—अचेतन, दूसरा—चेतन। सांख्य में इनको यथाक्रम 'प्रकृति' और 'पुरुष' पदों से कहा गया है। यद्यपि ये दोनों प्रकार के तत्त्व नित्य हैं, अनादि-अनन्त हैं, फिर भी पहला—प्रवाह से अनादि-अनन्त व नित्य माना जाता है, उसका अनवरत परिणाम का प्रवाह सदा चालू रहता है। यही आधार उसकी नित्यता का है; जबकि दूसरा एकदम कूटस्थ है, उसमें किसी तरह का विकार या परिणाम सम्भव नहीं। प्रथम तत्त्व को इसी रूप में प्रस्तुत सन्दर्भ द्वारा 'चल' बताया गया है, जबकि दूसरा सदा 'अचल' रहता है।

तत्त्व के अनवरत परिणाम को बौद्धदर्शन में अत्यधिक महत्त्व दिया गया है; यहाँ तक कि उसकी दृष्टि में कोई तत्त्व कूटस्थ नहीं है। आधुनिक विज्ञान ने भी आधिभौतिक पद्धति के आधार पर अनुसन्धानों के परिणामस्वरूप तत्त्व को गतिशील स्वीकार किया है। यह समस्त प्रतिक्षण गति करता हुआ जाना जाता है। यह गति दोनों प्रकार की है—स्थानान्तरण और वस्तु-परिणाम।

यह सन्दर्भ त्रिगुण के परिणाम का विवरण देते हुए विभिन्न आचार्यों ने अनेकत्र[1] प्रस्तुत किया है। इस विषय में आचार्य शंकर का लेख है—'चलं गुणवृत्तम्, इति चास्त्यभ्युपगमः।'[2] गुणवृत्त चल है, यह सांख्य का सिद्धान्त है। यद्यपि इस सन्दर्भ को पञ्चशिख के नाम से किसी ने उल्लिखित नहीं किया, पर शंकर के उक्त लेख और सर्वत्र इसकी यही आनुपूर्वी व पदावली के देखे जाने से हमने इसे पञ्चशिख-सन्दर्भों की सूची में स्थान दिया है॥ ६॥

त्रिगुण के परिणाम को वह समय भी माना गया है जिसको भारतीय वाङ्मय में प्रलय-अवस्था कहा गया है। परन्तु उस दशा में त्रिगुण का सम-परिणाम माना जाता है। प्रलयकाल पूरा होने पर चेतन-शक्ति की प्रेरणा से त्रिगुण मूल तत्त्वों में क्षोभ (हलचल) उत्पन्न होकर उनकी सर्गोन्मुख प्रवृत्ति हो जाती है। तब वे सम-

---

१. द्रष्टव्य—पातञ्जल योगदर्शन, व्यासभाष्य, २।१५॥३।१३॥४।१५॥ व्यास-भाष्य टीका तत्त्ववैशारदी ३।१५॥ यहाँ वाचस्पति का पाठ द्रष्टव्य है—"एवं त्रिगुणत्वाच्चित्तस्य 'चलञ्च गुणवृत्तम्' इति प्रतिक्षणपरिणामोऽनुमीयते।"
२. ब्रह्मसूत्र (वेदान्त) शांकरभाष्य, २।१।६॥

परिणाम से विरत हो विषम परिणाम की ओर प्रवृत्त हो जाते हैं, त्रिगुण की इस विषम सर्गोन्मुखता का प्रथम परिणाम अगले सन्दर्भ में बताया—

सत्तामात्रो महान् ।। १० ।।

सांख्यकारिका की ५७वीं आर्या पर युक्तिदीपिका[1] नामक व्याख्या में 'शास्त्रं तावत्' कहकर यह सन्दर्भ उद्धृत है। महान्—महत् तत्त्व सत्तामात्र है। मूलतत्त्व सत्त्व-रजस-तमस् चेतन परमात्मा की संकल्परूप प्रेरणा से सर्गोन्मुख होकर परस्पर मिथुनीभूत हुए जब प्रथम कार्यतत्त्व के रूप में अभिव्यक्त होते हैं, एक निर्धारित व निर्देश्यस्वरूप कार्य अपने अस्तित्व में आ जाता है। ऐसे ही प्रकृति के प्रथम कार्य को सन्दर्भ में सत्तामात्र—अपने अस्तित्व का लाभ किया हुआ—कहा है। मूल तत्त्वों के सर्गोन्मुख होने से पूर्व वह कार्य अव्यक्त था, कारणरूप था; अब कार्यरूप में व्यक्त हो गया है। व्यक्त का यह तात्पर्य नहीं कि वह इन्द्रियग्राह्य हो गया, प्रत्युत इतना ही तात्पर्य है कि वह कारण-अवस्था से कार्य-अवस्था में अर्थात् अव्यक्त-दशा से व्यक्त दशा में परिणत हो गया है। इसी के अनुसार व्याख्याकार ने 'सत्ता-मात्र' पद का अर्थ किया है—'व्यक्तिमात्र इत्यर्थः'। यहाँ 'मात्र' पद इस भाव को प्रकट करता है कि यद्यपि अपनी कारण-अवस्था से परिणत होकर तत्त्व कार्य-अवस्था में आ गया है, पर अभी इन्द्रियग्राह्य नहीं है, केवल कार्यरूप अस्तित्व का लाभ किया है।

व्याख्याकार इसको स्पष्ट करने के लिए लोक-व्यवहार का एक उदाहरण प्रस्तुत करता है—गहरे कुएँ में पानी के न दीखने पर कहा जाता है कि इस कुएँ में पानी नहीं है; पर ऐसा कुआँ कोई नहीं होता जिसमें पानी न हो; वह केवल प्रकट-रूप में दिखाई नहीं देता। इसी प्रकार इन्द्रियग्राह्य न होते हुए हुए भी महत् तत्त्व का कार्यरूप में व्यक्त होना स्वीकार्य है।

व्यक्त कार्य से अव्यक्त कारण का अनुमान होता है, इसी व्यवस्था के अनुसार वार्षगण[2] सांख्याचार्यों ने 'लिंगमात्रो महान्' कहकर इसे प्रस्तुत किया है। 'लीन-मन्तर्हितमर्थं गमयति बोधयतीति लिंगम्'—जो छिपे हुए अर्थतत्त्व का बोध कराए वह 'लिंग' कहा जाता है। व्यक्त महत् कार्य अव्यक्त प्रधान कारण का बोध कराता है। यह सत्कार्यवाद-सिद्धान्त की यथार्थता को स्पष्ट करता है।

---

१. कलकत्ता से प्रकाशित प्रथम संस्करण, पृष्ठ १७०, पंक्ति १९ द्रष्टव्य है।

२. वृषगण के अनुयायी सांख्याचार्यों का यह सन्दर्भ देखें—युक्तिदीपिका, उक्त संस्करण, पृ० १३३, पं० ५-६ ।।

परमर्षि कपिल ने सांख्यदर्शन[1] में 'महदाख्यमाद्यं कार्यं तन्मनः' सूत्र द्वारा महत् तत्त्व का विवरण प्रस्तुत किया है। महत् नाम का आद्यकार्य है वह मननशील निश्चयात्मक अथवा अध्यवसाय-स्वभाव है। 'मनस्'—अवबोधन—निश्चय करना अर्थ वाले 'मनु' धातु से उणादि (४/१८९) असुन् प्रत्यय होकर 'मनस्' पद सिद्ध होता है। 'मन्यते अनेन, इति मनः'—मननपूर्वक निश्चय करने का साधन। सूत्रकार ने 'मनस्' पद द्वारा महत् तत्त्व का स्वरूप बतलाया। सत्त्व-रजस्-तमस् की साम्य अवस्था पूरी होने पर नियन्ता परमात्मा की प्रेरणा से उनमें क्षोभ (धुड़धुड़ी लेना) उत्पन्न होकर वैषम्य की ओर प्रवृत्ति का होना प्रारम्भ हो जाता है। मूल तत्त्वों के सर्गोन्मुख होते ही तत्काल महत्तत्व की अभिव्यक्ति नहीं हो जाती। प्रथम क्षोभ और महत् की अभिव्यक्ति के अन्तराल का काल पर्याप्त लम्बा होता है। उस अवस्था को सांख्याचार्यों ने 'अनिर्देश्यस्वरूप' बताया है। अन्तराल-काल का वह तत्त्वपरिणाम किसी विशिष्ट कार्य के रूप में अभिव्यक्त नहीं हो पाता। सबसे प्रथम अपने वैशिष्ट्य के साथ जो कार्य अभिव्यक्ति में आता है, वह 'महत्' है। उसका वैशिष्ट्य अपनी विलक्षणता है—अध्यवसाय, अर्थात् निश्चय करना। बाह्य विषयों का इन्द्रियों के व्यापार (वृत्ति) रूप में जो ज्ञान पुरुष के भोगनिमित्त होता है, उसका अन्तिम पड़ाव महत् है। महत्तत्त्व अपने व्यापार (वृत्ति) के रूप में उसके निश्चय का—अध्यवसाय का अन्तिम साधन है। करणों का व्यापार इस स्तर पर पहुँचते ही पुरुष (आत्मा) को बाह्य विषय का बोध=अवगम हो जाता है। इसी आधार पर महत्तत्व का अन्य नाम 'बुद्धि' है। 'बुद्ध्यते अनया सा बुद्धिः' जिसके द्वारा बोध हो, अर्थात् बोध=अध्यवसाय का साधन। ये सब करण अपने स्तर पर आत्मा के लिए भोग के साधन हैं। इनमें 'महत्' नाम का करण प्रकृति का सर्वप्रथम कार्य है। इसी भाव को प्रस्तुत सन्दर्भ से प्रकट किया गया है।

महत् की अभिव्यक्ति से आगे सर्गप्रक्रिया किस प्रकार चलती है, यह आगामी सन्दर्भ द्वारा प्रस्तुत किया गया—

"तस्माद्धि महत आत्मन इमे त्रय आत्मानः सृज्यन्ते वैकारिक-तैजस-भूतादयो ऽहंकारलक्षणाः। अहमित्येवैषां सामान्यं लक्षणं भवति; गुणप्रवृत्तौ च पुनर्विशेषलक्षणम्॥ ११॥

---

१. सांख्यकारिका की युक्तिदीपिका व्याख्या के १०८ पृष्ठ पर पाठ है—'केचिदाहुः—प्रधानादनिर्देश्यस्वरूपं तत्त्वान्तरमुत्पद्यते ततो महान्—इति।' 'तत्त्वान्तर' से तात्पर्य केवल विषम परिणाम से है। प्रधान और महत् की अभिव्यक्ति के अन्तराल-काल में तत्त्वों का कोई ऐसा परिणाम नहीं होता, जिसमें पुरुष के भोग-अपवर्ग में उपयोग आनेवाली विशेषता उभर आई हो। इसीलिए उसे 'अनिर्देश्यस्वरूप' कहा गया है।

Scanned with CamScanner

(तस्मात्-हि-महत-आत्मनः) निश्चित रूप में उस महत् स्वरूप तत्त्व से (इमे त्रय आत्मानः) इन वक्ष्यमाण तीन स्वरूपों का (सृज्यन्ते) सर्जन-अभिव्यञ्जन-उत्पादन किया जाता है। वे तीन हैं—(वैकारिक-तैजस-भूतादयः) वैकारिक, तैजस और भूतादि। इनका स्वरूप बताया—(अहंकारलक्षणाः) इनका लक्षण-स्वरूप अहंकार है। इनका वह स्वरूप दो प्रकार से व्यवहार में आता है—एक सामान्य, दूसरा विशेष। इसी को सन्दर्भ-अंश से बताया—(अहम् इत्येव-एषाम्-सामान्यम्-लक्षणम्) 'अहम्' यह वृत्ति ही इन सबका सामान्य लक्षण है। (गुणप्रवृत्तौ च पुनः विशेष-लक्षणम्) गुणों के परिणाम द्वारा अपनी विशेष इकाई में आ जाने पर इनका स्वरूप फिर विशेष कहा जाता है।

यह सर्वविदित सिद्धान्त है कि प्रकृति को सदा चेतन तत्त्व जीवात्मा के भोग और अपवर्ग की सिद्धि के लिए प्रवृत्त किया जाता है। बाह्य विषयों की जानकारी करणों के व्यापार द्वारा चेतन आत्मा तक पहुँचाई जाती है, इसका नाम भोग है। करण और बाह्य विषयों की उत्पत्ति का क्रम है—महत् अर्थात् बुद्धितत्त्व, अहंकार; ग्यारह इन्द्रियाँ, तन्मात्र, ग्यारह इन्द्रियों में मन, पाँच ज्ञानेन्द्रिय=श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसन, घ्राण; पाँच कर्मेन्द्रिय=वाक्, पाणि (हाथ), पाद (पैर), पायु (मलमार्ग), उपस्थ (मूत्रमार्ग)। बुद्धि से लेकर यहाँ तक ये तेरह करण हैं। जिस क्रम से इनका यहाँ निर्देश किया है, यही इनकी उत्पत्ति का क्रम है। इन्द्रियों की उत्पत्ति के अनन्तर तन्मात्र तत्त्व की उत्पत्ति होती है। यह दृश्य-अदृश्य सकल विश्व का विस्तार तन्मात्र का ही है।

इस उत्पत्ति-क्रम में प्रकृति का सर्वप्रथम कार्य महत् है, यह गत सन्दर्भ द्वारा स्पष्ट किया। मूल उपादान के त्रिगुणरूप होने के कारण उनसे परिणत हुआ प्रत्येक कार्य त्रिगुणात्मक होता है। तीन गुणों का विषम रूप में अन्योन्य-मिथुनीभाव उत्पद्यमान कार्य को कार्यान्तर से भिन्न रूप में प्रस्तुत कर देता है। इसी के अनुसार अध्यवसायस्वरूप महत् से जो अहंवृत्तिरूप तत्त्व परिणत होता है, उसका नाम 'अहंकार' है। बुद्धि के व्यापार अध्यवसाय के फलस्वरूप चेतन आत्मा को जो बोध—'जानामि, निश्चिनोमि'=जानता हूँ, निश्चय करता हूँ, आदि रूप में होता है, उसके साथ 'अहं-व्यापार' प्रतिबद्ध रहता है। वह अध्यवसाय 'अहं' के व्यापार को लाँघकर नहीं हो सकता। यहाँ तक 'अहं' व्यापारवाले अहंकार तत्त्व की स्थिति समान रहती है; परन्तु इस तत्त्व से आगे जो परिणाम होते हैं, उनके अनुरूप इसी अहंकार तत्त्व में सत्त्व-रजस्-तमस् के वैषम्य अर्थात् व्यवस्थित न्यूनाधिकता के कारण परस्पर विभिन्न परिणामों का आविर्भाव हो जाता है। उसी विभिन्नता के आधार पर अहंकार के तीन नाम आचार्यों ने परिभाषित किए हैं—वैकारिक, तैजस, तामस।

वैकारिक, तैजस अहंकार—सत्त्वगुण प्रधान होता है। यथार्थ रूप में तीनों

गुणों की अवधारित संख्या हमारी जानकारी के स्तर पर बताई जानी सम्भव नहीं है। इसलिए गुण की अधिकता को—उसके साथ 'प्रधान' पद का प्रयोग कर—बता दिया जाता है। वैकारिक अहंकार से आन्तर और बाह्य ग्यारह इन्द्रियाँ परिणत होती हैं। इनमें आन्तर इन्द्रिय एक मन है, शेष दस बाह्य इन्द्रियाँ हैं, पाँच ज्ञानेंद्रिय और पाँच कर्मेन्द्रिय। इन ग्यारह करणों की परिणति में तैजस अहंकार का अंश मिथुनीभूत रहता है। इनमें आन्तर इन्द्रिय मन के परिणाम के लिए जहाँ सत्त्व-प्रधान वैकारिक अहंकार प्रवृत्त रहता है, वहाँ रजःप्रधान तैजस अहंकार का रजस् के साथ मुख्य सत्त्व गुण का अंश भी सहयोगी रहता है। इसी कारण मन के व्यापार में वह सामर्थ्य विद्यमान रहता है कि वह समस्त बाह्य इन्द्रियों के विभिन्न विषयों को समान रूप से ग्रहण कर लेता है। यह विशेषता बुद्धि से अहंकार में और अहंकार से मन में आकर पर्यवसित हो जाती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि जिन सत्त्व-रजस्-तमस् का व्यवस्थित मिथुनीभाव इस विशेषता के प्रादुर्भाव के लिए अपेक्षित है, वह केवल मन के परिणाम तक आता है।

इसी अहंकार से बाह्य इन्द्रियों की परिणति में पाँच ज्ञानेन्द्रियों के लिए रजः-प्रधान तैजस अहंकार का सत्त्वांश के साथ मुख्य रजस् का सहयोग रहता है, वह भी सर्वत्र समान नहीं होता। उस विषमता या न्यूनाधिकता को जानना-पहचानना हमारी जानकारी के स्तर पर सम्भव नहीं, पर विभिन्न इन्द्रियों के व्यापार-कार्य से इस तथ्य का स्पष्ट अनुमान कर सकते हैं कि जिन सत्त्व-रजस्-तमस् के मिथुनीभाव से चक्षु इन्द्रिय परिणत हुआ है, ठीक उन्हीं के मिथुनीभाव से रसन या घ्राण इन्द्रिय परिणत नहीं हुआ; उनके कारणतत्त्वों में कुछ वैषम्य अवश्य है, जिससे उनके व्यापार में विषमता स्पष्ट होती है। इस प्रकार मुख्य वैकारिक अहंकार और आंशिक तैजस अहंकार के सहयोग से एकादश इन्द्रियसंज्ञक करण परिणत होते हैं।

तामस अहंकार—एकादश करणों के परिणाम के अनन्तर तामस अहंकार से 'तन्मात्र' तत्त्व का परिणाम होता है। इसका तात्पर्य है, अहंकार जिन तत्त्वों के मिथुनीभाव से परिणत हुआ है, उसके केवल तमस् भाग को मुख्य, रजस् को अल्प और सत्त्व को अत्यल्प लेकर तथा अन्य अपेक्षित तत्त्वों को लेकर उनका मिथुनी-भाव 'तन्मात्र'-संज्ञक परिणाम को प्रस्तुत करता है। इस परिणाम में तैजस अहंकार आंशिक सहयोग प्रदान करता है। तैजस अहंकार के मुख्य तमस् अंश, रजस् अल्प और सत्त्व अल्पाति अल्परूप में तन्मात्र-परिणाम के लिए उपयोगी माना गया है।

आगे परिणत होनेवाले सर्ग की विलक्षणता के आधार पर सन्दर्भ में इसी गुण-प्रवृत्ति—गुणों के परिणाम स्वभाव—को लक्ष्य कर अहंकार के विशेष स्वरूप का निरूपण किया है ॥११॥

गुणप्रवृत्ति के इस वैषम्य को अगले सन्दर्भ से अधिक स्पष्ट किया है—

तदेतस्मिन् वैकारिके स्रक्ष्यमाण एष भूतादिस्तैजसेनोपष्टब्ध एतं वैकारिकमभिधावति। तथैव तस्मिन् भूतादौ स्रक्ष्यमाण एष वैकारिकस्तैजसेनोपष्टब्ध एतं भूतादिमभिधावति॥ १२॥

उक्त प्रकार के इस वैकारिक-संज्ञक अहंकार के स्रक्ष्यमाण होने पर अर्थात् इससे आगे की रचना प्रारम्भ होने पर, यह भूतादि-संज्ञक अहंकार तैजस नामक अहंकार के साथ फंसा हुआ (उपष्टब्ध) इस वैकारिक की ओर दौड़ता है। इसी प्रकार उस भूतादि-संज्ञक अहंकार से आगे की रचना प्रारम्भ होने पर यह वैकारिक-संज्ञक अहंकार तैजस नामक अहंकार के साथ फँसा हुआ इस भूतादि की ओर दौड़ता है।

सर्गरचना की प्रक्रिया में उपादान-तत्त्वों की इस दौड़-भाग का विवरण एक रुचिकर आलंकारिक रीति पर प्रस्तुत किया गया है। इसका तात्पर्य केवल इतना है कि एक अहंकार से दो प्रकार की रचना परिणत हो जाती हैं। एक—ग्यारह इन्द्रियाँ, जो विषयग्रहण व क्रिया करने का सामर्थ्य रखती हैं; दूसरी—तन्मात्र, जो तमोमय रचना है। इसको और अधिक स्पष्टरूप में इस प्रकार समझना चाहिए।

अहंकार तत्त्व केवल एकमात्र है। वैकारिक आदि उसके कोई विशेष भेद नहीं हैं। जिन उपादान-तत्त्वों से अहंकार परिणत हुआ है, उनमें से जितने तत्त्व ग्यारह इन्द्रियों के परिणाम या उत्पादन में उपयुक्त होते हैं, उनको 'वैकारिक' पद से कहा गया है। इन्द्रियों की रचना में इनके अतिरिक्त ऐसे अन्य उपादान भी उपयोग में आते हैं, जिनके अनुसार प्रत्येक इन्द्रिय की अपनी विशेषता उभर आती है, जो प्रत्येक इन्द्रिय को अन्य इन्द्रिय से भिन्न रखती है। उनका व्यापार भी एक-दूसरी से भिन्न रहता है। इसी प्रकार अहंकार के उपादान-तत्त्वों में से जितने तत्त्व 'तन्मात्र' की रचना में उपयुक्त होते हैं, उन्हें यहाँ 'भूतादि' पद से कहा गया है। इनके अतिरिक्त अन्य उपादान-तत्त्व भी विभिन्न तन्मात्र की रचना में उपयुक्त होते हैं, जो प्रत्येक तन्मात्र के एक-दूसरे से भेद के नियामक होते हैं। अहंकार के मूल उपादान-तत्त्वों में से उन तत्त्वों को 'तैजस' पद से कहा गया है, जो उक्त दोनों प्रकार की रचना में समान रूप से उपयोग में आते हैं।

इस प्रकार अहंकार केवल एकमात्र तत्त्व है। उसके उपादान-तत्त्वों के—आगे होनेवाले कार्यों में—उपयोग के आधार पर स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिए आचार्यों ने ये संज्ञा अवधारित कर दी हैं। इससे अहंकार-तत्त्व के भेद होने का भ्रम नहीं होना चाहिए।

किस तत्त्व की रचना में कितने और कैसे मूल उपादान-तत्त्वों का उपयोग हुआ है, यह मानव की जानकारी की सीमा के क्षेत्र में नहीं आता। यह सब उस जगन्नियन्ता सर्वान्तर्यामी सर्वशक्ति प्रभु की नियत व्यवस्था के अनुसार स्वचालित यन्त्र के समान सदा होता रहता है। विभिन्न रचनाओं की ज्ञेय समानताओं

व विशेषताओं के आधार पर हम उनके समानजातीय एवं असमानजातीय मूल तत्त्वों का अनुमान किया करते हैं। यह अनुमान यथार्थता के उच्च स्तर में जाकर प्रत्यक्ष-जैसी कोटि में पहुँच जाता है; इसी के अनुसार मूल तत्त्वों को उपयोग में लाकर मानव ने चमत्कारपूर्ण विविध रचनाओं को प्रस्तुत कर लौकिक अभ्युदय के श्रेयस्कर स्तर को उपलब्ध किया है। गम्भीरता से विचारने पर फिर भी तथ्य यही है कि अनन्तानन्त विश्व की जानकारी के महासागर में मानव दो-चार बूंद ही प्राप्त कर पाया है। रचना में मूल तत्त्वों की परिगणना का लेखा-जोखा उसी के हाथ है। मानव निष्प्रयोजन उस झमेले में क्यों पड़े ?

प्रस्तुत सन्दर्भ सांख्यकारिका की युक्तिदीपिका (कलकत्ता संस्करण, सन् १९३८) नामक व्याख्या के पृष्ठ ११७ पर पंक्ति १-३ में 'शास्त्रञ्चैवमाह' कहकर उद्धृत है ॥१२॥

इन्द्रियों की उत्पत्ति अथवा परिणति अहंकार से होती है, इसका स्पष्ट निर्देश अग्रिम सन्दर्भ से प्रस्तुत किया—

आहंकारिकानीन्द्रियाणि अर्थं साधयितुमर्हन्ति नान्यथा ॥ १३ ॥

(इन्द्रियाणि) इन्द्रियाँ (आहंकारिकानि) अहंकार से उत्पन्न या परिणत होती हैं, ऐसा मानने पर (अर्थम्) अर्थ को, अपने विषय को (साधयितुम्) सिद्ध करने में (अर्हन्ति) समर्थ हो पाती हैं, (न अन्यथा) अन्यथा नहीं।

इन्द्रियाँ अहंकार-तत्त्व का परिणाम हैं, यह मानने पर ही इन्द्रियों में उस सामर्थ्य का होना सम्भव है, जिससे उनके द्वारा विषय का ग्रहण किया जा सकता है। यदि इन्द्रियों का उपादान-तत्त्व अहंकार से अतिरिक्त अन्य कोई माना जाता है, तो उनमें विषयग्रहण के साधन होने का सामर्थ्य सम्भव न होगा। अहंकार के सत्त्वप्रधान अंश से इन्द्रियों का परिणाम होना मानने पर उनमें विषय-ग्रहण-साधन की क्षमता का होना सम्भव है। पञ्चभूतों की रचना तमःप्रधान होने से इन्द्रियों को भूतों का परिणाम मानने पर उनमें विषय-प्रकाशन का सामर्थ्य सम्भव न होगा। कतिपय आचार्यों ने इन्द्रियों को भौतिक माना है। इसका विवेचन 'पञ्चाधिकरण' प्रसंग में आगे संख्या २ पर देखना चाहिए।

सांख्य-दर्शन (२.२०) सूत्र 'आहंकारिकत्वश्रुतेर्न भौतिकानि' में इसी अर्थ का प्रतिपादन किया है। इस विषय में प्रश्नोपनिषत् का द्वितीय प्रश्न द्रष्टव्य है। वहाँ वर्णन है, विदर्भ प्रदेश के निवासी भृगुवंश में उत्पन्न हुए शिष्य (भार्गव वैदर्भि) ने ब्रह्म की जिज्ञासा से भगवान् पिप्पलाद के पास आकर प्रश्न किया—भगवन् ! देव कितने हैं, जो प्रजा को धारण किए हैं ? कौन-से प्रकाशित जीवित-जागृत रखते हैं ? और उनमें श्रेष्ठ कौन है ?

भगवान् पिप्पलाद ने प्रश्न का उत्तर दिया—पाँच भूत, कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, मन आदि करण इस प्रजात मानव-देह को थामकर (बाणमवष्टभ्य) धारण करते

हैं, स्थिर रखते हैं। ऐसी स्थिति को लक्ष्य कर वे सब आपस में विवाद करने लगे, और अहंभाव से परस्पर प्रत्येक अपने-आपको इस देह का धारयिता बताने लगा।

यहाँ ज्ञातव्य है, उपनिषद् के प्रस्तुत प्रसंग में करण आदि को 'प्राण' पद से कहा गया है।[1] इन्हीं के लिए यहाँ 'देव' पद का प्रयोग हुआ है। अन्यत्र भी उपनिषदों में ऐसा देखा जाता है। प्रस्तुत प्रसंग में इसे भूलना न चाहिए—सांख्यशास्त्र में प्राणों को समस्त करणों का व्यापार माना गया है। देह में प्राणों का संचालन तेरहों करणों की सम्मिलित सामान्य वृत्ति है।[2] इसी मान्यता का आश्रय लेकर उपनिषत्कार ने आलंकारिक रूप में करणों के उक्त विवाद का उल्लेख किया है। वरिष्ठ प्राण (बुद्धितत्त्व अथवा महत्तत्त्व) ने जब इस विवाद को सुना, तो वह बोला—आप भ्रम में मत पड़ो; इस देह को थामकर मैंने ही स्थिर किया हुआ है। पर अन्य प्राणों (करणों) ने इसको स्वीकार न किया। तब वरिष्ठ प्राण देह से निकलकर जाने लगा, तो अन्य प्राणों में खलबली मच गई। उसके बिना वे देह में न रहने के लिए बाध्य हो गए। वरिष्ठ प्राण उनके बिना भी देह में रह सकता है। अंधे, बहरे, लूले, लँगड़े, गूँगे व्यक्ति संसार में व्यवस्थित जीवन बिताते देखे जाते हैं। तब उन्हें मुख्य प्राण की श्रेष्ठता ज्ञात हो गई।

इस विवरण से प्रस्तुत प्रसंग में यह परिणाम स्पष्ट होता है, करणों के अतिरिक्त देह का शेष भाग पाँच भूतों का कार्य है। इसलिए यह देह करण और पाँच भूतों का[3] संघात है। सर्गप्रक्रिया-क्रम में भूतों से पहले समस्त करणों का प्रादुर्भाव हो चुकता है। करणों के अनन्तर तमःप्रधान अहंकार से तन्मात्र तत्त्व परिणत होकर, उनसे सूक्ष्मभूत और फिर स्थूलभूत प्रादुर्भाव में आते हैं, ऐसी स्थिति में करणों को पाँच भूतों का विकार कहना, सृष्टिक्रम के विरुद्ध होने के कारण अमान्य है। अतः इन्द्रियों को आहंकारिक (अहंकार का परिणाम) मानने में कोई बाधा नहीं है।

सांख्यदृष्टि से देह को पाञ्चभौतिक मानने का—न्याय-दर्शनकार गौतम की 'शरीर केवल पार्थिव है'—मान्यता के साथ कोई विरोध नहीं है। इसका उपर्युक्त विवेचन आचार्य पञ्चाधिकरण के प्रसंग में इन्द्रियों की अभौतिकता और देह की पाञ्चभौतिकता को लक्ष्य कर किया गया है।

यह संदर्भ सांख्यकारिका की युक्तिदीपिका (कलकत्ता संस्करण, सन् १९३८)

---

१. इसके लिए द्रष्टव्य है—छा० १.११.४.५॥ कौषी० ३.३॥ श० ब्रा० १०.३.३.६, इत्यादि।

२. द्रष्टव्य सांख्यसूत्र—'सामान्या करणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च' (२.३१), तथा सांख्यकारिका, २९॥

३. द्रष्टव्य सांख्यसूत्र—'पाञ्चभौतिको देहः'

के पृष्ठ १२३ पर पंक्ति ६-१० में 'एवं हि सांख्यवृद्धा आहुः' कहकर उद्धृत है ॥१३॥

जड़सृष्टि का निरूपण करने के अनन्तर प्राणिसर्ग के विवरण की भावना से उन तत्त्वों को प्रस्तुत किया, सांख्यप्रतिपादित सर्गप्रक्रिया में 'प्रत्ययसर्ग' अथवा 'बुद्धिसर्ग' नाम से जिनकी परिगणना की जाती है। सन्दर्भ है—

महदादिविशेषान्तः सर्गो बुद्धिपूर्वकत्वात्। उत्पन्नकार्यकरणस्तु माहात्म्यशरीर एकाकिनमात्मानमवेक्ष्याभिदध्यौ। हन्ताहं पुत्रान् साक्ष्ये ये मे कर्म करिष्यन्ति ये मां परञ्चापरञ्च ज्ञास्यन्ति। तस्याभिध्यायतः पञ्च मुख्यस्रोतसो देवाः प्रादुर्बभूवुः। तेषूत्पन्नेषु न तुष्टिं लेभे। ततोऽन्येतिर्यक्स्रोतसोऽष्टाविंशतिः प्रजज्ञिरे। तेष्वप्यस्य मतिर्नैव तस्थे। अथापरे नवोर्ध्वस्रोतसो देवाः प्रादुर्बभूवुः। तेष्वप्युत्पन्नेषु नैव कृतार्थमात्मानं मेने। ततोऽन्येऽष्टावर्वाक्स्रोतस उत्पेदुः। एवं तस्माद् ब्रह्मणोऽभिध्यानादुत्पन्नः, तस्मात् प्रत्ययसर्गः। स विपर्ययाख्यः, अशक्त्याख्यः, तुष्ट्याख्यः, सिद्ध्याख्यश्च ॥

(युक्तिदीपिका, कलकत्ता संस्करण, सन् १९३८, पृष्ठ १५२, पंक्ति १६)

सन्दर्भ पर्याप्त लम्बा है, वाक्यरचना स्पष्ट है। साधारण संस्कृतज्ञ को शब्दार्थ समझने में कोई कठिनता न होगी। थोड़े-थोड़े अपेक्षित भाग की व्याख्या यथाक्रम प्रस्तुत है। प्रथम वाक्य है—**'महदादिविशेषान्तः सर्गः बुद्धिपूर्वकत्वात्'**। अर्थ की स्पष्टता के लिए आगे 'एव संभवति' पदों की योजना कर लेनी चाहिए। 'महत्' से लेकर 'विशेष'-पर्यन्त सर्ग बुद्धिपूर्वक होने से ही सम्भव है। इस अनन्त व्यवस्थित विश्व की रचना सर्वज्ञ चेतन तत्त्व की प्रेरणा व नियन्त्रण के बिना—जड़ उपादान-तत्त्व स्वयं स्वतन्त्र रूप से प्रवृत्त होकर कर देता है, ऐसा होना सम्भव नहीं। पृथिवी, सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारा आदि का नियमित व व्यवस्थित रूप में परिचालन, इनकी एक-दूसरे से ठीक व्यवस्थित दूरी तथा एक संयत घेरे में परिभ्रमण आदि सब ऐसे कार्य हैं, जो इस असीमित व्यवस्था के पीछे किसी अत्यन्त सूझ-बूझवाली शक्ति के अस्तित्व का बोध कराते है। वर्तमान दार्शनिक जगत् में यह प्रवाद नितान्त मिथ्या है कि कापिल सांख्यदर्शन प्रधान की सर्गोन्मुख प्रवृत्ति में सर्वनियन्ता चेतन की प्रेरणा को स्वीकार नहीं करता।

वस्तुतः सांख्य-परम्परा में आचार्य वार्षगण्य का अपना एक सम्प्रदाय है, जो इस मान्यता को स्वीकार करता है कि सर्गादिकाल में प्रधान की प्रवृत्ति चेतन की अपेक्षा नहीं रखती। वार्षगण्य का एक सन्दर्भ उपलब्ध होता है—**'प्रधानप्रवृत्तिरप्रत्यया पुरुषेणापरिगृह्यमाणा आदिसर्गे वर्त्तते'**—प्रधान की प्रवृत्ति आदि-सर्ग में अप्रत्यय होती है। 'प्रत्यय' ज्ञान व चेतना को कहते हैं, वह ज्ञान अथवा चेतनरहित होती है; तात्पर्य है—वह अपनी सर्गोन्मुख प्रवृत्ति में किसी चेतन की अपेक्षा नहीं रखती। इसी को सन्दर्भ के शेष वाक्य 'पुरुषेण अपरिगृह्यमाणा वर्त्तते' से स्पष्ट

किया गया। वह प्रधान की प्रवृत्ति पुरुष से, चेतनतत्त्व से अपरिगृहीत रहती है। चेतन के प्रेरणारूप अनुग्रह की अपेक्षा नहीं रखती।

आगे वार्षगण्य के प्रसंग में इसका उपयुक्त विवेचन किया जाएगा। पर यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि बौद्ध दार्शनिकों ने अपने काल में सांख्य के नाम पर इस मान्यता को बहुत उभारा और इसपर बड़ा बल दिया, क्योंकि यह मान्यता उनके जगत्सर्ग-सम्बन्धी सिद्धान्त को पुष्ट करती थी। इसमें जगत् के किसी नियन्ता चेतन को मानने की अपेक्षा नहीं रहती, जो बौद्धदर्शन का स्वीकृत सिद्धान्त है। सांख्य के नाम पर इसका प्रचार होने से यह मान्यता कापिल दर्शन पर आरोपित हो गई, क्योंकि सांख्यदर्शन के साथ कपिल का नाम—उस दर्शन के प्रतिष्ठापक होने से—अटूट सम्बन्ध के रूप में जुड़ा हुआ है।

पञ्चशिख के प्रस्तुत सन्दर्भों में इस कापिल सिद्धान्त पर अनेकत्र बल दिया गया है कि प्रधान की सर्गोन्मुख प्रवृत्ति सदा चेतन-सापेक्ष रहती है। संख्या ३ का सन्दर्भ इसी अर्थ का पोषक है। प्रस्तुत सन्दर्भ पुनः 'महत्' से लगाकर 'विशेष'-पर्यन्त सर्ग को बुद्धिपूर्वक कहकर उसी सिद्धान्त को दृढ़ करता है।

'महत्' से 'विशेष'-पर्यन्त—प्रकृति का प्रथम कार्य 'महत्' तत्त्व है, यह गत पंक्तियों में स्पष्ट किया जा चुका है। आगे की रचना 'करण'-पर्यन्त कह दी गई है। 'विशेष' तत्त्व क्या है? यह अभी स्पष्ट नहीं हुआ। संख्या १२-१३ सन्दर्भों में 'तामस' अहंकार से 'तन्मात्र' तत्त्व के परिणाम का उल्लेख हुआ है। तत्त्वरचना की प्रक्रिया में तन्मात्र का स्थान भौतिक जगत् के परिणाम का प्रारम्भ होने से पूर्व में आता है। तात्पर्य है—तन्मात्र से पाँच भूत परिणत होते हैं। सांख्य ग्रन्थों में 'तन्मात्र' पद के साथ प्रायः 'पञ्च' पद का प्रयोग रहता है। इसका तात्पर्य आपाततः यह समझा जाता है कि तन्मात्र पाँच प्रकार के हैं। पर वस्तुतः ऐसा नहीं है। तन्मात्र के साथ 'पञ्च' पद का प्रयोग—तन्मात्र से मुख्य रूप में परिणत—पाँच भूतों की संख्या के आधार पर किया गया है। इन पाँच भूतों में एक आकाश सर्वदेशीय तथा शेष चार एकदेशीय तत्त्व हैं। ये प्राणि-जीवन के सर्वाधिक समीप सहयोगी तत्त्व हैं। इस लोक में इनके बिना प्राणि-जीवन का बना रहना सम्भव नहीं, इसीलिए भारतीय दर्शन में इनके विवरण को महत्त्वपूर्ण अवसर दिया गया है।

सांख्यदर्शन द्वारा प्रतिपादित सर्गप्रक्रिया के 'तन्मात्र' तत्त्व को आधुनिक विज्ञान के ऐलीमेंट (ELEMENT) स्तर पर समझा जा सकता है। आधुनिक विज्ञान का ऐलीमेंट तत्त्व-रचना का ऐसा स्तर है, जहाँ तत्त्व अपनी विशिष्ट इकाई में अभिव्यक्त हो जाता है; उसी स्तर की किसी अन्य तत्त्व-इकाई का कोई सम्मिश्रण उसमें नहीं होता। वह इकाई केवल वही वह है। ठीक यही तात्पर्य 'तन्मात्र' पद का है। 'तदेव इति तन्मात्रम्' जो वही वह है। इनसे परिणत होनेवाले पृथिवी आदि भूतों में जो विशेषतायें उभर आती हैं, वे तन्मात्र में अभिव्यक्त नहीं होतीं;

इसी आधार पर सांख्य-योग में तन्मात्र की 'अविशेष' तथा पृथिवी आदि भूतों की 'विशेष' संज्ञा है। प्रस्तुत सन्दर्भ के प्रथम वाक्य का अर्थ अब स्पष्ट होता है—महत् से लगाकर विशेष-पर्यन्त सर्ग बुद्धिपूर्वक रचना है। चेतन-सापेक्ष ही प्रकृति सर्गोन्मुखता की ओर प्रवृत्त होती है; स्वतः स्वतन्त्र रूप से नहीं। प्रकृति का स्वातन्त्र्य सांख्य को केवल इतने अंश में स्वीकृत है कि वह जगत् की उपादानकारणता के लिए अन्य किसी को सहयोगी नहीं बनाती। इस रूप में वह स्वतन्त्र है, अन्य-सापेक्ष नहीं।

सन्दर्भ का अगला भाग है—

उत्पन्नकार्यकरणस्तु माहात्म्यशरीर एकाकिनमात्मानमवेक्ष्याभिदध्यौ।

सन्दर्भ के 'उत्पन्नकार्यकरणः' और 'माहात्म्यशरीरः' दोनों पदों में बहुव्रीहि समास है। 'उत्पन्नानि कार्याणि करणानि च येन सः' जिसने तन्मात्र एवं भूत आदि कार्यों तथा महदादि इन्द्रिय-पर्यन्त करणों को उत्पन्न कर दिया है, वह। वह कौन है? अगले पद से बताया—'माहात्म्यशरीरः'—'माहात्म्यं अखिलं निःशेषं जगत् शरीरः यस्य सः' समस्त चराचर जगत् जिसका शरीर है, वह। इसके लिए बृहदारण्यक उपनिषद् (३.७.३) का अन्तर्यामी ब्राह्मण द्रष्टव्य है। वहाँ प्रथम पाठ है—'यः पृथिव्यां तिष्ठन्, पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति'—जो पृथिवी में अन्तर्यामी रूप से रहता हुआ पृथिवी से भिन्न है, जिसको पृथिवी नहीं जानती, पृथिवी जिसका शरीर है, जो पृथिवी से भिन्न होता हुआ पृथिवी का नियन्ता है। जैसे पृथिवी को ब्रह्म का शरीर बताया, ऐसे ही सूर्य, चन्द्र, तारा, द्यु, अन्तरिक्ष, भूत-भौतिक आदि समस्त ब्रह्माण्ड और प्राण, चक्षुः, श्रोत्र, मन आदि एवं देहादि पिण्ड तथा उसके अधिष्ठाता विज्ञान-आत्मा (जीवात्मा) यह समस्त अधिभूत, अध्यात्म जगत्-प्रकाश और अन्धकार अर्थात् सर्ग एवं प्रलय आदि सब अवस्थाओं में—ब्रह्म का शरीर है। (बृ० ३.७.३--२३)।

इस प्रकार सन्दर्भ में 'माहात्म्यशरीरः' विशेष्य पद परब्रह्म परमात्मा का बोधक है। 'उत्पन्नकार्यकरणः' विशेषण पद उसके द्वारा की गई रचना को बताता है। परब्रह्म ने अपने-आपको एकाकी देखकर ध्यान किया—**'एकाकिनमात्मानमवेक्ष्याभिदध्यौ'**—यह वाक्य उपनिषदों के उन वाक्यों का प्रतीक-रूप है, जिनमें सर्गरचना के ब्रह्मसंकल्प को मानव-वाणी द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। ऐतरेय उपनिषद् का प्रारम्भिक वाक्य है—**'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्, नान्यत् किञ्चन मिषत्, स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति।'** इसी उपनिषद् के तृतीय खण्ड के प्रारम्भ में पाठ है—**'स ईक्षत इमे नु लोकाः···अन्नमेभ्यः सृजा इति।'** छान्दोग्य (६.३) में पाठ है—**'सेयं देवतैक्षत'** इत्यादि।

सन्दर्भ के अगले भाग से ब्रह्म के अभिध्यान का स्वरूप बताया—

हन्ताहं पुत्रान् स्रक्ष्ये, ये मे कर्म करिष्यन्ति ये मां परं चापरं च ज्ञास्यन्ति।

Scanned with CamScanner

सन्दर्भ का 'हन्त' पद हर्ष अर्थ में प्रयुक्त है—बड़े हर्ष व प्रसन्नता का अवसर है जब आदिसर्ग-काल में पुत्रों का सर्जन करूँगा, जो मेरी प्राप्ति के लिए कर्म करेंगे, और जो मेरे पर एवं अपर स्वरूप को जानेंगे।

यह सब वर्णन आलंकारिक होने से बड़ा रुचिकर है। ब्रह्म के आदिसर्ग-कालिक संकल्प को मानव-स्वभाव एव मानव-वाणी द्वारा अभिव्यक्त करने का प्रयास किया गया है। प्राणि-जगत् का उद्भव आदिसर्ग में कैसे हुआ? यह दुर्ज्ञेय विषय है, प्रस्तुत सन्दर्भ में केवल उसका संकेतमात्र 'पुत्रान् स्रक्ष्ये' पदों से किया गया है।[1] स्पष्ट शब्दों में यहाँ उल्लेख न कर प्राणियों में श्रेष्ठ मानव की उन भावनाओं का वर्गीकरण किया गया है, जो सत्त्व-रजस-तमस् के सम्पर्क से प्रभावित होकर अनुकूल-प्रतिकूल, धर्म-अधर्म, राग-द्वेष, मोह-विवेक आदि द्वन्द्वों के रूप में जीवनपर्यन्त चेतन आत्मा में उभरा करती हैं। इसमें प्राणी के उद्भव का रहस्य अन्तर्हित होने के कारण यह उसके उद्भव का सम्पूर्ण रूप में तथ्य प्रतीक है। सांख्यीय दृष्टि से चेतन आत्मतत्त्व के प्रकृति-सम्पर्क में आने के केवल दो प्रयोजन हैं—भोग और अपवर्ग। उन्हीं को ध्यान में रखकर सन्दर्भ के प्रस्तुत भाग का अर्थ समझने का प्रयास करना अभीष्ट होगा। उक्त प्रयोजनों की सम्पन्नता व सिद्धि के लिए परब्रह्म के पर-अपर स्वरूप को जानना आवश्यक है। ब्रह्म का पर-स्वरूप वह है, जिसका साक्षात्कार कर चेतन आत्मा अपवर्ग प्राप्त करता है। उसका अपर स्वरूप है—परब्रह्म परमात्मा ने जगत् का निर्माण किया, जीवात्म-तत्त्व इस जगत् में बुद्धिपूर्वक कार्य करता हुआ सांसारिक सुखमय अभ्युदय को प्राप्त करता है। इस रूप में प्रत्येक शुभ कार्य के साथ परमात्मा का स्मरण मानव को सन्मार्ग पर दृढ़ रहने के लिए प्रेरित करता है।

सन्दर्भ के अगले भाग यथाक्रम वर्गीकृत भावनाओं को अपने वर्ग के रूप में प्रस्तुत करते हैं। उनमें पहला भाग है—

तस्याभिध्यायतः पञ्च मुख्यस्रोतसो देवाः प्रादुर्बभूवुः।

प्रस्तुत सन्दर्भ तथा इसी प्रसंग के अगले सन्दर्भ में 'देवाः' पद उन भावनाओं व स्थितियों के लिए प्रयुक्त हुआ है, जो त्रिगुण से प्रभावित होने पर विभिन्न आधारों व साधनों के माध्यम से मानव-जीवन में उभरतीं व आया करती हैं। उस परब्रह्म के अभिध्यान करते हुए पाँच देव प्रादुर्भूत हुए, जो मानव-जीवन के मुख्य

---

१. जो पाठक सांख्यीय दृष्टि से प्राणि-उद्भव की जानकारी में विशेष रुचि रखते हों, वे हमारी रचना 'सांख्य-सिद्धान्त' के 'विकार' प्रकरण में 'प्राणि-जगत् का प्रादुर्भाव' प्रसंग (पृष्ठ ३११--३५) का अध्ययन करने की कृपा करें। यद्यपि यह विषय अत्यन्त दुरूह है, पर वह विवेचन सन्तोष की झलक देने में पाठक को निराश न करेगा।

प्रवाह (मुख्यस्रोतस:) रूप है। मानव का जीवन इन्हीं पाँच परिस्थितियों व भावनाओं में प्रवाहित होता रहता है। सांख्य-योगशास्त्र में इन पाँच के लिए पारिभाषिक पद 'विपर्यय' है। वे पाँच हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश।[1] विपर्यय का अर्थ है—उलटा। जो जैसा है, उसे वैसा न समझकर उलटा समझना व कहना। अध्यात्म-मार्ग की भाषा में इसे कहा जाएगा—जो अश्रेयस्कर है, अर्थात् श्रेयकल्याण का करनेवाला नहीं है, उसे श्रेयस्कर=कल्याणकर समझना व कहना। मानव-जीवन इसी विपर्यय के प्रवाह पर तैरता हुआ तमाम हो जाता है। एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा, इसी सिलसिले के साथ विपर्यय के प्रवाह की उत्तुंग तरंगों पर डूबता-उतराता मानव-जीवन निरन्तर बहा करता है, यही संसार की वास्तविकता है।

मूल सन्दर्भ का लेखक आगे बढ़कर बताता है—

तेषूत्पन्नेषु न तुष्टिं लेभे। ततोऽन्ये तिर्यक्स्रोतसोऽष्टाविंशतिः प्रजज्ञिरे।

गत पंक्तियों में वर्णित पाँच देवों के प्रादुर्भूत हो जाने पर विधाता को संतोष न हुआ। मानव-जीवन की परिस्थितियों के विवरण में अभी कुछ न्यूनता रह गई है, उसे पूरा करने के लिए अन्य तिर्यक् (तिरछे) प्रवाहवाले अट्ठाईस देव प्रादुर्भूत हुए। इनको 'तिर्यक् स्रोतस' कहा गया—तिरछे प्रवाहवाले। ये एक पार्श्व से आते और घुमेर लेते हैं। ये अट्ठाईस उस प्रवाह के भँवर हैं, जिनपर मानव-जीवन तैरा करता है। यह जीवन-प्रवाह की मुख्य धारा नहीं है। इनकी प्राप्ति दूसरी ओर (पार्श्व=SIDE) से होती है। इनका पारिभाषिक एक नाम 'अशक्ति' है। कहना चाहिए इस भँवर में फँसकर मानव-जीवन शक्तिहीन हो जाता है। अशक्ति का स्वरूप है साधनों के विकल—विकृत—दूषित हो जाने से सामर्थ्यहीन हो जाना।

जीवन-प्रवाह को निर्बाध संचालित करने के लिए एकादश इन्द्रियाँ हैं। किसी भी इन्द्रिय में विकलता-दोष उत्पन्न हो जाने से वह अपने निसर्गप्राप्त कार्य करने में अशक्त हो जाती है। यह जीवन-प्रवाह में एक भँवररूप बाधा है, जीवन को अपने सरल-सीधे प्रवाह में बहने से रोकती है। ग्यारह इन्द्रियों में विविध विकलताओं के उभर आने से ये ग्यारह अशक्ति 'एकादश इन्द्रियवध' नाम से सांख्य-योगशास्त्र में जानी जाती हैं। अभी प्रस्तुत प्रसंग में नौ तुष्टि और आठ सिद्धि के रूप में जीवन-यात्रा के सत्रह देवों का उल्लेख अनुपद होना है। इन सत्रह के विपर्यय से जो विकलता जीवन-प्रवाह की इन परिस्थितियों में पैदा हो जाती है और तुष्टि-सिद्धि अपने यथायथ रूप में नहीं चल पातीं, ये सत्रह अशक्ति भी जीवन-प्रवाह के भँवर हैं। इस प्रकार ग्यारह इन्द्रिय-वध तथा सत्रह तुष्टि-सिद्धि-वध,

---

१. इनकी उपयुक्त व्याख्या योगदर्शन के सूत्रों (२.३.६) पर विद्योदयभाष्य में देखें।

दोनों मिलाकर अट्ठाईस 'अशक्ति' हैं, जो जीवन-प्रवाह में भँवर का अभिनय पूरा करती हैं।[1]

मूल सन्दर्भ का लेखक जीवन-प्रणाली की रचना-प्रक्रिया को आगे बढ़ाता हुआ कहता है—

तेष्वप्यस्य मतिर्नैव तस्थे, अथापरे नवोर्ध्वस्रोतसो देवाः प्रादुर्बभूवुः ।

उन अट्ठाईस अशक्तिरूप देवों के प्रादुर्भूत हो जाने पर भी उस अभिध्याता विधाता की मति ठहरी नहीं, अर्थात् इतना प्रादुर्भाव हो जाने पर भी उसे सन्तोष नहीं हुआ; कुछ न्यूनता किसी ओर दिखाई दी; तब उसने ऊपर को प्रवाहवाले (ऊर्ध्वस्रोतस) नौ देवों को प्रादुर्भूत किया। इन नौ देवों का जीवन-प्रवाह में क्या स्थान है? यह 'ऊर्ध्वस्रोतसः' विशेषण पद से अभिव्यक्त होता है। शास्त्र में इन नौ देवों का पारिभाषिक एक नाम 'तुष्टि' बताया गया है। तुष्टि का स्वरूप—जिस कार्य को हम उसकी अन्तिम सीमा तक पूरा करना चाहते हैं, उसके न्यून सम्पादन में ही अपने को कृतकृत्य अथवा सन्तुष्ट मान लेना है। तात्पर्य है—अभीष्ट कर्मों के प्रारम्भिक अनुष्ठान में ही सन्तोष का अनुभव करना 'तुष्टि' है। ये कर्मानुष्ठान अनुष्ठाता को श्रेयस्कर मार्ग पर ले-जाने में सहायक होते हैं। इसी कारण इनको 'ऊर्ध्वस्रोतस' कहा गया है। जीवन-यात्रा में इनका प्रवाह जीवन को ऊपर की ओर, उन्नति की ओर ले-जानेवाला होता है। सांसारिक विषयों से विमुख होकर अध्यात्म-मार्ग पर चलते हुए परब्रह्म की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहना इसका परम ध्येय माना गया है। मन, वचन, कर्म से अहिंसा की पूर्ण निष्ठा पर पहुँचना इसका अन्तिम उद्देश्य रहता है। सब प्रकार से अहिंसा की प्रतिष्ठा में सन्निहित हो जाने पर समस्त विश्व अनुष्ठाता को अपना आत्मीय दिखाई देता है। द्वेषमूलक हिंसा सब संघर्षों की जड़ है। इस स्तर पर आकर ध्याता के लिए उसकी नितान्त समाप्ति हो जाती है।

सर्ग-प्रक्रिया में यहाँ तक विवरण प्रस्तुत कर मूल सन्दर्भ का लेखक आगे बढ़ता हुआ बताता है—

तेष्वप्युत्पन्नेषु नैव कृतार्थमात्मानं मेने। ततोऽन्येऽष्टावर्वाक् स्रोतसः उत्पेदुः ।

मानव की जीवन-यात्रा में नौ तुष्टि नामक भावनाओं व परिस्थितियों के उभर आने पर भी विधाता ने अपने-आपको कृतार्थ नहीं माना। किसी कोने में छिपी कोई सर्ग-विषयक न्यूनता अब भी उसे दिखाई दी, जब उसने नीचे को प्रवाह वाले (अर्वाक् स्रोतसः) आठ देवों को उत्पन्न किया। ये आठ देव जीवन-यात्रा के वे स्तर हैं जहाँ इस यात्रा का सिलसिला अपना दम तोड़ता दिखाई देता है। क्योंकि

---

१. इनका विस्तृत विवरण हमारी रचना 'सांख्य-दर्शन का इतिहास' द्वितीय संस्करण में पृष्ठ १८९ से १९२ में द्रष्टव्य है।

जीवन-प्रवाह की धारा के नैरन्तर्य को तोड़नेवाला—बन्द कर देनेवाला यह स्तर है, इसीलिए इसे 'अर्वाक् स्रोतस' कहा गया है। यहाँ पहुँचकर जीवन-स्रोत की समाप्ति दिखाई देने लगती है। सांख्य-योगशास्त्र में इन आठ देवों का पारिभाषिक नाम 'सिद्धि' है। इसका तात्पर्य है अपने अभीष्ट को पूर्ण रूप से प्राप्त कर लेना। तुष्टि और सिद्धि नामक सत्रह देवों का विवरण 'सांख्य-दर्शन का इतिहास' (द्वितीय संस्करण) के पृष्ठ १८६-६० पर द्रष्टव्य है।

विपर्यय— ५
अशक्ति—२८
तुष्टि— ६
सिद्धि— ८
———
५०

जगत् की सर्गप्रक्रिया में मानव-प्राणी के प्रादुर्भूत हो जाने पर उसकी जीवन-यात्रा में उभरनेवाली भावनाओं व परिस्थितियों का पचास 'प्रत्ययसर्ग' के रूप में यह विवरण है। यह सर्ग वस्तुतत्त्वरूप नहीं है। 'महत्' से लगाकर 'विशेष'-पर्यन्त सर्ग वस्तुतत्त्वरूप है; पर यह सर्ग ऐसा नहीं। चेतन आत्मा की जानकारी के अनुरूप जो भावनायें व परिस्थितियाँ जीवन-यात्रा में उभरती हैं, उन्हीं का यह विवरण है। प्रत्यय का अर्थ है ज्ञान व विचार। इसी आधार पर उभरनेवाली भावनाओं को 'प्रत्ययसर्ग' यथार्थ नाम दिया गया है।

मूल सन्दर्भ का लेखक सन्दर्भ के अन्तिम अंश से प्रसंग का उपसंहार करता हुआ लिखता है—

एवं तस्माद् ब्रह्मणोऽभिध्यानादुत्पन्नः, तस्मात् प्रत्ययसर्गः।

उक्त प्रकार ब्रह्म के अभिध्यान-चिन्तन-विचार व संकल्प से अभिव्यक्त होने के कारण यह विपर्यय आदि सर्ग 'प्रत्ययसर्ग' नाम से कहा जाता है।

प्रसंग के प्रारम्भ में 'माहात्म्यशरीरः' पद परब्रह्म परमात्मा का बोधक है। वहाँ उसका विशेषण पद 'उत्पन्न कार्यकरणः' उक्त अर्थ को पुष्ट करता है। उपसंहार-वाक्य में सन्दर्भकार ने ब्रह्म पद का स्पष्ट निर्देश कर दिया है।

जगत् की उत्पत्ति में परमात्मा परब्रह्म हेतु अर्थात् निमित्तकारण रहता है। भूतादि कार्य एवं इन्द्रियादि साधनों को उत्पन्न करनेवाला वही है; तथा उनके उत्पन्न होने पर ही चेतन जीवात्म-तत्त्व में विपर्यय आदि भावना उभर पाती हैं, इसी कारण अन्य सर्ग के प्रसंग में इनका सर्ग भी औपचारिक रूप से परब्रह्म के अभिध्यान द्वारा वर्णित किया है। इस आलंकारिक व औपचारिक वर्णन में किसी प्रकार की विसंगति का उभारना असंगत होगा।

प्रत्ययसर्ग का जो विवरण उक्त सन्दर्भ द्वारा प्रस्तुत किया गया है, उसका

मूल स्थान सांख्यदर्शन (३.३७--४५) सूत्रों में द्रष्टव्य है। इन सूत्रों के विद्योदय-भाष्य में उपयुक्त तत्सम्बन्धी अन्य विवरण भी प्रस्तुत कर दिया गया है। सूत्रों के आधार पर ईश्वरकृष्ण-कृत सांख्यकारिका में ४७वीं आर्या भी इस विषय में द्रष्टव्य है ॥१४॥

जगद्रचना की प्रक्रिया में मूलतत्त्व सत्त्व-रजस्-तमस् के अन्योन्यमिथुनीभूत होकर परिणाम का क्रम वैषम्य की ओर प्रारम्भ होता हुआ रचना के स्तरों को— महत् से लगाकर विशेष-संज्ञक पृथिवी आदि भूत-पर्यन्त तत्त्वों को—अभिव्यक्त करता है। आगे भौतिक रचनाओं में यह परिणाम-क्रम निरन्तर चालू रहता है, यह अग्रिम सन्दर्भ से प्रस्तुत है—

जलभूम्योः पारिणामिकं रसादिवैश्वरूप्यं स्थावरेषु दृष्टम्;
तथा स्थावराणां जंगमेषु, जंगमानां स्थावरेषु ॥ १५ ॥

जल और भूमि के परिणामजनित रस, रूप, गंध, स्पर्श आदि की विश्वरूपता-विविधता स्थावरों में देखी जाती है; इसी प्रकार स्थावरों के परिणामजनित रसादि की विविधता जंगम प्राणियों में, एवं जंगम प्राणियों के परिणामजनित रसादि की विविधता स्थावरों में देखी जाती है।

सन्दर्भ द्वारा जल और भूमि को समासरूप में दिखाया है। इससे तात्पर्य प्रकट होता है कि जल और भूमि मिलकर जिन परिणामों को प्रस्तुत करते हैं, वे परिणाम विविध रस आदि के रूप में स्थावरों में देखे जाते हैं। स्थावर पद तृण, गुल्म, लता, ओषधि, अन्न, वृक्ष, शाक, सब्जी आदि सभी का ग्रहण करता है, जो भूमि और जल के परस्पर मिलने पर अपने बीजों के अनुरूप उत्पन्न होते हैं। सन्दर्भ के जल और भूमि पद शेष भूतों के उपलक्षण हैं; उनको भी यहाँ सम्मिलित किया जाना अपेक्षित है। इन भूतों के परस्पर सम्पर्क से उत्पन्न हुए वृक्ष, लता, ओषधि, वनस्पतियों के फूल, पत्ते, फल आदि में रस-रूप-गंध-स्पर्श आदि विविधता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती हैं। यह सरलतया अगणित विविधताओं का दर्शन भूतों के निरन्तर चालू परिणाम-प्रक्रिया का फल है। पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, प्रत्येक भूत इन विविध परिणामों में अपना उपयुक्त सहयोग प्रदान करता है। पर्वतीय प्रदेशों में अनेक ऐसे ढलान हैं, जो मीलों तक विविध रंगों के फूल-पत्तों से भरे हैं। पौधे की ऊँचाई प्रायः हाथ भर-से अधिक नहीं; ऊँचाई में सारा ढलान एक-जैसा ऊपर से छाँटा गया-सा दिखाई देता है। लेखक ने स्वयं एक ऐसा ढलान हिमाचल राज्य के सिरमौर मण्डल में लगभग बारह हज़ार फीट की ऊँचाईवाली चूड़ धार के समीप देखा है। कश्मीर, गढ़वाल एवं कुमायूँ प्रदेशों में अनेक ऐसे ढलान हैं, जहाँ प्रकृति नटी अपने चमत्कारपूर्ण विविध परिणामों के रूप में नग्न नृत्य करती दिखाई देती है।

सन्दर्भ में 'जलादीनाम्' अथवा 'भूम्यादीनाम्' रूप से एक ही 'जल' या 'भूमि'

Scanned with CamScanner

पद का निर्देश न कर जो दोनों पदों का स्पष्ट उल्लेख किया है, उससे प्रतीत होता है, सन्दर्भकार यह प्रकट करना चाहता है कि जल और भूमि में स्वत: भी अन्य सम्पर्क से विविध रसादि परिणाम होते रहते हैं। विभिन्न प्रदेशों में जल मधुर, खारा, कसैला आदि विविध रसयुक्त पाया जाता है। भूमि में रूप-गन्ध-रस आदि की विविधता का विभिन्न प्रदेशों में पाया जाना सर्वसंवेद्य है। तेज में भी विविध प्रकार के श्वेत, रक्त, हरित, नील रंगों की लपटें उभरती देखी जाती हैं। वायु में भी ठण्डा, गर्म, तीव्र, मन्द आदि स्पर्श का अनुभव प्रत्येक व्यक्ति को होता है। सन्दर्भ में जल-भूमि पद वायु-अग्नि के भी उपलक्षण हैं। इससे स्पष्ट होता है स्वत: भूतों में भी अन्य सम्पर्क से विविध परिणाम चालू रहते हैं।

सन्दर्भ का अन्तिम भाग—'तथा स्थावराणां जंगमेषु जंगमानां स्थावरेषु' विचारणीय है। तात्पर्य है—जैसे भूतों का रसादि विविध परिणाम स्थावरों में देखा जाता है, उसी प्रकार स्थावरों का रसादि रूप से जंगम प्राणियों में तथा जंगम प्राणियों का विविध रसादि परिणाम स्थावरों में देखा जाता है। इसमें दो भाग हैं। पहला है—स्थावरों का जंगम प्राणियों में रसादि विविध परिणाम। दूसरा है इसका उलट—जंगम प्राणियों का स्थावरों में विविध रसादि परिणाम।

पहले का विवरण प्रस्तुत है—कन्द, फल, फूल, सब्ज़ी, अन्न आदि—स्थावर-वर्ग की सामग्री का जंगम प्राणी द्वारा उपयोग किये जाने पर उसके परिणामस्वरूप प्राणी-देह में विविध रस आदि का निर्माण होकर प्राणी की जीवन-प्रक्रिया के संरक्षण, संचालन, शक्ति-उद्भावन आदि में उपयुक्त सहयोग प्रदान करता है। यह स्थावरों के जंगम प्राणी में रसादि विविध परिणाम देखे जाने की स्थिति है।

दूसरे भाग का इसी प्रकार—जंगम प्राणियों द्वारा प्रस्तुत की गई सामग्री का स्थावरों में उपयोग विविध रसादि परिणाम का जनक होता है। स्थूल रूप में स्थावर-सामग्री से देहोपयोगी रस लेकर देह से उत्सृष्ट प्राणी का मल-मूत्र स्थावरों में रसादि परिणाम के लिए उर्वर खाद के रूप में प्रयोग किया जाता है।

न केवल प्राणी-शरीर से उत्सृष्ट मल-मूत्र, अपितु प्राणी-देह का प्रत्येक अंग—रक्त, मांस, अस्थि आदि का खाद-रूप से स्थावरों में किया गया उपयोग उनमें रस-रूप आदि विविध परिणामों का जनक होता है। इस प्रकार स्थावर और जंगम प्राणियों में पारस्परिक आदान-प्रदान की नैसर्गिक प्रक्रिया निरन्तर चला करती है। आधुनिक विज्ञान ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि पौधों में प्रकाश-संश्लेषण (भोजन बनाने की क्रिया) के लिए कार्बन डाइ-ऑक्साइड (Carbon dioxide) प्राणियों से प्राप्त होता है।

महात्मा गांधी के कट्टर अनुयायी प्रसिद्ध अर्थशास्त्री जे० सी० कुमारप्पा ने महात्मा गांधी के समाजवाद का विवरण देते हुए विभिन्न लेखों द्वारा जो निष्कर्ष प्रस्तुत किया है, उसका सार केवल इन पदों द्वारा अति संक्षेप में प्रकट किया जा

सकता है कि आर्थिक आधार पर आदान-प्रदान की यथायथ व्यवस्था ही सच्चा समाजवाद है। समाज की स्थिरता एवं दृढ़ता के लिए आदान-प्रदान का सन्तुलन अत्यन्त आवश्यक है। इनमें से किसी एक का अतिशय आधिक्य समाज की कमर तोड़ देता है। उस समाज में विसंगतियाँ और वैषम्य उभरकर सन्तुलित व्यवस्था को नष्ट-भ्रष्ट कर समाज को दुर्बल-शक्तिहीन बनाने के आधार बन जाते हैं; वह समाज कभी सुखी नहीं रहता। सम्भव है, महात्माजी ने प्रकृति के इस नैसर्गिक आदान-प्रदान की नियमित व्यवस्था को अपनी आन्तर दृष्टि से समझकर उसीके अनुरूप समाजवाद की कल्पना की हो।

जिस प्रकार स्थावर-जंगम क्षेत्र में पारस्परिक प्राकृतिक परिणाम अपनी इस नैसर्गिक एवं सन्तुलित आदान-प्रदान की व्यवस्था पर सदा सक्षम व कार्यरत बने रहते हैं, इसी प्रकार इसके अनुरूप चलता हुआ समाज भी सदा सक्षम, सबल व स्थिर बना रहता है।

गीता में भगवान् कृष्ण ने इस प्राकृतिक व्यवस्था को निम्नलिखित तीन श्लोकों द्वारा रुचिकर रीति पर प्रस्तुत किया है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥
इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥

आदि-सृष्टिकाल में प्रजापति परमात्मा ने यज्ञ-प्रक्रिया के साथ प्रजाओं का—प्राणियों का—सर्जन कर कहा—इस यज्ञ के द्वारा अपने-आपको बढ़ाओ; उन्नत करो; यज्ञ का यह प्रकार तुम्हारी अभिलषित कामनाओं को पूर्ण करनेवाला होवे।

यहाँ 'यज्ञ' पद प्रज्वलित अग्नि में घृत-सामग्री आदि की आहुतिमात्र छोड़ने के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ। इस पद की सिद्धि—देवपूजा, संगतिकरण और दान अर्थवाले 'यज्ञ' धातु से मानी गई है। ओषधि, वनस्पति, अन्न, शाक, फल, फूल आदि स्थावर-मात्र में जो जीवनप्रदायिनी शक्तियाँ अन्तर्हित रहती हैं, उनको यहाँ 'देव' पद से कहा गया है,—उन देवों की पूजा का अभिप्राय है, प्राणी द्वारा अपने-आपको देवों के प्रति समर्पण कर देने की प्रक्रिया से उनको सदा पुष्ट बनाए रखना। उन शक्तियों (अन्तर्हित देवों) को भारतीय वाङ्मय में—सहस्, ओजस्, तेजस्, वर्चस् आदि पदों से याद किया गया है। आधुनिक विज्ञान में उन्हीं देवों को विटामिन (VITAMIN) ए०, बी०, सी०, डी० आदि रूप में वर्णित किया जाता है। भारतीय वैदिक जन प्रतिदिन प्रातः-सायं प्रातीकिक यज्ञ-प्रक्रिया को—देवों की

पुष्टि के लिए विविध साधन प्रदान करने के द्वारा—पूरा करता हुआ वर्चस्, ओजस् आदि शक्तियों को अपने में समाहित करने की भावना से प्रार्थना किया करता है—'वर्चोदा असि वर्चो में धेहि, ओजोऽस्योजो मयि धेहि, तेजोऽसि तेजो मयि धेहि।'

इसी भावना को धातु के दूसरे अर्थ 'संगतिकरण' से अभिव्यक्त किया गया है। स्थावर और जंगम में इस प्रकार परस्पर आदान-प्रदान द्वारा सदा सामञ्जस्य बना रहे; इनकी परस्पर सहानुभूति-सहयोग ही इनके पुष्ट रहने का एकमात्र आधार है। इनमें विसंगति की स्थिति दोनों के लिए आपत्तिजनक हो सकती है। इनमें कभी विसंगति न हो, इसके आधार को तीसरा अर्थ 'दान' स्पष्ट करता है। जब दोनों एक-दूसरे के लिए अपने-आपको प्रदान करने—समर्पण कर देने के लिए प्रस्तुत रहते हैं, तो इनमें विसंगति आने की आशंका कभी नहीं रहती।

इसी देवपूजामय संगतिकरण की भावना को गीता के अगले दूसरे श्लोक से अभिव्यक्त किया है—इस प्रदान की यज्ञिय भावना से देवों को—स्थावरगत जीवनी शक्तियों को—सत्कृत, पूजित, पुष्ट करो; और वे शक्तियाँ तुम्हें (जंगमों को) भावित करें, पुष्ट करें। इस प्रकार परस्पर एक-दूसरे को पुष्ट करते हुए परम कल्याण को प्राप्त करो। परस्पर सहानुभूतिपूर्ण आदान-प्रदान की भावना से परिपुष्ट एवं प्रतिष्ठित ऐसा समाज सब प्रकार ऐहिक अभ्युदय को प्राप्त करने में समर्थ रहता है। जंगम शरीरों में करण (इन्द्रियाँ आदि) ही 'देव' हैं, जिनके द्वारा शरीर में होनेवाली क्रियाओं व भावनाओं का संचालन होता है।

अन्तिम श्लोक में प्रसंग का उपसंहार करते हुए प्रजापति ने बताया—जंगम प्राणियों द्वारा देवों के भावित-सत्कृत-पुष्ट होने पर वे देव (स्थावरगत जीवनी शक्तियाँ) तुम्हें (जंगम प्राणियों को) अभिलषित भोग प्रदान करेंगे। मानव आदि समस्त प्राणियों को जीवन-निर्वाह व संचालन के लिए सब प्रकार का विशुद्ध आहार स्थावर-वर्ग से ही प्राप्त होता है। यदि वह सब प्राप्त करके जंगम-वर्ग स्थावर-वर्ग के लिए उनके पोषक साधनों का प्रदान नहीं करता तो यह व्यवहार चोरी करने के ही समान है। आजकल प्रदूषण का हो-हल्ला इसी कारण है कि मानव-समाज चोर के स्तर पर आ खड़ा हुआ है। वह वातावरण को शुद्ध, दोष-रहित रखने तथा स्थावर-वर्ग को निर्दोष व पुष्ट रखने की भावना को खो चुका है। इसी कारण आये-दिन नये-नये रोगों एवं तज्जनित विविध बाधाओं से प्रजा-जन संत्रस्त है। ऐहिक अभ्युदय के अनुसार चमत्कारपूर्ण साधनों का उद्भावन भी त्रास को दूर करने में कारगर दिखाई नहीं देता। इसकी खोज समाज-व्यवस्था में ही की जानी चाहिए।

प्रस्तुत सन्दर्भकार ने कदाचित् समाज-व्यवस्था के रहस्य को अन्तिम छोर तक समझकर सन्दर्भ के अन्तिम पद लिखे—'स्थावराणां जंगमेषु, जंगमानां

स्थावरेषु'। यह सन्दर्भ पातंजल योगदर्शन (३.१४) सूत्र के व्यासभाष्य में 'यत्रोक्तम्' कहकर उद्धृत है ॥१५॥

इस परिणामक्रम में कौन रहता और कौन व्यावृत्त होता है, इसकी व्यवस्था को स्पष्ट करते हुए सन्दर्भकार ने बताया—

एक जातिसमन्वितानामेषां धर्ममात्रव्यावृत्तिः ॥ १६ ॥

एक जाति से समन्वित = सम्बद्ध इन भूतों—पृथिवी आदि के केवल धर्म की व्यावृत्ति = परिणति होती है, अन्वयी धर्मी बना रहता है।

भूतों पर विजय प्राप्त करने के लिए जो पद्धति आचार्यों ने बताई है, उसमें भूतों के पाँच रूप—स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय, अर्थवत्त्व कहे गए हैं। भूतों के इन पाँच रूपों में संयम करने से सफलता के स्तर पर पहुँचकर योगी भूत-विजयी हो जाता है। उस अवस्था में योगी इच्छानुसार भूतों से कार्य ले सकता है। भूतों के स्थूल आदि रूपों का विवरण निम्न प्रकार है—

स्थूल—पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, इन पाँच भूतों का स्थूल रूप वही है, जो इनके अपने-अपने विशेष आकार आदि के साथ हमारे अनुभव में आता है। जैसे पार्थिव धर्म हैं गुरुता, रूक्षता, काठिन्य आदि। जलीय धर्म हैं—स्नेह, मृदुता, शुक्लता आदि। तैजस धर्म हैं—ऊर्ध्वगति, दाहकता, भास्वरता आदि। वायवीय धर्म हैं—तिर्यग्गति, पवित्रता, नोदन, छायाराहित्य आदि। आकाशीय धर्म हैं—सर्वत्र व्याप्ति, संकोच-विकास से रहित, किसी मूर्ति या रचना आदि के रूप में न होना। इन धर्मों के रूप में पृथिवी आदि भूतों का जो आकार हमारे सामने है, वह इनका 'स्थूल' नामक रूप है।

स्वरूप—पृथिवी आदि भूतों का जो अपना सामान्य रूप है, उसी को यहाँ 'स्वरूप' पद से कहा गया है, जैसे पृथिवी का स्वाभाविक काठिन्य तथा गंध आदि; जल का मृदुता, शैत्य, स्नेह आदि; अग्नि का उष्णता व प्रकाश आदि; वायु का गतिशील होना आदि; आकाश का सर्वत्र व्याप्त होना तथा शब्द आदि। सांख्य-योगशास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार धर्म-धर्मी का अभेद मानने पर पृथिवी आदि भूतों का यह 'स्वरूप' नामक रूप है। यह सामान्य स्वरूप है। इनके विशेष धर्म यथाक्रम इस प्रकार हैं—पृथिवी के काठिन्य में न्यूनाधिकता आदि तथा गन्ध के सुरभि-असुरभि आदि। जल में हल्का, भारी, तथा शैत्य में न्यूनाधिकता एवं रस में मीठा, कसैला, खारी आदि। तेज के औष्ण्य व प्रकाश में न्यूनाधिकता आदि। वायु में गति की तीव्रता, मन्दता आदि। आकाश में शब्द के षड्ज-गान्धार आदि तथा मृदु-तीव्र आदि विशेष धर्म रहते हैं।

वस्तु के परिणामक्रम में अन्वयी धर्मी एक-बराबर बना रहता है, केवल धर्म व्यावृत्त अथवा प्रादुर्भूत होता रहता है। उदाहरण के लिए पृथिवी को लेते हैं। सूक्ष्म परमाणु से लेकर स्थूल रूप तक के प्रत्येक प्रकार में पृथिवीत्व एक जाति से

समन्वित पृथिवीरूप धर्मी सर्वत्र समान रूप से विद्यमान रहता है; केवल धर्मों—अणु, महत्, परिमाण, सुरभि-असुरभि आदि गन्ध, कटु-कषाय आदि रस, नील-पीत आदि रूप, मार्दव-काठिन्य आदि स्पर्श का व्यावर्त्तन व प्रादुर्भाव होता है। पार्थिव परिणामों में अन्य उदाहरण लीजिए—गाय। प्रत्येक गाय छोटी बड़ी, काली-गोरी, दूध देनेवाली/न-देनेवाली, वन्ध्या-प्रसूता आदि में गोत्व सामान्य बराबर रहता है; गायपन सब में समान रूप से रहने पर यह कथन पूर्ण रूप से तथ्य है कि पृथिवी आदि भूतों की परिणाम-परम्परा में अन्वयी धर्मी बराबर बना रहता है; केवल परिमाण, रूप आदि धर्मों की व्यावृत्ति होती है।

भूतों के अन्य रूप—सूक्ष्म, अन्वय, अर्थवत्व का विवरण प्रस्तुत प्रसंग में अनपेक्षित है। भूतजय-सिद्धि प्राप्त करने के लिए भूतों के इन रूपों में संयम करने का विधान आचार्यों ने किया है। पातञ्जल योगदर्शन-सूत्र (३.४४) के विद्योदय-भाष्य में इनका व्याख्यान कर दिया गया है ॥१६॥

पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, इन पाँच भूतों में से पहले तीन को चक्षु इन्द्रिय द्वारा साक्षात् देखा जाता है। वायु का भी त्वक् इन्द्रिय से स्पर्शग्रहण के साथ अनुभव प्रत्येक व्यक्ति को होता है। परन्तु पाँचवें भूत आकाश के अस्तित्व में क्या प्रमाण है? इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए मानो सन्दर्भकार कहता है—

तुल्यदेशश्रवणानामेकदेशश्रुतित्वं सर्वेषां भवति ॥ १७ ॥

यह सन्दर्भ पातञ्जल योगदर्शन-सूत्र (३.४१) के व्यास-भाष्य में 'यथोक्तम्' कहकर उद्धृत है। भाष्य की तत्त्ववैशारदी व्याख्या में वाचस्पति मिश्र ने 'तथा च पञ्चशिखस्य वाक्यम्' कहकर इसी सन्दर्भ का उल्लेख किया है।

समस्त श्रोत्र इन्द्रियों का अधिष्ठान-आयतन-आश्रय है—आकाश, और वही सब प्रकार के शब्दों का आश्रय है। इतना लिखकर व्यासभाष्य में 'यथोक्तम्' वाक्य के साथ उक्त सन्दर्भ को उद्धृत किया गया है। इससे ज्ञात होता है—उक्त सन्दर्भ उसी भाव अथवा अर्थ को कहता है, जो भाष्य की प्रथम पंक्ति में प्रकट किया है।

सन्दर्भ के 'तुल्यदेशश्रवणानाम्' समासयुक्त पद में 'श्रवण' पद 'श्रोत्र' इन्द्रिय का वाचक है। 'श्रूयते अनेन इति श्रवणम्' जिससे सुना जाय, अर्थात् सुनने का साधन। सुनने अर्थवाले 'श्रु' धातु से 'करण' अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय होकर 'श्रवण' पद सिद्ध होता है। सुनने का साधन 'श्रोत्र' इन्द्रिय है। सन्दर्भ के प्रथम समासयुक्त पद में बहुव्रीहि समास है—'तुल्यदेशानि श्रवणानि=श्रोत्राणि येषां चैत्रमैत्रादिजनानां ते तुल्यदेशश्रवणः, तेषां तुल्यदेशश्रवणानाम्' जिन चैत्र-मैत्र आदि विभिन्न व्यक्तियों के श्रोत्र इन्द्रियों का देश=अधिष्ठान=आश्रय, तुल्य=समान है, अर्थात् एक है; ऐसे उन सभी व्यक्तियों के श्रोत्र इन्द्रियों द्वारा एक देश=एक अधिष्ठान में ही शब्द का सुना जाना सम्भव होता है—(एक देशश्रुतित्वं सर्वेषां भवति)।

तात्पर्य है—शब्द और शब्द के सुनने का साधन श्रोत्र इन्द्रिय, इन दोनों का

अधिष्ठान—आश्रय आकाश है। क्योंकि प्रत्येक प्राणी अपनी योनि के अनुसार शब्दों को बोलता और सुनता है, यह व्यवस्था उन दोनों (शब्द और श्रोत्र) के आश्रयभूत आकाश के अस्तित्व को सिद्ध करती है। यह व्यवस्था पृथिवी आदि शेष चार भूतों में सम्भव नहीं, क्योंकि वे सर्वत्र व्याप्त नहीं हैं। जल के मध्य में ध्वनि होती व सुनी जाती है, परन्तु वहाँ पृथिवी, तेज, वायु नहीं रहते। पृथिवी के अन्दर ध्वनि होती है, परन्तु वहाँ वायु व जल नहीं रहते। अन्तरिक्ष में ध्वनि होती व सुनी जाती है, परन्तु वहाँ पृथिवी व तेज नहीं रहते; पर उक्त सभी स्थलों में आकाश का अस्तित्व बराबर है। इस प्रकार शब्द के प्रादुर्भाव और सुने जाने की व्यवस्था आकाश के अस्तित्व की निर्बाध साधक है।

इन्द्रियाँ सभी-की-सभी आहंकारिक हैं। इनका प्रादुर्भाव व परिणाम अहंकार तत्त्व से होता है; यह संख्या १३ के सन्दर्भ द्वारा स्पष्ट किया गया है। परन्तु अपने कार्य-व्यापार में रत रहते सभी इन्द्रियों के आधार भूत रहते हैं। जिस इन्द्रिय द्वारा जिस गुण का ग्रहण किया जाना है, उस इन्द्रिय का आधार वही भूत रहता है, जो व्यवहार में उस ग्राह्य गुण का आधार माना जाता है। जैसे घ्राण द्वारा गन्ध का ग्रहण किया जाना है, गन्ध का आधार पृथिवी है; पार्थिव तत्त्व ही घ्राण के आधार रहते हैं। ऐसे ही रसन इन्द्रिय का आधार आप्य तत्त्व, चक्षु के तैजस तथा त्वक् के वायवीय तत्त्व हैं।

श्रोत्र इन्द्रिय का देह में स्थान कर्णशष्कुली-विवरगत आकाश है। यह इन्द्रिय आहंकारिक होता हुआ अयस् (लौह धातु) के समान है। वक्ता के मुख से समुद्-भूत होता हुआ मुखस्थित शब्द अयस्कान्तमणि (चुम्बक=Magnet) के समान है। इससे आकृष्ट हुआ श्रोत्र इन्द्रिय अपनी वृत्ति—व्यापार-परम्परा के द्वारा वक्ता के मुख तक आया हुआ उच्चरित शब्द का बोध कराता है। इन्द्रिय द्वारा विषय-ग्रहण के विषय में यह विवरण वाचस्पति मिश्र ने योगसूत्र (३.४१) की तत्त्ववैशारदी में प्रस्तुत किया है।

पूर्वोक्त विवरण के अनुसार उक्त सन्दर्भ का निचोड़, अर्थ केवल इतना है—विभिन्न स्थानों पर विभिन्न व्यक्तियों द्वारा श्रोत्र इन्द्रिय-साधन से जो शब्द सुने जाते हैं, उन श्रोत्र इन्द्रिय और शब्दों का एकमात्र आधार 'आकाश' तत्त्व है। यह शब्द श्रवण-व्यवहार आकाश-तत्त्व के अस्तित्व में 'सुपुष्ट' प्रमाण है॥१७॥

मूल प्रकृति एवं महदादि भूतपर्यन्त प्रकृति-विकारों के विषय में उपयुक्त विवरण प्रस्तुत कर सन्दर्भकार पुरुष तत्त्व के विषय में प्रसंगागत संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत करता है—

अयन्तु खलु त्रिषु गुणेषु कर्त्तृषु अकर्त्तरि च पुरुषे तुल्यातुल्यजातीये चतुर्थे तत्क्रियासाक्षिण्युपनीयमानान् सर्वभावानुपपन्नाननुपश्यन् न दर्शनमन्यच्छंकते॥ १८॥

यह सन्दर्भ पातञ्जल योग-दर्शन के सूत्र (२.१८) पर व्यासभाष्य में उद्धृत है। मूल सूत्र में भूत और इन्द्रिय-रूप दृश्य जगत् का निरूपण है, जो जीवात्म पुरुष के भोग और अपवर्ग-प्रयोजन की सिद्धि के लिए है। सूत्र में यह भी निर्देश कर दिया गया है कि भूत तथा इन्द्रियरूप दृश्य जगत् त्रिगुणात्मक है तथा इसी कारण प्रकाशस्वभाव सात्त्विक होने से, क्रियास्वभाव राजस होने से तथा स्थितिस्वभाव तामस होने से है। प्रत्येक दृश्य वस्तु में यथायथ इस प्रकार की व्यवस्था देखी जाती है।

सांख्य-योग में 'पुरुष' पद चेतन तत्त्व के लिए पारिभाषिक रूप में प्रयुक्त होता है। इसके अनुसार जीवात्मा और परमात्मा दोनों प्रकार के चेतन तत्त्वों का प्रसंग के अनुरूप इस पद से बोध होता है। प्रस्तुत मूल सूत्र में जीवात्म-पुरुष के भोग और अपवर्ग की सिद्धि के लिए भूतेन्द्रियात्मक दृश्य का निरूपण है। मूल सूत्र के प्रत्येक पद की विस्तृत व्याख्या करते हुए भाष्यकार व्यास ने इसी (भोग-अपवर्ग के) प्रसंग में प्रस्तुत सन्दर्भ को उद्धृत किया है। वाचस्पति मिश्र ने भाष्य की व्याख्या तत्त्ववैशारदी में 'तथा चोक्तं पञ्चशिखेन' कहकर उक्त सन्दर्भ का अवतरण किया है। जीवात्म-पुरुष के लिए उक्त दो प्रयोजनों के अरिरिक्त अन्य कोई दर्शन—ज्ञेय प्रयोजन अपेक्षित नहीं होता, यह कहते हुए भाष्यकार 'तथा चोक्तम्' कहकर सन्दर्भ को उतारता है—'अयन्तु खलु' इत्यादि।

सन्दर्भ का पहला 'अयम्' सर्वनामपद जीवात्म-पुरुष का बोधक है। वाक्य में यह कर्त्तृपद है; आगे सन्दर्भ में प्रयुक्त 'अनुपश्यन्' तथा 'शंकते' क्रियापदों का कर्त्ता है। सांख्य-योगशास्त्र के व्याख्या-ग्रन्थों में अनेकत्र प्रकृति एवं सत्त्व-रजस्-तमस्' को 'कर्त्ता' कहकर वर्णित किया गया है। ऐसे समस्त वर्णनों में उक्त पद 'परिणाम' के अर्थ में परिभाषित है। वहाँ 'कर्त्ता' का तात्पर्य है—परिणत होने वाला तत्त्व। इसके विपरीत पुरुष को 'अकर्त्ता' कहने का तात्पर्य 'अपरिणामी' होता है। पुरुष अपरिणामी होने के रूप में अकर्त्ता है; परन्तु क्रिया के प्रति स्वातंत्र्य से वह कर्त्ता है। परिणति-क्रिया का भी वह कर्त्ता है, पर परिणति का लक्ष्य विषय नहीं। वह अन्य तत्त्व (त्रिगुण) को परिणति के लिए प्रेरित करता है; यह कर्त्तृत्व साक्षात् चेतन में ही सम्भव है, वह स्वयं परिणत नहीं होता। केवल त्रिगुण तत्त्व परिणत होता है। इस परिणाम के दायरे में वह किसी का सहयोग नहीं रखता; इसमें वह स्वतन्त्र है। इसी स्वातन्त्र्य को लेकर त्रिगुण के लिए 'कर्त्तृ' पद का औपचारिक प्रयोग शास्त्र-परम्परा में होता रहा है। इसी के अनुसार प्रस्तुत सन्दर्भ में त्रिगुण के लिए 'कर्त्तृ' पद और पुरुष के लिए 'अकर्त्तृ' पद का प्रयोग है।

यही भाव निम्न प्रकार से अभिव्यक्त किया जा सकता है—प्रकृति जगत्कार्य की उपादानता के अंश में किसी का सहारा = सहयोग नहीं लेती। इसमें वह स्वतन्त्र' है, अपने अधीन है। इस अंश में उसे अन्य किसी की अपेक्षा नहीं। यहाँ प्रश्न

Scanned with CamScanner

उभरता है, तब पुरुष के साथ संयोग के लिए वह बाधित क्यों रहती है? उत्तर आता है—इसका कारण उसका जड़ स्वरूप होना है। जड़ अर्थात् अचेतन तत्त्व होने से प्रकृति स्वतः किसी प्रवृत्ति में सामर्थ्य नहीं रखती। प्रवृत्ति के लिए चेतन-सहयोग की अपेक्षा रहती है। यह सहयोग प्रकृति की अव्यक्त दशा से लेकर प्रत्येक विकार स्वरूप तक अक्षुण्ण बना रहता है। इसी सहयोग के कारण प्रकृति इस समस्त विश्व का प्रसव करती है; विश्वरूप में परिणत होती है। यह सहयोगी चेतन सर्वान्तिर्यामी सर्वशक्तिमान् परमात्मा परब्रह्म है।

प्रकृति जड़ होने से स्वयं इस प्रसूत जगत् का भोग नहीं कर सकती। परमात्मा सत्यसंकल्प, पूर्णकाम है, 'अनश्नन्' रहता हुआ स्वप्रकाश है। वह अपने रूप में एकमात्र तत्त्व है। तब प्रकृति का प्रसव=परिणाम क्यों? उत्तर है—जीवात्म पुरुषों के लिए। ये आत्मा अनन्त हैं; प्राणों के साथ सम्पर्क होने पर वह जीवात्मा-कहा जाता है। वही इस प्रसूत=परिणत जगत् का उपयोग करता है; इसलिए प्रकृति इसका भोग्य है और यह प्रकृति का भोक्ता। इन्हीं आत्माओं के लिए प्रकृति का परिणाम होता है। इसी रूप में प्रकृति को 'परार्थ' माना गया है। 'पर' अर्थात् अन्य आत्माओं के प्रयोजन (अर्थ) के लिए प्रस्तुत रहना। यह देह, इन्द्रियाँ, बाह्य करण तथा मन, बुद्धि आदि अन्तःकरण सब मिलकर अपने-अपने स्थान पर इस देह में अधिष्ठित आत्मा (जीवात्मा) के प्रयोजन—भोग, अपवर्ग—को सिद्ध किया करते हैं।

भोग के अतिरिक्त अपवर्ग-दिशा में भी दृश्य-प्रकृति जीवात्मा के प्रयोग में पूर्ण सहयोग प्रदान करती है। आत्म-साक्षात्कार के लिए समस्त तप, ब्रह्मचर्य, योगाभ्यास, वैराग्य आदि के प्रयोग इस मानव-देह में रहते ही सम्पन्न हो पाते हैं। इस प्रकार जीवात्म-पुरुष के भोग और अपवर्गरूप प्रयोजन की सिद्धि में प्रारम्भ से अन्तिम बिन्दु-पर्यन्त प्रकृति का पूर्ण सहयोग प्राप्त रहता है। यही उसकी परार्थता है। इसीलिए शास्त्र में इसे भोग प्रदान करने के समान मोक्ष देनेवाली भी कहा गया है।

इस स्थिति को आचार्यों ने अन्य रूप में अभिव्यक्त किया है—प्रकृति जैसे पुरुष के साथ चिपटकर अपने-आपको बाँधती है, इसी प्रकार पुरुष के प्रयोजन को सिद्ध कर अपने-आपको छुड़ा भी लेती है। इस प्रकार बन्ध-मोक्ष प्रकृति के ही होते हैं, ऐसा भाव प्रकट होता है। यह अर्थाभिव्यक्ति का एक प्रकारमात्र है। आचार्यों का तात्पर्य केवल इस प्रकार के व्यावहारिक प्रयोग में है, औपचारिक मात्र। यदि वस्तुतः प्रकृति के ही बन्ध और मोक्ष हों, तो प्रकृति की 'परार्थता' के शास्त्रसम्मत सिद्धान्त की जड़ उखड़ जाती है। इसके विपरीत पुरुष उसके (प्रकृति के) प्रयोजन को सिद्ध करनेवाला मानना पड़ता है। तब प्रकृति भोक्त्री और मुक्ता हुई, पुरुष भोग्य एवं 'परार्थ' हो गया। मूल आचार्यों के भाव को न समझकर कतिपय व्याख्या-

कारों ने वास्तविकता का इस प्रकार शीर्षासन कर दिया है। इसी पृष्ठभूमि में प्रस्तुत सन्दर्भ का अभिप्राय समझने का प्रयास करना अभीष्ट होगा।

निश्चित ही यह जीवात्मा (अयन्तु खलु), त्रिगुणात्मक प्रकृति के विश्वरूप में परिणत हो जाने पर (त्रिषु गुणेषु कर्त्तृषु) अपरिणामी उस चतुर्थ पुरुष, जगन्नियन्ता व समस्त जगत् की क्रियाओं के साक्षी परमात्मा में अपनी सम्पूर्ण भावनाओं को समर्पण कर उसी में अपनी उन कामनाओं को सम्पन्न-सिद्ध जानता हुआ अन्य किसी दर्शन—अपेक्षित ज्ञेय की आशंका=सम्भावना नहीं रखता।

परमात्मा में अपनी समस्त भावनाओं को अर्पण कर शास्त्रविहित प्रयोगों का अनुष्ठान करता हुआ जीवात्मा अपने ध्येय अपवर्ग को प्राप्त कर लेता है। सम्पूर्ण भावनाओं के साथ अपने-आपको सर्वात्मना परमात्मा में समर्पण कर देने से बढ़कर अन्य कोई उपाय उस ध्येय को प्राप्त करने का नहीं है।

सन्दर्भ में पुरुष को 'चतुर्थ' बताया। प्रकृति त्रिगुणात्मक है। तीन गुणों से अतिरिक्त चौथा परमात्मा है। यह संख्या जगद्रचना की भावना से दी गई ज्ञात होती है। तीन गुण इस जगत् के उपादान-कारण हैं; चौथा पुरुष=परमात्मा निमित्त-कारण है। ये ही प्रधान कारण हैं, जिनसे जगत् अव्यक्त-अवस्था से व्यक्त-अवस्था में आता है।

पुरुष का एक विशेषण पद सन्दर्भ में 'तुल्यातुल्यजातीये' पढ़ा है। उस चतुर्थ पुरुष परमात्मा की यह तुलना जीवात्म-पुरुष से की गई है। चेतन, अपरिणामी, अजर, अमर, आदि रूप में दोनों तुल्यजातीय हैं। उनकी अतुल्यजातीयता निम्न रूपों में है—परमात्मा सर्वज्ञ है, जीवात्मा अल्पज्ञ; परमात्मा सर्वनियन्ता है, जीवात्मा अल्प-नियन्ता; परमात्मा सर्वव्यापक है, जीवात्मा एकदेशी; परमात्मा देहादि बन्धन में कभी नहीं आता, जीवात्मा कर्मानुसार देहादिबन्धन-परम्परा में आता-जाता रहता है, इत्यादि।

इस सन्दर्भ से चेतन तत्त्व के दोनों प्रकार—परमात्मा और जीवात्मा का यथास्थिति दिग्दर्शन प्राप्त होता है। जीवात्मा उपासक और परमात्मा उपास्य है। जीवात्मा अपनी परम्पराप्राप्त स्थिति से ऊबकर प्रबुद्धजन-बोधित उपायों द्वारा परमात्मा के साक्षात्काररूप उन्नत स्तर पर पहुँचने के लिए प्रयत्नशील रहता है, यही रहस्य सन्दर्भ द्वारा प्रकट किया गया है ॥१८॥

गत सन्दर्भों में परिणामी और अपरिणामी तत्त्वों का संक्षिप्त निरूपण कर अब उनके परस्पर सम्पर्क की स्थिति का उल्लेख सन्दर्भकार अग्रिम सन्दर्भ द्वारा करता है—

अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति, तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकारमात्रतया बुद्धिवृत्त्यविशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिरित्याख्यायते ॥१९॥

भोक्तृशक्ति अर्थात् भोक्ता चेतन जीवात्म-पुरुष क्योंकि अपरिणामी तत्त्व है, और इसका प्रतिसंक्रमण भी नहीं होता। सांख्य-योग में तत्त्वों के दो प्रकार हैं—जड़ और चेतन। जड़तत्त्व—सत्त्व, रजस्, तमस् परिणामशील हैं; महत् से लगाकर स्थूलभूत-पर्यन्त इनके परिणाम का विवरण गत (१० से १४ तक) सन्दर्भों में दिया जा चुका है। यह सम्पूर्ण दृश्य-अदृश्य जगत् इन तीन गुणों का परिणाम अर्थात् विकार है। इन्हीं जड़ तत्त्वों में परिणाम के समान प्रतिसंक्रमण भी होता है। इस पद का अर्थ है—परिणाम के साथ-साथ आगे चलते जाना। जब त्रिगुण से महत् का परिणाम हुआ, तब ऐसा नहीं होता कि त्रिगुण महत् को परिणत करके स्वयं पीछे रह गये हों, प्रत्युत त्रिगुण अपने परिणाम के साथ-साथ आगे चलते रहते हैं। मूल तत्त्व धर्मी के—धर्म, लक्षण, अवस्थारूप में—परिणाम होते रहते हैं, धर्मी तत्त्व आगे समस्त परिणामों में अन्वित रहता है; इसी का नाम प्रतिसंक्रमण है। इसी कारण समस्त विश्व त्रिगुण का परिणाम होने से आदि से अन्त तक पूरा त्रिगुणात्मक है। विश्व के कण-कण में त्रिगुण संक्रान्त है। इससे हमने समझा—परिणाम और संक्रमण केवल जड़ तत्त्वों में होता है, तथा ये दोनों (परिणाम और संक्रमण) ऐसे सगे भाई हैं, जो किसी भी तरह सर्गप्रक्रिया में एक-दूसरे का साथ छोड़ नहीं सकते।

इसके विपरीत ये दोनों स्थितियाँ (परिणाम और संक्रमण) चेतन तत्त्व में नहीं होतीं। इसीलिए चेतन तत्त्व अपरिणामी और अप्रतिसंक्रम है, क्योंकि जब उसका कोई परिणाम या विकार नहीं, तो आगे संक्रमण भी नहीं होगा। परन्तु चेतन तत्त्व में प्रवृत्ति-सामर्थ्य स्वाभाविक है, जबकि जड़ में प्रवृत्ति का असामर्थ्य स्वाभाविक रहता है। जड़ तत्त्व में चेतन की प्रेरणा के बिना प्रवृत्तिअर्थात् क्रिया का होना सम्भव नहीं होता। आदिसर्गकाल में भी मूल तत्त्वों में सर्गोन्मुख क्रिया परमात्मा के संकल्परूप प्रेरणा से होती है। पर यहाँ जीवात्म-पुरुष का प्रसंग है, तब उसी को सन्मुख रख विचार करना उपयुक्त होगा।

जीवित देह में समस्त अन्तःकरण व बाह्यकरण तथा देहांगों में सतत उपयुक्त क्रिया होती देखी जाती है। यह सक्रियता इनकी स्वाभाविक नहीं है। यदि स्वभावतः होती तो मृत देह में भी उसी प्रकार देखी जाती। तब यही कहना वास्तविक तथ्य है कि देहादि की यह सक्रियता देह में चेतन जीवात्म-पुरुष की विद्यमानता के कारण है। उससे प्रेरित होकर ये करण तथा देहांग आदि उपयुक्त क्रिया करने में समर्थ हो पाते हैं। यहाँ प्रश्न उभरता है—जैसे त्रिगुण से हुए परिणाम में त्रिगुण का संक्रमण रहता है, ऐसे ही बाह्यान्तःकरणों और देहांगों में चेतन आत्मा की प्रेरणा से होनेवाली क्रिया के साथ चेतन का संक्रमण होता है या नहीं? व्यवस्थानुसार होना चाहिये; क्योंकि जीवात्मा देह के किसी एक सीमित देश में विद्यमान

रहता है, तब सर्वत्र देह में क्रिया का होना उसके संक्रमण का द्योतक है। प्रश्न का उत्तर आता है—

चेतन आत्मतत्त्व का—देह के एक देश में विद्यमान रहने पर भी समस्त देह में क्रिया होने के लिए—संक्रमण होना अपेक्षित नहीं। संक्रमण के साथ विकार-परिणाम की प्रक्रिया समवेत रहती है, अटूट भाव से उसके साथ जुड़ी रहती है; संक्रमण मानने पर चेतन में विकार मानना पड़ेगा, फिर चेतन, चेतन न रहेगा, वह जड़-सजातीय हो जायगा। जड़-चेतन का भेद तब दम तोड़ बैठेगा, जो प्रत्यक्ष आदि सब प्रमाणों के विपरीत है। वस्तुतः देह के किसी एक देश में आत्मा के विद्यमान रहते हुए समस्त देह में क्रियाओं के होने का कारण चेतन तत्त्व का चैतन्य-रूप सामर्थ्य ही है। उसी सामर्थ्य से देह के एक देश में बैठा हुआ भी चेतन समस्त देह को सक्रिय बनाये रखता है। उसके इस कार्य में देह की चमत्कारपूर्ण रचना महत्त्वपूर्ण योगदान करती है। देह में उपयुक्त ग्रन्थि तथा रक्तवाहिनी व ज्ञानवाहिनी नस-नाड़ियों का संयोजन इस प्रकार का है, जो चेतन तत्त्व के सामर्थ्य से प्रेरित होने पर समस्त देह को सक्रिय बनाये रखता है।

प्राचीन आचार्यों ने इस तथ्य को आलंकारिक व औपचारिक रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि चेतन आत्मा अपने चैतन्यरूप से मानो इन्हें चैतन्य-जैसा बनाकर सक्रिय बनाये रखता है। इसी भाव को सन्दर्भ में 'परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेव' पदों से अभिव्यक्त किया है! बुद्धि आदि करणों व देहांग आदि में संक्रान्त न होता हुआ भी चेतन अपने चैतन्य स्वभाव से उन्हें सक्रिय बनाये रखने के कारण उनमें संक्रान्त-जैसा दिखाई देता है। यह कथन इस तथ्य को स्पष्ट कर रहा है कि चेतन का वस्तुतः परिणामी बुद्धि आदि अर्थों में प्रतिसंक्रमण न होने पर भी वह अपने चैतन्य सामर्थ्य से उन्हें सक्रिय बनाये रखने के कारण औपचारिक रूप से यह कह दिया जाता है कि बुद्धि आदि करण चेतन आत्मा के सान्निध्य से चेतन-जैसे हो उठे हैं।

मध्यकालिक आचार्यों ने ऐसे कथनों की यथार्थता पर विशेष ध्यान न देते हुए बुद्धितत्त्व को चेतन-सान्निध्य से वस्तुतः चेतन-जैसा मानकर समस्त सुख-दुःख आदि का भोग उसी में मानने का सुझाव दिया। सांख्य-योग के इस उद्घोष को ओझल कर दिया गया, कि पुरुष भोक्ता है, जबकि प्रस्तुत सन्दर्भ में भी अपरिणामी चेतन तत्त्व को 'भोक्तृशक्ति' बताया गया है। तब परिणामिनी बुद्धि को सुख-दुःख आदि का वास्तविक भोक्ता कहना प्राचीन आचार्यों के मन्तव्य के विरुद्ध होगा। वस्तुतः पुरुष के लिए बुद्धितत्त्व ऐसा ही है, जैसे किसी राजा के लिए उसका प्रधानमन्त्री। शेष समस्त करण अपने-अपने विषयों को यथास्थान यथावसर बाहर से बटोरकर क्रमानुसार बुद्धि को अर्पित कर देते हैं। बुद्धि उन विषयों को पुरुष के लिए अर्पित कर देती है। तात्पर्य है—इन्द्रिय-प्रणाली से प्रत्येक विषय बुद्धि के

माध्यम द्वारा पुरुष तक पहुँचता है; पुरुष उसका अनुकूल अथवा प्रतिकूल रूप में अनुभव करता है। यही सुख-दुःख का अनुभव पुरुष का भोग है। इसी भाव को सन्दर्भ में 'तद्वृत्तिमनुपतति' पदों से अभिव्यक्त किया है। इसका तात्पर्य है— इन्द्रियों की वृत्ति अर्थात् व्यापार के अनुसार आत्मा बाह्य अर्थों का अनुभव किया करता है।

यह स्पष्ट रूप में समझे रहना चाहिए कि बुद्धि आदि समस्त करण व देह, पुरुष के भोगादि के साधनमात्र हैं। कतिपय व्याख्याकारों ने जो इन्हें साध्य मानकर ऐसा भाव प्रकट किया है कि भोग बुद्धि को होता है, पुरुष में केवल वह अध्यारोपित किया जाता है; अज्ञानमूलक ही समझना चाहिए। वस्तुतः भोक्ता, चेतन तत्त्व हो सकता है। जड़ बुद्धि को भोक्ता बनाना, दार्शनिक कसौटी पर खरा न उतरने के कारण सामञ्जस्यपूर्ण नहीं है।

सन्दर्भ के 'तस्याश्च' से लगाकर अन्त तक सम्पूर्ण पाठ पूर्वव्याख्यात 'तद्वृत्तिमनुपतति' वाक्य का विवरणमात्र है। चैतन्य का सहयोग प्राप्त करनेवाली उस बुद्धि की वृत्ति के अनुरूप होते हुए बुद्धिवृत्ति के समान ही पुरुष को बाह्य विषय का ज्ञान अथवा बोध कहा जाता है। पुरुष को होनेवाला यह ज्ञान अनुकूल अथवा प्रतिकूल होने से सुख अथवा दुःख है। यह सन्दर्भ के अन्तिम भाग का शब्दार्थ है। तात्पर्य है—पुरुष को बाह्य या आन्तर विषय का जो अनुकूल या प्रतिकूल सुख-दुःखरूप अनुभव होता है, वह इन्द्रिय-प्रणाली द्वारा हुआ करता है। इस अवसर पर सम्पूर्ण करण (बुद्धि से लेकर बाह्यविषय-सम्बद्ध इन्द्रियपर्यन्त) आत्मा की इच्छानुसार उसके सान्निध्य एवं चैतन्य प्रभाव से सक्रिय-सचेत-जागृत रहते अपने-अपने कार्य के सम्पादन में तीव्र गति से संलग्न हो जाते हैं। वे अपनी वृत्ति अर्थात् इस सक्रियतारूप व्यापार से जो बाह्य विषय उनमें प्रतिबिम्बित होकर आत्मा तक पहुँचता है, उसके अनुरूप ही आत्मा को बोध या अनुभव होता है। इस प्रक्रिया में बुद्धि आदि करण चेतन नहीं हो जाते; केवल चेतन के इच्छानुकूल सान्निध्य-प्रभाव से कार्यरत हो जाते हैं। राजा के कर्मचारी राजा की आज्ञा के अनुसार कार्यरत होने पर राजा नहीं बन जाते; राजप्रभाव से निर्बाध कार्य करते हैं।

यह सन्दर्भ पातञ्जल योगदर्शन के साधन पाद में बीसवें सूत्र 'द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः' के व्यासभाष्य में 'तथा चोक्तम्' कहकर उद्धृत है। सूत्र का भी वही भाव है, जो सन्दर्भ की उक्त व्याख्या में प्रकट किया गया है। उद्धरण से पहले लिखी गई व्यासभाष्य की—'शुद्धोऽप्यसौ प्रत्ययानुपश्यः, यतः प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति, तदनुपश्यन्नतदात्मापि तदात्मक इव प्रत्यवभासते' पंक्ति का भी वही अभिप्राय है, जो व्याख्यात सन्दर्भ द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। व्यासभाष्य की टीका तत्त्ववैशारदी में वाचस्पति मिश्र ने 'तथा चोक्तं पञ्चशिखेन' कहकर इस सन्दर्भ का अवतरण किया है। यही सन्दर्भ योगसूत्र (४.२२) के व्यासभाष्य में

Scanned with CamScanner

उल्लिखित है। वहाँ 'व्यग्रहरूपायाः' के स्थान में 'व्यग्रहस्वरूपाया' तथा 'न्नुकार-मात्रतया' के स्थान में 'न्नुकारिमात्रतया' पाठ है। अर्थ में भेद कुछ नहीं। इस सन्दर्भ द्वारा प्रतिपादित अर्थ के विवेचन में कैवल्यवाद के २२-२४ सूत्रों का विद्यो-दय-भाष्य अनुसन्धेय है।।१९।।

गत सन्दर्भ में अपरिणामी भोतृक्शक्ति=आत्मा को बाह्य विषयों का ज्ञान होने की प्रक्रिया के प्रसंग से सर्वोच्च स्तर के ज्ञान के विषय में सन्दर्भकार ने बताया—

एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम्।। २०।।

यह सन्दर्भ योगसूत्र (१.४) के व्यासभाष्य में 'तथा च सूत्रम्' कहकर उद्धृत है। वाचस्पति मिश्र ने तत्त्ववैशारदी में 'पञ्चशिखाचार्यस्य सूत्रम्' कहकर सन्दर्भ को अवतरित किया है।

सन्दर्भ का प्रथम अर्द्धभाग—'एकमेव दर्शनम्' लौकिक ज्ञानवृत्ति को लक्ष्य कर लिखा गया है, जो उत्पाद-विनाशशील रहती है। वह चित्त की व्युत्थान-दशा का वर्णन है। बाह्य और अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित होकर घट-रूप आदि विषय जिस दशा में चित्त तक पहुँचता है, वह चित्तवृत्तिरूप ज्ञान कहा जाता है। चित्त उसको ठीक उसी रूप में चेतन आत्मा के लिये समर्पित कर देता है। यहाँ घटादि-विषयक चित्तवृत्ति और आत्मा को होनेवाले घटादि विषय-बोध में कोई अन्तर नहीं होता। वह चित्तवृत्ति और आत्मा को होनेवाला बोध एकरूप है, इसी भाव को सन्दर्भ के प्रथम अर्द्धभाग से प्रकट किया गया है। यह योगसूत्र (१.४) के 'सारूप्य' पद के अर्थ को प्रमाणित व अभिव्यक्त करता है। उक्त पद में 'स' शब्द 'एक' अर्थ का वाचक है। 'स' का 'समान' अर्थ कहने से आंशिक अन्तर की सम्भावना हो सकती है; 'एक' अर्थ करने में भेद का भय दूर हो जाता है। आत्मा को बाह्य विषय का बोध होने पर चित्तवृत्ति के साथ बाह्यविषयक बोध भी नष्ट हो जाता है, तद्विषयक संस्कार आत्मनिष्ठ रहते हैं। यह सब प्रक्रिया व खेल आत्म-चैतन्य के कारण सम्भव हो पाते हैं; चैतन्य आत्मा का स्वभाव है, उसका अस्तित्व ही चैतन्य है।

जब यह व्युत्थान-दशा नहीं रहती, समाधि-अवस्था प्राप्त हो जाती है; चित्त की वृत्तियाँ सर्वात्मना निरुद्ध हो जाती है; चेतन आत्मा स्वरूप में अवस्थित रहता है। आत्म-साक्षात्कार की प्रकाशमय अवस्था ही निरन्तर भासित रहती है, इसे 'प्रकृति-पुरुष विवेकख्याति' कहा जाता है। पुरुष—अर्थात् चेतन आत्म-तत्त्व अपने स्वरूप=स्व-भाव चैतन्य मात्र का अनुभव करता है। प्रकृति से सम्पर्क नितान्त टूट जाता है। इसी भाव को सन्दर्भ के उत्तर-अर्द्धभाग—'ख्यातिरेव दर्शनम्' से अभिव्यक्त किया गया है। पुरुष की पहली दशा भोग और दूसरी अपवर्ग है। इस दशा में आत्मा का साक्षात्कार हो जाने के अनन्तर प्रारब्ध-कर्मानुसार

सार जब तक शरीर बना रहता है, पुरुष जीवन्मुक्त कहाता है। जब शरीरपात हो जाता है, तब वह पूर्ण मुक्त हो जाता है ॥२०॥

गुणों का स्वभाव चल=प्रवृत्तिस्वरूप है। त्रिगुणात्मक होने से तथा वृत्तिभेद के आधार पर बुद्धितत्त्व अर्थात् चित्त क्षिप्रपरिणामी बना रहता है। यह स्थिति विवेकी व्यक्ति के लिए दुःखजनक होती है। इसी प्रसंग में सन्दर्भकार कहता है—

रूपातिशया वृत्त्यतिशयाश्च परस्परेण विरुद्ध्यन्ते, सामान्यानि त्वतिशयैः सह प्रवर्त्तन्ते। एवमेते गुणा इतरेतराश्रयेणोपार्जित-सुखदुःखमोहप्रत्यया इति सर्वे सर्वरूपा भवन्ति, गुणप्रधानभावकृतस्त्वेषां विशेषः ॥ २१ ॥

यह सन्दर्भ पातञ्जल योगसूत्र (२।१५) के व्यासभाष्य में उद्धृत है; तथा आंशिक रूप से (३।१३) सूत्र के भाष्य में 'उक्तञ्च' कहकर उद्धृत है। इसकी व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र ने तत्त्ववैशारदी में 'अत्रैव पञ्चशिखाचार्य-सम्मतिमाह' कहकर उक्त सन्दर्भ का अवतरण किया है।

त्रिगुण का स्वभाव चल अर्थात् परिणामस्वरूप है। अन्योन्य-मिथुनीभूत हुए त्रिगुण एक-दूसरे के अनुग्रहपूर्ण सहयोग के अधीन ये सत्त्वजनित शान्त-सुख, रजस्-जनित घोर-दुःख तथा तमस्-जनित मोह-निमग्न विवाद को—विषय-सुखों के प्रवाह में—आरम्भ=प्रादुर्भूत किये रहते हैं। त्रिगुण का प्रथम परिणाम बुद्धि अथवा चित्त की धारा इन्हीं भावनाओं के साथ प्रशिक्षण प्रवाहित रहती है। इस अवसर पर प्रश्न उठता है—क्या प्रत्येक प्रतीति शान्त, घोर, मूढ भावनाओं से एक-साथ ओत-प्रोत रहती है? उत्तर आता है, नहीं; ऐसा नहीं होता। तीनों भाव प्रत्येक प्रत्यय-ज्ञान में उभरकर भासित हों, ऐसा नहीं है। तब कैसा है? इसी का उत्तर सन्दर्भ प्रस्तुत करता है—

रूपातिशय और वृत्त्यतिशय परस्पर विरुद्ध रहते हैं। 'रूप' पद यहाँ पारिभाषिक है। यहाँ—'धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य; अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य' ये आठ भाव 'रूप' पद से कहे गए हैं। वृत्तियाँ सुख, दुःख, मोह-रूप हैं। धर्म आदि रूपों में जिसका अतिशय=उत्कर्ष होता है, वह अपने पाकोन्मुख=फलोन्मुख प्रतिकूल रूप का विरोध करता है, उसे उभरने नहीं देता। जैसे—धर्म पाकोन्मुख है; यदि तब अधर्म का उत्कर्ष है, तो वह पहले उभर आयेगा, धर्म को पाकोन्मुख होने से रोकेगा,—यही विरोध है। इसी प्रकार धर्म यदि पाकोन्मुख है, और तभी अधर्म का अतिशय=उत्कर्ष उभार में आता है, तो धर्म प्रतीति=अनुभव का विषय रहेगा; अधर्म को उस काल में फलोन्मुख न होने देगा। यही विरोध का स्वरूप है। इस प्रकार ये सत्त्व, रजस्, तमस् अन्योन्य-मिथुनीभूत हुए वृत्तिभेद से चित्तपरिणाम में शान्त, घोर, मूढ भावों को एक-साथ एक ही काल में उभरने नहीं देते; अतिशय रूप ही सामने आता है। यह टक्कर उसी समय होती है, जब दो विरोधी प्रायः समानता के साथ अतिशय में होते हैं; क्योंकि विरोध उत्कृष्ट का ही

उत्कृष्ट के साथ होगा। जो अपकृष्ट है, वह विरोध क्या करेगा? उसकी गति सन्दर्भ के अगले अंश ('सामान्यानि तु' इत्यादि) में बताई है। उत्कृष्ट दो विरोधी रूपों में जो प्रबल होता है, विपाकाभिमुख हो जाता है, अर्थात् अपना फल देने में वह पहले सामने आ जाता है, अतः इन रूपों का फलोन्मुखता में सांकर्य नहीं हो पाता।

इसी प्रकार वृत्तियों का व्यवहार रहता है। सुःख-दुःख, प्रसाद-विषादरूप चित्तवृत्तियाँ भी एक का अतिशय होने पर अपने प्रतिद्वन्द्वी का विरोध करती हैं। सुख का अतिशय दुःख को, दुःख का अतिशय सुख को, प्रसाद का अतिशय विषाद को, विषाद का अतिशय प्रसाद को एक ही काल में उभरने नहीं देते। रूपातिशय और वृत्त्यतिशय के परस्पर विरोध का यह स्वरूप है, जो रूपों और वृत्तियों के उभार में सांकर्य=संघट्ट को रोकता है, एक-साथ परस्पर विरोधियों का उभार नहीं होने देता।

सन्दर्भ का अगला अंश है—'सामान्यानि तु अतिशयैः सह प्रवर्त्तन्ते'। सामान्य भाव तो अतिशय—उत्कृष्ट भावों के साथ-साथ चलते रहते हैं। सामान्य भाव वे हैं, जो अपनी अभिव्यक्ति के लिये अभी सक्रिय नहीं हैं। जो उत्कृष्ट भाव हैं, अपनी अभिव्यक्ति के लिए सक्रिय बने हुए उन भावों के साथ-साथ संस्कार आदि रूप में सामान्य भाव प्रवृत्त रहते हैं, इस प्रतीक्षा में कि उनकी अभिव्यक्ति का काल कब आता है। वस्तुतः यह सब जीवात्माओं के कर्म और ऋत (ईश्वरीय व्यवस्था) के अनुसार चला करता है। अर्थतत्त्व को रुचिकर रूप में समझाने के लिये आलंकारिक प्रक्रिया का आश्रय ले लिया जाता है, जैसा प्रस्तुत प्रसंग में त्रिगुण के आश्रय पर वर्णन किया गया है।

प्रश्न उठता है, जब विषय-सुख इतना आकर्षक रहता है कि अधिक-से-अधिक प्रबुद्ध व्यक्ति भी उसे छोड़ना नहीं चाहता, तो इसको नैसर्गिक दुःख की संज्ञा क्यों दी जाती है? जबकि यह कहा जाता है कि विवेकी के लिए सब दुःख ही दुःख है ('दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' यो० सू० २।१५)। इसका उत्तर सन्दर्भ के अगले भाग से दिया—

एवमेते गुणा इतरेतराश्रयेणोपार्जित-सुखदुःखमोहप्रत्यया इति सर्वे सर्वरूपा भवन्ति।

इस प्रकार ये गुण—सत्त्व, रजस्, तमस्—एक-दूसरे के सहयोग से सुख-दुःख-मोहात्मक वृत्तियों को प्राप्त कर लेते हैं, इस कारण तीनों गुण सर्वरूप बने रहते हैं। अन्योन्य-मिथुनीभूत होकर इनकी ऐसी एकजुटता हो जाती है कि उस दशा में इनमें से किसी एक को अलग करके नहीं पहचाना जा सकता। इसलिए जहाँ सत्त्व है, वहाँ रजस्-तमस् हैं; जहाँ रजस् है, वहाँ सत्त्व-तमस् हैं; जहाँ तमस् है, वहाँ सत्त्व-रजस् हैं। इस प्रकार सभी गुण सर्वरूप रहते हैं। सत्त्व, रजस्तमोरूप;

रजस्, सत्त्व-तमोरूप; तमस्, सत्त्व-रजोरूप। ऐसी दशा में संसारी साधारण पुरुष इसकी वास्तविकता को न समझता हुआ, त्रिगुण में भ्रान्तिमूलक अनुकूलता का अनुभव करता हुआ फँसा रहता है; पर विवेकी पुरुष इसकी वास्तविकता को समझता है, अतः उसके लिए यह सब दुःखमय होता है। विषसंपृक्त अन्न के समान उस सुख को दुःखसंपृक्त पेटी में से छाँटकर नहीं निकाला जा सकता; यही कारण है कि विषयसुख को विवेकी के लिए दुःख कहा गया है।

यहाँ फिर प्रश्न उभरता है कि क्या त्रिगुण का ऐसा तादात्म्य हो जाता है जो—यह सत्त्व सुखात्मक है और यह रजस् दुखात्मक है—इस प्रकार के ज्ञान एवं व्यवहार का कोई भेद ही नहीं रहता? इस प्रश्न का उत्तर सन्दर्भ के अग्रिम अन्तिम भाग से दिया गया है—

गुणप्रधानभावस्त्वेषां विशेषः।

एषां—इन सत्त्व-रजस्-तमस् गुणों के अन्योन्य-मिथुनीभाव-दशा में यह गौण है यह प्रधान है, इस रूप में—विशेष अर्थात् भेद बना रहता है। इसी आधार पर सात्त्विक, राजस, तामस भावों के भेद का ज्ञान और व्यवहार निर्बाध हुआ करता है। जो गुण फलोन्मुखता में उत्कृष्ट होकर अपने धर्म आदि भावों में उभरकर सामने आ जाता है, वह प्रधान है; शेष गौण—उपेक्षित-से हुए अपनी फलोन्मुखता की प्रतीक्षा में चुपचाप पड़े रहते हैं। इसी आधार पर लोक में इनका भेद-व्यवहार चलता है ॥२१॥

द्रष्टा जीवात्मा और दृश्य=भूत इन्द्रियरूप तत्त्वों के परस्पर सम्पर्क से होनेवाले परिणाम का गत सन्दर्भ द्वारा निरूपण किया गया। द्रष्टा और दृश्य का यह सम्पर्क किन्हीं निमित्तों से किसी कालविशेष में होता है, या अनादि है? इसका समाधान सन्दर्भकार अगले सन्दर्भ से प्रस्तुत करता है—

धर्मिणामनादिसंयोगाद् धर्ममात्राणामप्यनादिः संयोगः॥ २२॥

प्रस्तुत सन्दर्भ पातंजल योगदर्शन के (२।२२) सूत्र के व्यासभाष्य में उद्धृत है। वाचस्पति मिश्र ने तत्त्ववैशारदी में 'अत्रैवाऽऽगमिनामनुमतिमाह' कहकर सन्दर्भ के उद्धरण का निर्देश किया है। प्रसंग है—जीवात्म-पुरुष के लिए भूत और इन्द्रिय (करण) रूप दृश्य की रचना की जाती है; इससे जीवात्मा के प्रयोजन भोग और अपवर्ग सिद्ध होते हैं। आत्मा का अपवर्ग हो जाने पर प्रश्न उठता है, क्या उससे सम्बद्ध भूत और करणों का नाश हो जाता है? प्रस्तुत सूत्र (२।२२) से इसका उत्तर दिया है—अपवर्ग को प्राप्त हुए पुरुष के प्रति भूत और करणों का कोई उपयोग न रहने से उसके लिए नष्ट जैसे होने पर भी जो जीवात्म-पुरुष अभी अकृतार्थ हैं, जिनका अभी अपवर्ग नहीं हुआ, इसीलिए अपने जीवन में कृतार्थ नहीं हुए, वे भूत और इन्द्रियाँ उनके उपयोग में आ जाते हैं।

प्रसंग से प्रेरित होकर यहाँ एक विचार सामने आता है। भूत पाँच और

इन्द्रिय पद से ग्राह्य तेरह करण, इन अठारह तत्त्वों के समुदाय से निर्मित सूक्ष्म शरीर ही प्रस्तुत प्रकरण में 'दृश्य' पद से कहा गया है। जब किसी सर्गकाल के मध्य में कोई पुरुष मुक्त हो जाता है, तो उससे सम्बद्ध सूक्ष्म शरीर अन्य संसारी पुरुष के उपयोग में कैसे आता है? यह विचारणीय है। क्योंकि, चालू सर्गकाल के प्रारम्भ से ही प्रत्येक जीवात्मा के साथ एक सूक्ष्म शरीर का सम्बन्ध निर्धारित हो जाता है, यह सांख्य-योग की मान्यता है। यह सम्बन्ध उस चालू सर्ग के प्रलयकाल-पर्यन्त चलता है। प्रलयकाल प्रारम्भ होने पर समस्त सूक्ष्म शरीर व्यवस्थानुसार अपने कारणरूपों में चले जाते हैं। जीवात्मा अपने कृत-कर्मजन्य संस्कार व वासनाओं के साथ, अगला सर्गकाल आने तक नये सूक्ष्म-स्थूल शरीर कर्मानुसार प्राप्ति की प्रतीक्षा में समस्त प्रलयकाल-पर्यन्त सुप्त-जैसी अवस्था में बने रहते हैं। समस्या उन सूक्ष्म शरीरों की है, जिनके सम्बद्ध आत्मा चालू सर्गकाल के मध्य मुक्त हो जाते हैं, और उनके सूक्ष्म शरीर शेष रह जाते हैं। अब आगे चालू सर्गकाल में उनका क्या उपयोग है? समस्त संसारी आत्माओं के साथ तो उनके अपने सूक्ष्म शरीर आदिसर्गकाल से उनके साथ सम्बद्ध हैं, उन्हें अन्य सूक्ष्मशरीर की आवश्यकता नहीं।

इस विषय में ऐसा एक सुझाव सुनने में आया है—जब योगी पूर्ण सिद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेता है, तब आवश्यकता होने पर विभिन्न जातीय शरीरों का निर्माण कर, मुक्तात्माओं के अवशिष्ट सूक्ष्म शरीरों का उपयोग इन स्वनिर्मित शरीरों में करता है। अपने योगसामर्थ्य से वह इन सूक्ष्म शरीरों का संकलन कर लेता है। ऐसा सुझाव देनेवालों का कहना है कि इसी भावना से वात्स्यायन मुनि ने गौतमन्यायसूत्र (३।२।२०) के भाष्य में 'योगी खलु ऋद्धौ प्रादुर्भूतायां विकरण-धर्मा निर्माय सेन्द्रियाणि शरीरान्तराणि तेषु तेषु युगपत् ज्ञेयानुपलभते'—योगी को जब सिद्धि प्राप्त हो जाती है, तो वह एक-साथ ज्ञेय विषय जानने या भोगने की भावना से इन्द्रियों-सहित अनेक अन्य शरीरों की रचना कर लेता है। ऐसे शरीरों में वह उन सूक्ष्म शरीरों का उपयोग कर लेता है, जो चालू सर्ग में मुक्तात्माओं के बचे रह जाते हैं।

वस्तुतः इस सुझाव की जड़ खोखली दिखाई देती है। क्योंकि वात्स्यायन के सन्दर्भ में स्वतः स्पष्ट यह उल्लेख है कि अन्य शरीरों के साथ योगी इन्द्रियों का भी निर्माण करता है। सूक्ष्म शरीर में साधनरूप से इन्द्रियाँ अथवा बुद्धि आदि तेरह करण ही हैं, तो ऐसे योगी को उनकी क्या आवश्यकता रहेगी जिसने स्वयं इन्द्रियों का निर्माण कर लिया है?

योगसूत्रों में जो जात्यन्तर परिणाम (४।२) और निर्माणचित्त (४।४) का उल्लेख हुआ है, उसकी छाया में भी उक्त समस्या का समाधान स्पष्ट नहीं होता। पातंजल योगसूत्र के विद्योदय-भाष्य की भूमिका में इस विषय पर कुछ विचार किया

गया है। उसका सारांश केवल इतना है कि योगी कितना भी पूर्ण सिद्ध हो जाय, वह जात्यन्तर-परिणाम व चित्त आदि के निर्माण में सर्वथा असमर्थ रहता है। तब इस प्रकार के उल्लेखों का सामंजस्य पाठकों को उस भूमिका में देखना चाहिए। वस्तुतः ऐसे उल्लेख औपचारिक मात्र हैं। योगी की अतुल मानसिक शक्ति के महत्त्व को अभिव्यक्त करना ही इनका प्रयोजन है। तब प्रस्तुत समस्या समाधान के लिए वैसी ही खड़ी रह जाती है। योग-सूत्र (२।२२) में स्पष्ट कहा है—मुक्त (कृतार्थ) के प्रति अनुपयोगी (नष्ट) होते हुए भी ये भूत-इन्द्रिय संसारी (अकृतार्थ) के प्रति उपयोगी होते हैं। वह उपयोग कैसे है? यह समाधान-सापेक्ष है।

ये प्राकृतिक परिस्थितियाँ अज्ञेय, रहस्यपूर्ण हैं। यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक ऐसे रहस्य का मानवबुद्धिगम्य समाधान या सदुत्तर प्राप्त हो जाय। रहस्यों को समझने के प्रयास का द्वार सदा खुला रहता है। आचार्यों ने कहा है कि संसारी के प्रति इनका उपयोग बना रहता है। इसमें अन्तर्हित रहस्य यही उभरता दृष्टिगोचर होता है कि सांख्य-योग की भावना के अनुसार कोई वस्तुतत्त्व सर्वथा कभी नष्ट नहीं होता। मुक्तात्माओं के अवशिष्ट भूतेन्द्रियात्मक सूक्ष्मशरीर भी प्रलयकाल आने पर अथवा सम्बद्ध आत्मा के मुक्त हो जाने पर अपने कारण-तत्त्वों में लीन हो जाते हैं, अर्थात् कारणरूप में परिणत हो जाते हैं, क्योंकि चालू सर्ग के प्रारम्भ में जिस परार्थता के लिए कार्यरूप में परिणत किए गए थे, वह कार्य सम्पन्न हो गया है, तब इस रूप में उनका कोई उपयोग नहीं रहा। कारणरूप में अवस्थित होकर वे मूलतत्त्व उस काल की प्रतीक्षा में अवस्थित रहते हैं, जब पुनः वे कार्यरूप में परिणत होकर किसी अकृतार्थ आत्मा के प्रति उपयोग के लिए प्रस्तुत हो सकेंगे, अथवा प्रस्तुत किए जा सकेंगे।

इस परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट है, द्रष्टा-दृश्य का किसी काल में एक जगह सम्बन्ध टूट जाने पर अन्यत्र जुड़ जाने के लिए मार्ग खुला रहता है। इसी भाव को सन्दर्भ द्वारा प्रस्तुत किया गया है—धर्मी तत्त्वों का सम्बन्ध अनादि है। इसी कारण उनके धर्मों का सम्बन्ध अनादि है।

सन्दर्भ में धर्मी पद का अर्थ है—सत्त्व-रजस्-तमस्। इनका आत्माओं के साथ अनादि सम्बन्ध है। सत्त्व आदि त्रिगुण कारणतत्त्व हैं, ये धर्मी हैं, इनके कार्य महत् आदि तत्त्व धर्म हैं। कारणतत्त्वों का आत्माओं के साथ अनादि सम्बन्ध होने से धर्मी-कार्यों-महत् आदि का सम्बन्ध भी आत्माओं के साथ अनादि है। 'धर्म' के आगे सन्दर्भ में 'मात्र' पद का प्रयोग किया गया है। इसका तात्पर्य है, एक ही 'महत्' व्यक्ति का आत्मा के साथ अनादि सम्बन्ध हो, ऐसा नहीं है। आत्मा नित्य होने से स्वरूपतः अनादि है, परन्तु 'महत्' आदि तत्त्वों का प्रादुर्भाव-तिरोभाव होता रहता है। एक महत् तिरोहित हो गया, तो अन्य प्रादुर्भूत हुए महत् के साथ आत्मा का सम्बन्ध हो जाता है। यह क्रम निरन्तर उस समय तक चलता रहता है, जब तक

Scanned with CamScanner

आत्मा का अपवर्ग-प्रयोजन सिद्ध नहीं हो जाता। इस प्रकार महत् आदि का सम्बन्ध आत्मा के साथ चला आ रहा है, अतः महत् आदि तत्त्वों के सम्बन्ध को प्रवाह-रूप में अटूट होने से नित्य अर्थात् अनादि कहा गया है।

जब यह सम्बन्ध अनादि है, तो इसके अनन्त रहने में भी कोई सन्देह नहीं होना चाहिए। इस अनादि-अनन्त के क्रम में मध्यगत पड़ाव अपवर्ग आदि के आते रहते हैं, पर उससे इसकी अनादिता-अनन्तता में कोई अन्तर नहीं आता। सांख्यदर्शन के सूत्रों—'अनादावद्य यावदभावाद् भविष्यदप्येवम्। इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः' (१।१२३,१२४)[1] की जैसे प्रस्तुत सन्दर्भ द्वारा व्याख्या की गई हो, ऐसा ज्ञात होना है। सूत्रों का तात्पर्य इतना ही है कि द्रष्टा और दृश्य का सम्बन्ध अनादि-अनन्त होने से संसार का कभी अत्यन्त उच्छेद नहीं होता, यह क्रम सदा चलता रहता है, अटूट है ॥२२॥

द्रष्टा-दृश्य के अनादि सम्बन्ध में द्रष्टा कैसा अनुभव करता है, इसका विवरण अग्रिम सन्दर्भ से प्रस्तुत है—

व्यक्तमव्यक्तं वा सत्त्वमात्मत्वेनाभि प्रतीत्य
तस्य सम्पदमनुनन्दत्यात्मसम्पदं मन्वानः,
तस्य व्यापदमनुशोचत्यात्मव्यापदं मन्यमानः,
स सर्वोऽप्रतिबुद्धः ॥ २३ ॥

यह सन्दर्भ पातञ्जल योगदर्शन के सूत्र (२।५) पर व्यासभाष्य में अविद्या का चौथा स्वरूप बतलाते हुए 'तथैतदत्रोक्तम्' कहकर सम्मतिरूप से उद्धृत किया है। वाचस्पति मिश्र ने उक्त वाक्य के साथ 'पञ्चशिखेन' जोड़कर इसका अवतरण किया है।

योगदर्शन के इस सूत्र में अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्म पदार्थों में यथा-क्रम नित्य, शुचि, सुख और आत्मतत्त्व की प्रतीति होना अविद्या का स्वरूप बताया है। इनमें चौथी अविद्या है—अनात्मा में आत्मज्ञान होना, अर्थात् जो आत्मा नहीं है, उसे आत्मा समझना। आत्मा का स्व-रूप चेतन है। चेतन का भाव अर्थात् चेतन का होना 'चैतन्य' कहा जाता है। इन दोनों पदों के अर्थ में कोई अन्तर नहीं है। इनका अर्थ केवल एक है– आत्मतत्त्व। सुख-दुःख आदि भावनाओं का उदय दृश्य के सहयोग से आत्मा में होता है। देह, बुद्धि आदि करण तथा बाह्य रस-रूप-गन्ध-स्पर्श-शब्द आदि विषयों के सम्पर्क से आत्मा में सुख-दुःख आदि का प्रादुर्भाव होता रहता है। अनुकूल अनुभूति का नाम सुख और प्रतिकूल अनुभूति का नाम दुःख

---

१. यह सूत्र-संख्या संस्थान से प्रकाशित संस्करण के अनुसार है। इसमें ३५ जोड़-कर अन्य किसी भी संस्करण में सूत्र देखा जा सकता है।

है। अनुभूति चेतन का स्वरूप है। परन्तु अनुभूति का विषय सुख-दुःख प्रकृति का स्वरूप है। जब आत्मा, प्रकृति के स्वरूप सुख-दुःख को अपना स्वरूप समझता है, तब वह चौथी अविद्या है, अनात्मा-सुखादि को आत्मा समझना।

दृश्य के साथ आत्मा के सम्पर्क की अवस्था में जब तमस् का प्रभाव प्रबल होता है, तो मोह का दायरा बहुत अधिक बढ़ जाता है। पत्नी, पुत्र, पशु, भृत्य, घर-द्वार, खेत-खलियान, दूकान-सामान आदि सबको आत्मा का स्वरूप समझकर मूढ़ व्यक्ति उनके प्रसाद-हर्ष आदि में अपनी प्रसन्नता और उनपर विपद् में अपनी विपत्ति समझता है। इसी अर्थ को प्रस्तुत सन्दर्भ में अभिव्यक्त किया गया है।

सन्दर्भ में 'व्यक्त' पद चेतन सजीव प्राणियों—स्त्री, पुत्र, भृत्य, परिवार, पशु आदि का तथा 'अव्यक्त' पद अचेतन पदार्थ—घर-द्वार, खेत-खलियान, दूकान-सामान आदि का प्रतीक है। इनको आत्मारूप समझता हुआ (आतमत्वेन अभि-प्रतीत्य), व्यक्ति उनकी सम्पदा में आनन्दित होता है, उसे अपना स्वरूप मानता हुआ (तस्य सम्पदमनुनन्दति आत्मसम्पदं मन्वानः)। इसी प्रकार उनकी विपदा को आत्मा का स्वरूप मानता हुआ दुःखी होता है; ऐसा समझनेवाला अप्रतिबुद्ध है, मूढ़ है, मोह से ग्रस्त है।

सन्दर्भ में 'व्यक्त' पद का अर्थ 'व्याकृत'—बना हुआ, और 'अव्यक्त' पद का अर्थ 'अव्याकृत'—न बना हुआ पदार्थ भी किया जाता है। देह-बुद्धि आदि करण, रूप-रस आदि बाह्य विषय सब व्यक्त पदार्थ हैं। सुख-दुःख-मोहस्वरूप सत्त्व-रजस्-तमस् अव्यक्त-अव्याकृत—न बने हुए पदार्थ हैं। इन अनात्म तत्त्वों को आत्मा सम-झना चतुर्थी अविद्या का स्वरूप है ॥२३॥

गत सन्दर्भ से मिलते-जुलते अर्थवाला अग्रिम सन्दर्भ इस प्रकार है—

बुद्धितः परं पुरुषमाकारशीलविद्यादिभिर्विभक्तमपश्यन् कुर्यात् तत्रात्मबुद्धिं मोहेन ॥ २४ ॥

यह सन्दर्भ पातञ्जल योगदर्शन-सूत्र (२।६) के व्यासभाष्य में 'तथा चोक्तम्' कहकर उद्धृत है। इस वाक्य के साथ 'पञ्चशिखेन' जोड़कर वाचस्पति मिश्र ने इसका अवतरण किया है।

योगसूत्र (२।६) में 'अस्मिता' क्लेश का स्वरूप बताया है। दृक्शक्ति—भोक्तृ शक्ति है—आत्मतत्त्व। दर्शनशक्ति—भोग्यशक्ति है—भूत, बुद्धि आदि; 'दृश्य' नाम से वर्णित प्राकृतिक तत्त्व। इनकी (भोक्तृ-भोग्यशक्ति की) परस्पर अविद्या-अवि-वेकजनित एकरूपता-जैसी स्थिति का नाम 'अस्मिता' है। यद्यपि ये दोनों प्रकार के तत्त्व परस्पर सर्वथा असंकीर्ण हैं, आपस में नितान्त भी फँसे हुए नहीं हैं, फिर भी अविवेक के कारण इनकी एकरूपता-जैसी स्थिति इतनी गहराई से उभरकर सामने आती है, जिसमें समस्त प्राणी-समुदाय आमूलचूल डूबा रहता है, जबकि इस एकरूपता का परमार्थ अस्तित्व नाममात्र को भी नहीं है। यही भाव प्रस्तुत

सन्दर्भ द्वारा अभिव्यक्त किया गया है।

बुद्धि से पर—भिन्न पुरुष = आत्मतत्त्व को आकार, शील और विद्या आदि से भिन्न न देखता हुआ व्यक्ति अविवेक से (मोहेन) बुद्धि में (तत्र) आत्मभावना (आत्मबुद्धिम्) कर लेता है (कुर्यात्)। इनमें आकार आदि का भेद निम्न प्रकार समझना चाहिए—

पुरुष का आकार निर्दोष, निष्कलंक, पूर्ण शुद्ध, अत्रिगुणात्मक है। दृश्य-संज्ञक प्राकृत तत्त्वों का आकार सदोष त्रिगुणात्मक है। आत्मतत्त्व का शील-स्वभाव अपरिणामी है, जबकि दृश्य तत्त्व परिणामशील हैं। आत्मतत्त्व चैतन्य है; दृश्य तत्त्व जड़ हैं, अचेतन हैं। इन आधारों पर ये दोनों प्रकार के तत्त्व नितान्त भिन्न होते हुए भी अविद्या के कारण इनमें जो एकात्मता-एकरूपता-जैसी स्थिति आभासित होती है, वह 'अस्मिता'-संज्ञक क्लेश है। यह पुरुष-प्रकृति-सम्पर्क की दशा में तमस् का प्राबल्य होने पर उभरता है। संसार में विरले ही कोई ऐसे विवेकशील व्यक्ति होते हैं, जहाँ सत्त्वोद्रेक से तामस प्रभाव क्षीण होने पर 'अस्मिता' की रेखा का गहरा रंग फीका पड़ जाता है ॥२४॥

गत सन्दर्भों में प्रकृति, प्राकृत सर्ग एवं प्रकृति-पुरुष के सम्पर्क की परिस्थितियों के विषय में विवरण प्रस्तुत किया तया। सांख्यशास्त्र में आध्यात्मिक पद्धति का आधार लेकर एक अन्य प्रकार से पच्चीस तत्त्वों का साठ तत्त्वों के रूप में विवरण प्रस्तुत किया जाता है; उसके अनुसार यह शास्त्र 'षष्टितन्त्र' नाम से व्यवहृत होता है। आधिभौतिक और आध्यात्मिक भेद से तत्त्वों का विवेचन करने के कारण एक ही शास्त्र 'सांख्यदर्शन' व 'षष्टितन्त्र' दो नामों से प्रकाश में जाता रहा है।

साठ पदार्थों में पचास बुद्धिसर्ग नाम से बताये गये हैं, तथा आधिभौतिक आधार पर विवेचन किये गए पच्चीस तत्त्वों को मूलभूत दो पदार्थ—प्रकृति-पुरुष—को उनके विशेष धर्मों द्वारा दस रूपों में अन्तर्हित कर साठ संख्या पूरी होती है। इस साठ के समुदाय में ये दस 'मौलिक[१] अर्थ' कहे जाते हैं। सम्भवतः जगत् की रचना

---

१. सांख्यकारिका की व्याख्या 'सांख्यतत्त्व कौमुदी' में अन्तिम आर्या की व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र ने 'तथा च राजवार्त्तिकम्' कहकर जो श्लोक साठ, पदार्थ-निर्देशक युक्तिदीपिका व्याख्या के प्रारम्भिक भाग से उद्धृत किये हैं, वहाँ अन्त में 'मौलिकार्थाः स्मृता दश' पाठ है। परन्तु युक्तिदीपिका में 'मूलिकार्थाः' पाठ है। इन पाठों के अर्थ में कोई भेद नहीं। युक्तिदीपिका के मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली संस्करण में 'चूलिकार्थाः' पाठ है। 'चूलिका' चोटी, मुर्गे की कलगी, तथा हाथी की कनपटी को कहते हैं, इससे यहाँ इस पद का 'मुख्य' अथवा 'प्रमुख' अर्थ उभारा जा सकता है। यदि मूल रचना में ऐसा पाठ रहा हो, या न रहा हो, अर्थ पूर्वोक्त पदों के समान ही है।

में इन मूलभूत कारण-तत्त्वों के विवेचन के आधार पर इनको यह नाम दिया गया ज्ञात होता है। आध्यात्मिक विवेचन में पचास अर्थों का उसी रूप से विवरण सांख्यदर्शन में उपलब्ध होता है। ज्ञान के विपर्यय अर्थात् अज्ञान या अविवेक से आत्मा का बन्ध होना बताया है। बुद्धिवृत्तियाँ जिन भूमियों में विचरण करती हुई अज्ञान या अविवेक को बनाये रखती हैं, इससे अध्यात्म-मार्ग पर चलनेवाले व्यक्तियों के सम्मुख जो भावनायें बाधारूप में उपस्थित होती हैं, उनको पचास नामों से निर्दिष्ट किया गया है, जो विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि, सिद्धि इन चार वर्गों में संकलित हैं। ये पचास अवस्थायें केवल बुद्धिवृत्ति पर अवलम्बित होती हैं, इसलिए इनको बुद्धिसर्ग अथवा प्रत्ययसर्ग कहा जाता है। वर्ग के अनुसार सूत्रकार कपिल ने सांख्य-दर्शन में तृतीय अध्याय के ३७ से ४५ तक सूत्रों में इनका विवरण प्रस्तुत किया है। इसी के अनुसार ईश्वरकृष्ण-रचित सांख्यकारिका की ४६ से ५१ तक की छह आर्याओं में इनका विवरण है।

वर्गानुसार साठ पदार्थों का तालिका-चित्रक निम्न प्रकार समझना चाहिए—

(५०) प्रत्ययसर्ग (बुद्धिसर्ग)

विपर्यय (५)	तुष्टि (९)	सिद्धि (८)	अशक्ति (२८)

(५) विपर्यय

नाम	नामान्तर	अवान्तर भेद	भेद के आधार
तम	अविद्या	८	प्रकृति, महत्, अहंकार, पाँच तन्मात्र
मोह	अस्मिता	८	अणिमा आदि आठ ऐश्वर्य
महामोह	राग	१०	पारिवारिक दस अंग
तामिस्र	द्वेष	१८	आठ ऐश्वर्य, दस पारिवारिक अंग
अन्धतामिस्र	अभिविनेश	१८	,, ,, ,,
		६२	

(८) ऐश्वर्य

अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व, यत्रकामावसायित्व।

परिवार के दस अंग

१ माता	५ स्वसा (भगिनी)	९ मित्र
२ पिता	६ पत्नी	१० उपकारी
३ पुत्र	७ दुहिता (पुत्री)	
४ भ्राता	८ गुरु	

Scanned with CamScanner

(९) तुष्टि

(४) आध्यात्मिकी	नामान्तर	(५) बाह्या	नामान्तर	(यु॰ दी॰)
१. प्रकृति	अम्भ	१. अर्जनोपरति	तार	सुपार
२. उपादान	सलिल	२. रक्षणोपरति	सुतार	
३. काल	ओघ	३. क्षयोपरति	सुनेत्र	
४. भाग्य	वृष्टि	४. अतृप्त्युपरति (भोगोपरति)	सुमरीच	सुमारीच
			उत्तमाम्भसिक	
		५. हिंसोपरति	उत्तमाभय	

(८) सिद्धि

	नामान्तर		नामान्तर
१. ऊह	तार	५. आधिभौतिक दुःखविघात	प्रमुदित (मुदित)
२. शब्द	सुतार	६. आधिदैविक दुःखविघात	मोदमान
३. अध्ययन	तारतार	७. सुहृत्प्राप्ति	रम्यक
४. आध्यात्मिक दुःखविघात	प्रमोद	८. दान	सदाप्रमुदित (सदामुदित)

(२८) अशक्ति

एकादश इन्द्रियवध	ज्ञानेन्द्रियवध	१. घ्राणेन्द्रियवध	अजिघ्रता (घ्राणपाक)
		२. रसनेन्द्रियवध	सुप्तिता (जड़ता)
		३. चक्षुर्वध	अन्धता
		४. त्वग्वध	कुष्ठता
		५. श्रोत्रवध	बधिरता
	कर्मेन्द्रियवध	६. वाग्वध	मूकता
		७. पाणिवध	कुणिता
		८. पादवध	पंगुता
		९. पायुवध	उदावर्त्त (गुदावर्त्त)
		१०. उपस्थवध	क्लीबता
आन्तरिन्द्रियवध		११. मनोवध	उन्माद

सप्तदश बुद्धिवध	तुष्टिवध	१२. प्रकृतिवध	अनम्भ
		१३. उपादानवध	असलिल
		१४. कालवध	अनोघ
		१५. भाग्यवध	अवृष्टि
		१६. अर्जनोपरमवध	अपार
		१७. रक्षणोपरमवध	असुपार
		१८. क्षयोपरमवध	अपारपार(अपारावार)
		१९. अतृप्त्युपरमवध	अननुत्तमाम्भ
		२०. हिंसोपरमवध	अनुत्तमाम्भ
	सिद्धिवध	२१. ऊहवध	अतार
		२२. शब्दवध	असुतार
		२३. अध्ययनवध	अतारतार
		२४. आत्मिक दु:खविघातवध	अप्रमोद
		२५. भौतिक दु:खविघातवध	अप्रमुति
		२६. दैविक दु:खविघातवध	अमोदमान
		२७. सुहृत्प्राप्तिवध	अरम्यक
		२८. दानवध	असदाप्रमुदित

तालिका-चित्रक के अनन्तर सन्दर्भ प्रस्तुत है—

अम्भ इति गुणलिंगसन्निचयमेवाधिकुरुते । गुणाश्च सत्त्वरजस्-तमांसि लिंगञ्च महदादि अत्र सन्निहितं भवति। तदिदं प्रधानममितं भवति, अमितमुपलभ्यत इत्यम्भः ॥ २५ ॥

तुष्टिवर्ग के अन्तर्गत प्रकृति नामक प्रथम आध्यात्मिकी भूमि का विवरण यह सन्दर्भ प्रस्तुत करता है। तुष्टि के इस प्रथम अंग की 'अम्भ' संज्ञा का आधार क्या है? इसी का उल्लेख सन्दर्भ में है। जिस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए योगी ने संकल्प किया, उससे न्यून स्तर पर ही सन्तुष्ट होकर आगे के स्तरों (भूमियों) को प्राप्त करने के प्रयास से रुक जाना सामान्य 'तुष्टि' का स्वरूप है। जैसे सहस्र की प्राप्ति का संकल्प करके सौ की प्राप्ति पर ही सन्तुष्ट होकर आगे लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने से विरत हो जाना।

देह और आतमा के भेद का साक्षात्कार करने की भावना से प्रवृत्त हुए योगी के द्वारा जब अनात्मा में आत्मबुद्धि स्थापित कर ली जाती है, उसी के साक्षात्कार में सन्तोष कर लेना, उसी को अपना कल्याण-स्तर समझकर आगे अन्तिम लक्ष्य आत्म-अनात्म-भेद के साक्षात्कार की ओर से उदासीन हो जाना आध्यात्मिकी पहली 'तुष्टि' है। मूल प्रकृति का बाह्य इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं होता, तब अन्वय-व्यतिरेकी अनुमान-प्रमाण के द्वारा उसका ज्ञान प्राप्त किया जाता है। योगी देखता है प्रकृति के स्वरूप को और महत् आदि अनन्त विकारों के रूप में उसके परिणत

होने की चमत्कारपूर्ण अनुपम क्षमता को। प्रकृति-तत्त्व के साक्षात्कार में वह देखता है कि महत् आदि विकारों के रूप में समस्त प्रकृति का परिणाम नहीं हुआ है। यद्यपि यह अनन्त-जैसा दिखाई देनेवाला विशाल विस्तृत विश्व है, फिर भी प्रकृति का एक देश परिणत होने से बचा हुआ है। वह देखता है कि यह परिणामी नहीं है, तथा भोक्ता के साधन-रूप में भी प्रयुक्त नहीं हो रहा; तब यही अपरिणामी अकर्त्ता आत्मा हो सकता है। यही विशेषता तो आत्म-तत्त्व की कही जाती है, जो यहाँ उपलब्ध है। इस प्रकार अनात्मा में ही आत्म-भावना को स्थापित कर उसी में अपना कल्याण समझता हुआ सन्तुष्ट हो जाता है। इसी आधार पर आध्यात्मिकी प्रथम तुष्टि का नाम 'प्रकृति' है।

इस तुष्टि की पारिभाषिकी संज्ञा 'अम्भ' है। इसका आधार क्या है? यह भी समझना चाहिए। जब योगी आत्मा-अनात्मा के भेद का साक्षात्कार करने की भावना से अनात्म-तत्त्व प्रधान के साक्षात्कार में सर्वात्मना लीन होता है, तब देखता है कि यह प्रधान तत्त्व समस्त विश्व का बीज है; महत् आदि अनन्त विकार इसी के एक देश के परिणाम हैं, तब उसके सामने प्रधान की अमित (न नापे जाने वाली असीमित) सत्ता भासित होती है। 'अमितं भाति' इस निर्वचन के आधार पर 'अमितं' का 'अम्' और 'भाति' का 'भ' वर्ण लेकर 'अम्भ' संज्ञा व्यवहृत होती है। इसी भाव को लेकर प्रस्तुत सन्दर्भ में स्थिति का विवरण दिया गया है।

'अम्भ' यह संज्ञा गुण और लिंग के सन्निचय को अधिकृत करती है। सन्निचय का अर्थ है—समाहार, एक जगह इकट्ठे होकर रहना। गुण हैं—सत्त्व, रजस्, तमस्; लिंग हैं—महत् आदि विकार; वे सब इस संज्ञा में अन्तर्हित हैं। तात्पर्य है, यह संज्ञा मूल प्रकृति और उसके समस्त विकारों को अपने पेटे में समाये हुए है। इस प्रकार प्रधान अमित (असीमित, नापे जाने की स्थिति से बाहर) रूप में प्रकाशित रहता है (=अमितं भाति), तथा अमित रूप में जाना जाता है (=अमितमुपलभ्यते)। 'अमितं' का 'अम्' तथा दीप्त्यर्थक 'भा' धातु का 'भ' अथवा प्राप्त्यर्थक 'लभ्' धातु का 'भ' लेकर बने 'अम्भ' नाम में समस्त प्रकृति एवं प्राकृत जगत् अन्तर्निविष्ट है। अम्भ संज्ञा इस स्वर के योगी की समस्त परिस्थिति को अभिव्यक्त करती है।

इस प्रकार का योगी प्रधान-विषयक समाधि के फलस्वरूप प्रधान के आश्चर्यजनक महत्त्व को जानकर उसकी महिमा से अभिभूत हुआ किसी भी ऐसे तत्त्व को नहीं देख पाता, जो प्रधान से बाहर अपना कोई अतिरिक्त अस्तित्व रखता हो। तब योग के इसी स्तर को वह योगी कैवल्य रूप में ग्रहण करता है। ऐसे योगियों का जीवन प्रकृति के विश्लेषण-विवेचन में ही समाप्त हो जाता है। आगे जन्म-जन्मान्तरों में इसी विशेषता के साथ वह चक्कर काटा करता है।

इस तुष्टि के आधार आठ प्रकृति-तत्त्व हैं। एक मूल प्रकृति, तथा सात—महत्,

Scanned with CamScanner

अहंकार, पाँच तन्मात्र। जिस प्रकार प्रकृति-विजयी आत्मज्ञान में अज्ञानी रहता है, इसी प्रकार महत्तत्त्वजयी मूल प्रकृतिज्ञान में तथा उससे उत्तर आत्मज्ञान में अज्ञानी रहता है। ऐसे ही अहंकारजयी योगी ऊपर आगे के महदादिज्ञान में अज्ञानी रहता है। तन्मात्र-तत्त्वों के साक्षात्कार में भी शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध के उत्तरोत्तर तत्त्वविजयी ऊपर के पूर्व-पूर्व तत्त्वों के विज्ञान में अज्ञानी रहते हैं, तथा इन्हीं विशेषताओं के साथ इन्हीं को कैवल्य रूप में ग्रहण करते जन्म-जन्मांतरों में चक्कर काटा करते हैं। इन विशेषज्ञ आत्माओं की इस परिस्थिति को आचार्यों ने 'प्रकृतिलय' नाम से वर्णन किया है, अर्थात् ऐसे योगियों का प्रकृति में लय हो जाता है। तात्पर्य है, उनके जन्म-जन्मान्तर इसी प्रकार प्रकृति के विश्लेषण-विवेचन में चलते रहते हैं। इसी को पूर्वाचार्यों ने उनका प्रकृति में लय होना बताया है।

ये महान् आत्मा समाज में सदा मूर्द्धन्य व पूजनीय रहते हैं। आधुनिक विज्ञान के आविष्कर्त्ता विद्वान् इसी प्रकार के आंशिक योगी समझने चाहियें। प्रकृति के अन्तर्भूत गूढ़ रहस्यों को इन योगियों ने प्रकट रूप में लाने का सफल प्रयास किया है; भले ही वे रहस्य अभी तक अत्यल्प संख्या व परिमाण में प्रकट किए जा सके हों। आध्यात्मिकी 'अम्भ'-संज्ञक प्रथम 'तुष्टि' का यह संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया।

यहाँ आशंका होती है, आठ अनात्म प्रकृति-तत्त्वों में आत्मबुद्धि होना तुष्टि है; यही बात 'तमः'-संज्ञक अविद्या के विषय में कही गई है—प्रकृति, महत्, अहंकार, पाँच तन्मात्र—इन अनात्म तत्त्वों में आत्म-बुद्धि होना 'तमः'-संज्ञक अविद्या है। यह अविद्या और तुष्टि दो पदार्थों का सांकर्य हो गया। इन दोनों का जब लक्षण या स्वरूप एक ही है, तब ये दो पदार्थ क्यों? इन्हें एक ही कहना युक्त होगा।

यह आशंका ठीक नहीं, क्योंकि इन दोनों का स्वरूप भिन्न है, एक नहीं। प्रकृति और पुरुष के विषय में उपदेश किये जाने पर सत्य को धारण किये जाने की इच्छा होने पर भी जो श्रोता उन दोनों (प्रकृति-पुरुषों) के बीच प्रकृति को ही श्रेष्ठ तत्त्व मानकर उसी को पुरुष-तत्त्व मान लेता है, पुरुष के अतिरिक्त अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता, ऐसा जानना 'तमः'-संज्ञक अविद्या है।

इससे भिन्न तुष्टि का स्वरूप है। उक्त दोनों तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप को जानने के लिए प्रवृत्त हुआ व्यक्ति प्रकृति के ज्ञान में सन्तोष प्राप्त कर लेने से अन्य पदार्थ को जानने के विषय में रुचि नहीं दिखाता। वह अनात्मा में आत्म-ज्ञान का आग्रही नहीं है; जैसा कि पहला है। यह तो केवल अनात्म-ज्ञान में सन्तुष्ट होकर आगे जानकारी के लिए उदासीन हो जाता है। यही इन दोनों में भेद है। इसलिए इनमें पदार्थ-सांकर्य का दोष देना निराधार एवं असंगत है।

इससे अगला सन्दर्भ आध्यात्मिकी 'उपादान'-संज्ञक दूसरी तुष्टि का विवरण प्रस्तुत करता है। सन्दर्भ है—

सलिलं सलिलमिति वैकारिकोपनिपातमेवाधिकुरुते। सति तस्मिन् लीयते जगत्॥ २६॥

प्रकृति-तत्त्व के विद्यमान रहते भी, तथा कार्योत्पत्ति के लिए उसके सामर्थ्य को स्वीकार करने पर भी, उसके उपादानभाव की उपेक्षा करके कार्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं। किसी कारणतत्त्व से कार्य की उत्पत्ति तभी सम्भव है जब उस कार्य को उत्पन्न करने के लिए कारणतत्त्वों में उपादानभाव की क्षमता हो। 'उपादान' पद का अर्थ है—कारणतत्त्व का वह सामर्थ्य जिसके अनुसार वह किसी कार्य के रूप में परिणत हो सकता है। प्रत्येक कारणतत्त्व प्रत्येक कार्य के रूप में परिणत होने का सामर्थ्य नहीं रखता। जिन कारणतत्त्वों में जिस कार्य के प्रति उपादान-क्षमता है, वे कारणतत्त्व उसी कार्य के रूप में परिणत हो सकते हैं। चाहे जो कोई कारणतत्त्व—उपादानभाव की उपेक्षा करके—चाहे जिस कार्य के रूप में परिणत हो जाएँ, ऐसा सम्भव नहीं। यदि कारणमात्र से कार्यमात्र की उत्पत्ति सम्भव हो, तो कार्य-कारण-व्यवस्था का लोप हो जाएगा। तब पुरुष से गाय और भैंसे से पुरुष की उत्पत्ति हो जानी चाहिए, पर ऐसा कदापि सम्भव नहीं। इसलिए कारणतत्त्व—प्रकृति के रहते भी तथा कार्योत्पत्ति के प्रति उसके सामर्थ्य को स्वीकार करते हुए भी कार्यरूप में परिणत होने के लिए कार्य के प्रति उसके उपादानभाव को देखना अत्यन्त आवश्यक है। फलतः कारणतत्त्व में उपादानभाव ही मुख्य है। उसी को आत्म-रूप से ग्रहण कर जो योगी उसी में सन्तोष प्राप्त करता है, यह 'उपादान'-संज्ञक दूसरी आध्यात्मिकी तुष्टि कही जाती है।

इसकी पारिभाषिक संज्ञा 'सलिल' होने का आधार यही है कि सद्रूप कारण-तत्त्व में सारा जगत् लीन होता जाना जाता है—'सति लीयते इति सलिलम्'। 'सत्' पद का 'स' और लयार्थक 'ली' धातु से 'इलच्' प्रत्यय होकर 'सलिल' पद का निर्वचन किया जाता है, जो इस भाव को अभिव्यक्त करता है कि यह समस्त कार्य-जगत् अपने उस कारणतत्त्व में लीन हो जाता है, जो उस कार्य का उपादान-तत्त्व है। यही भाव प्रस्तुत सन्दर्भ द्वारा प्रकट किया गया है।

सलिलम्—सलिल नामक तुष्टि का स्वरूप इस प्रकार समझना चाहिए। 'सलिल' यह संज्ञा विकारों से प्राप्त उपनिपात को ही अधिकृत करती है। 'उपनिपात' पद का अर्थ है—उसमें आकर गिर जाना, अर्थात् विकार का अपने उपादान-कारण में लीन हो जाना। योगी समाधि द्वारा कार्यकारणभाव की इस वास्तविकता को साक्षात् देख पाता है कि प्रत्येक विकार अपने उपादान-कारणतत्त्वों से अभिव्यक्त होता, और समय आने पर उन्हीं में लय को प्राप्त करता है। दूसरी आध्यात्मिकी तुष्टि के 'सलिल' नाम होने में यही मुख्य आधार है कि प्रत्येक विकार अपने सद्रूप उपादान-कारणतत्त्वों में लीन होता रहता है। ऐसा योगी उपादानमूलक इस प्राकृतिक कार्यकारणभाव पर विजय प्राप्त कर उसकी महिमा से समस्त संसार

को व्याप्त समझकर उससे अतिरिक्त आत्म-तत्त्व को नकारता हुआ उसी में संतोष प्राप्त करता तथा उसी को कैवल्य समझ बैठता है। उसी के अनुसार जन्म-जन्मांतर रूप में चक्कर काटा करता है।

क्रमप्राप्त 'काल'-संज्ञक तीसरी तुष्टि का निरूपण प्रस्तुत है। जब प्रकृतिगत उपादान-सामर्थ्य के रहते हुए भी कोई योगी व्यक्ति यह देखता है कि केवल उपादान-सामर्थ्यमात्र से कार्य का प्रादुर्भाव नहीं होता, तो वह उससे भी बलवत्तर कारणतत्त्व की खोज में लगता है। वह देखता है कि प्रत्येक कारणतत्त्व कार्य-प्रादुर्भाव के लिए काल की प्रतीक्षा करता है। वैसा कालविशेष आने पर ही बीज से अंकुर, अंकुर से नाल, नाल से काण्ड तथा काण्ड से फलरूप यव (जौ) आदि अन्न-कणों का प्रसव होता देखा जाता है। यदि ऐसा न हो और इस प्रवृत्ति में 'काल' की उपेक्षा कर दी जाय, तो कारणतत्त्व में प्रतिक्षण उपादान-सामर्थ्य रहते हुए किसी भी क्षण में बीज से अंकुर आदि का प्रादुर्भाव हो जाना चाहिए, परन्तु ऐसा कभी नहीं होता। इसलिए कारणतत्त्वगत उपादान-सामर्थ्य से भी अधिक बलवान् 'काल' है। अन्य सब कारणों के रहते हुए भी कार्य का प्रादुर्भाव तभी होता है, जब वह कालविशेष उपस्थित हो।

इसके अतिरिक्त यह भी स्पष्ट है कि काल का विपर्यय होने पर भी कार्य का प्रादुर्भाव नहीं देखा जाता। यदि इसे स्वीकार न किया जाय, तो शरद् ऋतु में जौ, गेहूँ आदि का प्रादुर्भाव होना चाहिए, और वसन्त में धान आदि का। परन्तु ऐसा होना न सम्भव है, न स्वीकार्य है। प्राणियों के स्वभाव, आहार, विहार आदि की व्यवस्था भी काल-अनुरूप देखी जाती हैं। काल-सम्बन्धी व्यवस्था का साक्षात्कार करनेवाला योगी कारण-जगत् में काल की बलवत्तर स्थिति को देखता हुआ, तथा उसकी प्रतियोगिता में अन्य किसी पदार्थ की सत्ता को स्वीकार करता हुआ उसी में आत्मबुद्धि कर लेता है; उसी में सन्तुष्ट हो जाता है। कालजयी योगी का यह स्तर आध्यात्मिकी तीसरी तुष्टि 'काल'-संज्ञक कही जाती है। इसका पारिभाषिक नाम 'ओघ' है। इसका अर्थ है—नदी में आनेवाली उग्र बाढ़। जैसे पानी की बाढ़ उसके लपेट में आए तिनके, पत्ते, लकड़ी, पत्थर आदि सबको बहा ले जाती है, इसी तरह काल का निरन्तर बहता हुआ यह तीव्र प्रवाह समस्त प्राणी व वस्तुतत्त्व को अपने में समेटकर अबाध गति से प्रतिक्षण बहाकर ले-जाया करता है। प्राणी गर्भ में आया, गर्भ से बाहर बाल्य-कौमार-यौवन-स्थाविर्य-मरण; उसके बाद फिर वही क्रम; यह अनादि-अनन्त प्रवाह ऐसा ही चल रहा है। बीज भूमि में बोया, बीज से अंकुर-नाल-काण्ड-फलरूप में वैसे ही अनेक बीज; फिर वही क्रम। जलौघ के समान होने से इस तुष्टि का नाम 'ओघ' है।

इस 'तुष्टि' का विवरण देनेवाला कोई प्राचीन सन्दर्भ नहीं मिला। प्रथम-द्वितीय तुष्टि-सम्बन्धी सन्दर्भों का व्याख्यान कर दिया है। आगे चतुर्थ तुष्टि का

सन्दर्भ प्रस्तुत किया जा रहा है। मध्य में आई तृतीय तुष्टि का यह प्रसंगवश व्याख्यान हो गया है ॥२६॥

अगला सन्दर्भ आध्यात्मिकी 'भाग्य'-संज्ञक चौथी तुष्टि का विवरण प्रस्तुत करता है। सन्दर्भ है—

वृष्टिर्वृष्टिरिति श्रिय एवोपनिपातमधिकुरुते सा हि वृष्टिवत् सर्वमाप्याययति ॥ २७ ॥

गत सन्दर्भों में आध्यात्मिकी तुष्टि के प्रथम तीन अंगों का विवरण प्रस्तुत किया गया। लोक में देखा जाता है, कालसामर्थ्य के रहते भी प्राणी-अप्राणी तत्त्वों की उत्पत्ति भाग्य की अपेक्षा किया करती है। विशेष काल और अन्य अपेक्षित साधनों की उपस्थिति में भी अभीष्ट वस्तुओं की उत्पत्ति होती कभी देखी जाती है, कभी नहीं। इससे ज्ञात होता है, वस्तुतत्त्व की उत्पत्ति में अन्य भी कोई ऐसा बलवत्तर कारण है, जिसकी विद्यमानता रहने पर वस्तु की उत्पत्ति होती है, अविद्यमानता में नहीं होती।

इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि यदि वस्तुमात्र की उत्पत्ति कालविशेष के कारण ही मानी जाती है, तो अभ्युदय व आध्यात्मिक अभ्युत्थान के लिए शास्त्रों में जो स्नान, व्रत, उपवास, यज्ञ, उपासना आदि का विधान किया है, वह अनर्थक हो जाता है, क्योंकि काल की सदा विद्यमानता में सब प्रकार के अभ्युत्थान सम्भव होने से स्नान, उपासना आदि शास्त्रविहित कर्मानुष्ठानों की क्या आवश्यकता रह जाती है? परन्तु शास्त्र इनका महत्त्वपूर्ण रीति पर विधान करता है। इससे ज्ञात होता है, भावतत्त्वों की उत्पत्ति केवल काल को निमित्त मानकर समंजस नहीं कही जा सकती।

इसके अतिरिक्त लोक में यह देखा भी जाता है कि प्रकृति-उपादान और कालविशेष कारणों के रहते भी कालविशेष की प्राप्ति भाग्यविशेष के उदय पर ही हो पाती है। इसलिए प्रकृति आदि का संभार भावों की उत्पत्ति का एकमात्र कारण नहीं है। इन सबके रहते भाग्य महत्त्वपूर्ण कारण है। जो योगी कार्य-कारण-भाव से रहित इसी को भोक्ता आत्मतत्त्व समझकर समाधि द्वारा साक्षात्कार कर सन्तुष्ट हो जाता है, योगी का यह स्तर या भूमि आध्यात्मिकी तुष्टि का 'भाग्य'-संज्ञक चौथा अंग है। इसका शास्त्रीय पारिभाषिक नाम 'वृष्टि' है, क्योंकि यह वर्षा के समान सबको अभिवृद्धि प्रदान करती तथा मुरझाए हुओं को हराभरा-तरोताजा कर देती है। इसी का विवरण संक्षेप से प्रस्तुत सन्दर्भ द्वारा किया गया है।

'वृष्टिः'—वृष्टि नामक चतुर्थी आध्यात्मिकी तुष्टि का स्वरूप इस प्रकार समझना चाहिए—यह वृष्टि-संज्ञक चतुर्थी तुष्टि श्री-लक्ष्मी-शोभा-सौन्दर्य सम्पत्ति के उपनिपात को ही अधिकृत करती है, क्योंकि वह वृष्टि के समान सबको

आप्यायित करती है, सुख-समृद्धि से सम्पन्न करती है। जैसे मुरझाए हुए तृण-लता-वृक्ष आदि वर्षा से हरेभरे हो जाते हैं, ऐसे ही भाग्योदय सब प्राणियों को ऐहिक-पारलौकिक सुख-समृद्धि से आप्यायित, पूर्ण कर देता है। वर्षा के समान आप्यायित करने से इस तुष्टि का नाम 'वृष्टि' बताया गया है। इस प्रकार का योगी भाग्यों पर विजय प्राप्त करके उसकी महिमा से ही जगत् को भरा-पूरा पाता है; अन्य पदार्थ के अस्तित्व को वह नहीं देख पाता। योग के इसी स्तर को कैवल्य समझकर ग्रहण करता है, जिसके फलस्वरूप जन्म-जन्मान्तर के चक्कर काटा करता है।

गत तीन (२५,२६,२७) सन्दर्भ सांख्यकारिका की पचासवीं आर्या पर युक्ति-दीपिका नामक व्याख्या में यथाक्रम 'तथा च शास्त्रमाह, तथा च कृत्वा शास्त्रमाह, शास्त्रमप्याह' कहकर उद्धृत हैं। उसी व्याख्या की छाया में इनका विवरण प्रस्तुत किया गया है ॥

अगला सन्दर्भ है—

महामोहमयेनेन्द्रजालेन प्रकाशशीलं सत्त्वमावृत्य तदेवाकार्ये नियुङ्क्ते ॥ २८ ॥

यह सन्दर्भ पातंजल योगदर्शन-सूत्र (२.५२) के व्यासभाष्य में 'यत्तदाचक्षते' कहकर उद्धृत है। वाचस्पति मिश्र ने तत्त्ववैशारदी टीका में 'अत्रैवाऽऽगमिनामनुमतिमाह' कहकर उक्त सन्दर्भ का अवतरण किया है।

योगसूत्र में प्राणायाम के अभ्यास का फल बताया है। अधर्मजनित उग्र संस्कारों से जब आत्मा अभिभूत रहता है, तब वे प्रबल संस्कार साधनभूत सत्त्व-प्रधान भी बुद्धितत्त्व को अनिष्ट कर्मों की ओर प्रवृत्त करते रहते हैं। विवेक-ज्ञान होने के मार्ग में ये संस्कार बाधा बने रहते हैं। यह प्रकाशरूप विवेक-ज्ञान में आवरण हैं। प्राणायाम का निरन्तर अभ्यास इस आवरण को शिथिल करता है, उसकी उग्रता-प्रबलता को क्षीण कर देता है। आवरण के झीना होने पर प्रणव-जप आदि द्वारा विवेक-ज्ञान का मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

प्रस्तुत सन्दर्भ में आवरण की स्थिति का उल्लेख किया गया है। इन्द्रजाल का अर्थ मोटे शब्दों में दाँव-पेच होता है। जादूगर जैसे अपने हस्तकौशल अर्थात् हाथ की सफाई व दाँव-पेच से वास्तविकता को ढके रखता है, ऐसे ही रागादि दोषों से जनित अधर्ममूलक संस्कार सत्त्वगुणप्रधान चित्त को अनर्थ की ओर प्रवृत्त होने के लिए प्रेरित करते रहते हैं।

इन्द्रजाल के समान महान् अज्ञानमय आवरण से प्रकाशस्वभाव-चित्त बराबर ढका रहता है। जब चित्त अज्ञान-व्यामोह से अभिभूत रहता है, तब वह आत्मा व अनात्मा के भेद को प्रकाशित करने में असमर्थ होता है। वह संस्कारों के रूप में आत्मगत व्यामोह इसको विवेक-ज्ञान के विरोधी अवाञ्छनीय वैषयिक कर्मों में लगाए रखता है (=तदेव अकार्ये नियुङ्क्ते)। संसार में आत्मा के बँधे रहने का कारण यह विवेकज्ञान-प्रकाश को ढकनेवाला व्यामोह प्राणायाम के निरन्तर अभ्यास

Scanned with CamScanner

के द्वारा दुर्बल होता चला जाता है। प्रकृत सूत्रार्थ के पेटे में सन्दर्भ का यही अर्थ है।

अग्रिम सन्दर्भ है—

स्वभावं मुक्त्वा दोषाद् येषां पूर्वपक्षे रुचिर्भवति, अरुचिश्च निर्णये भवति ॥ २६॥

यह सन्दर्भ योगसूत्र (४.२५) के व्यासभाष्य में 'यस्याभावादिदमुक्तम्' कहकर उद्धृत है। वाचस्पति मिश्र ने 'अनधिकारिणमागमिनां वचनेन दर्शयति' कहकर सन्दर्भ का अवतरण किया है।

प्रकरण में प्राप्त योगसूत्र का तात्पर्य है—जब समाधि द्वारा योगी को प्रकृति-पुरुष के भेद का साक्षात्कार हो जाता है, तब आत्मज्ञानी विवेकी व्यक्ति की –चित्त-देह आदि प्राकृत पदार्थों में—आत्मभावना समाप्त हो जाती है। उस अवस्था में वह योगी चित्त, देह आदि अनात्म (प्राकृत) पदार्थों को आत्मा नहीं समझता, जैसा कि आत्मसाक्षात्कार न होने पर संसारी दशा में समझता रहा है। संसारी दशा में व्यक्ति—देह, इन्द्रिय आदि प्राकृत पदार्थों में विकार होने पर—उसको आत्मा में ही समझता है। मुझे ज्वर हो गया, मुझे अतिसार लग गए, इत्यादि देह-धर्मों को आत्मा में समझता है। इसका तात्पर्य है, वह देह को आत्मा मानता है। इस प्रकार की भावना विवेकज्ञान हो जाने पर सर्वथा समाप्त हो जाती है।

संसारी दशा में ऐसे व्यक्ति पाए जाते हैं, जिनमें विवेकज्ञान होने से पूर्व अपवर्ग-प्राप्ति की भावना जागृत रहती है। जैसे वर्षा ऋतु में मेह बरसने के बाद पृथिवी पर अनेक प्रकार की ओषधि-वनस्पतियाँ अंकुरित हो जाती हैं, इससे अनुमान होता है—उनके बीज पृथिवी में पहले से विद्यमान थे, ऐसे ही मोक्षविषयक कथा-प्रवचन व चर्चा आदि सुनने पर हर्ष-विभोर होकर जिनके रोंगटे खड़े हो जाते हैं, अथवा भावनाओं का उद्‌गार उभर आने पर आँसू निकल आते हैं, उससे अनुमान होता है—इस व्यक्ति ने पूर्व-जीवन में मोक्ष-मार्ग का अभ्यास किया है, इसमें अपवर्ग-प्राप्ति की भावना का बीज विद्यमान है। उस समय आत्मा में आत्म-भाव की स्वाभाविक भावना प्रवृत्त रहती है। देहादि को आत्मा से भिन्न प्राकृतिक समझना, और यह जानना कि प्राकृतिक जड़ चित्त आदि करण आत्मा के साधन-मात्र होकर उसके लिए निरन्तर बाह्य-आभ्यन्तर विषयों को प्रस्तुत किया करते हैं, यह प्रवाह चलता रहता है।

ऐसे व्यक्तियों से विपरीत संसारी व्यक्तियों की प्रवृत्ति का स्वरूप प्रस्तुत सन्दर्भ द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। सांसारिक विषयों में लिप्त ऐसे व्यक्तियों की रुचि राग-द्वेष-मोह आदि दोषों के कारण आत्मा में आत्मभाव को छोड़कर देहादि को ही आत्मा समझने में रहती है। ऐसे अनधिकारी व्यक्तियों में निरन्तर विषयभोगों में लिप्त रहने की भावना के बीज विद्यमान रहते हैं। वहाँ अध्यात्म-मार्ग से विपरीत भावनाओं का ही सदा बोलबाला रहता है। वे समझते हैं, ब्रह्म-चर्य-प्राणायाम आदि तप, सन्ध्या-उपासना-अग्निहोत्र आदि कर्म सब व्यर्थ हैं, इनका

स्वर्ग आदि फल कुछ नहीं होता; पूर्व-पर जन्म (जीवन) का कोई अस्तित्व नहीं है। मैं कौन था? कैसे था? यह सब जगत् क्या है? कैसे हुआ है? हम आगे क्या होंगे? कैसे होंगे? इत्यादि बातों को कौन जानता है? इसलिए संसार में जैसे चाहो, मजे से रहो। यह अध्यात्म-मार्ग की दृष्टि से पूर्वपक्ष है। अध्यात्म के अनधिकारी व्यक्तियों का इसी की ओर रुझान रहता है।

भगवान् कृष्ण ने गीता के सोलहवें अध्याय में आसुरी सम्पत् का विवरण प्रस्तुत करते हुए ऐसे व्यक्तियों के विचार और स्थिति का बहुत उपयुक्त वर्णन प्रस्तुत किया है। कतिपय श्लोक उल्लेख्य हैं--

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥७॥
असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत् कामहेतुकम् ॥८॥
चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥११॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥१२॥
इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी ॥१४॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१५॥

ऐसे लोग नहीं जानते कि प्रवृत्ति क्या है, और निवृत्ति क्या है; अर्थात् वे लोग यह नहीं जानते कि शुभ कर्म क्या है, जिनमें प्रवृत्ति होनी चाहिए, तथा अशुभ कर्म क्या है, जिनकी ओर से निवृत्ति होना आवश्यक है। तात्पर्य है, वे शुभ-अशुभ कर्म अथवा कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य की वास्तविकता को नहीं जानते। उनमें न शुचिता रहती है; न सदाचार और न सत्यभाषण आदि ही ॥७॥

ऐसे लोग कहते हैं कि सारा जगत् अ-सत्य, अ-प्रतिष्ठ है; अर्थात् निराधार है, अनीश्वर है, बिना परमेश्वर का है। तात्पर्य है, ईश्वर नाम का कोई पदार्थ नहीं है; मूल तत्त्वों के परस्पर बिना मिले ही यह जगत् बना हुआ है। तात्पर्य है, न कोई ईश्वर नाम का तत्त्व इसे बनानेवाला है, न अन्य किन्हीं मूल तत्त्वों से यह बनता है; यह ऐसा ही सदा से चला आ रहा है। इसका हेतु या प्रयोजन केवल मनुष्यों की काम-वासनाओं की पूर्ति करना है। इससे अतिरिक्त इसका अन्य क्या हेतु हो सकता है? ॥८॥

Scanned with CamScanner

इसी प्रकार मरण पर्यन्त सुख भोगने की अगणित चिन्ताओं में फँसे हुए कामोपभोग—विषय-वासनाओं में डूबे हुए, निश्चयपूर्वक उसी को सर्वस्व मानने वाले—॥११॥

सैकड़ों आशा-पाशों से जकड़े हुए, काम-क्रोध-परायण अर्थात् कामनाओं एवं क्रोध आदि दोषसमुदाय से अभिभूत हुए, सब तरह के वैषयिक सुख लूटने के लिए अन्याय से प्रचुर धन-संचय करने की चेष्टा में लगे रहते हैं ॥१२॥

मैंने आज यह प्राप्त कर लिया, कल उस मनःकामना को प्राप्त करूँगा। यह धन-सम्पत्ति मेरे पास है, और फिर वह सम्पदा भी मेरी हो जाएगी ॥१३॥

इस शत्रु को मैंने मार लिया है, औरों को भी समय आने पर मारूँगा। मैं ईश्वर हूँ, मैं ही पार्थिव सम्पदा का भोग करनेवाला हूँ, मैं सिद्ध, बलशाली और सुखी हूँ ॥१४॥

मैं सब प्रकार के ऐश्वर्य आदि से सम्पन्न हूँ, श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न हुआ हूँ, मेरे समान ऐसा है कौन, जो मुकाबले में सामने आए? मैं यज्ञ करूँगा, भले ही शास्त्र के ठेकेदार उसे अशास्त्रीय या विधिहीन कहें; मैं दान दूँगा, भले ही उसे नाम कमाने का ढंग कहा जाय। मैं मौज से अपना जीवन जीऊँगा। इस प्रकार अज्ञान से मोहित ऐसे लोगों का वैषयिक आसक्तियों की ओर ही झुकाव रहता है ॥१५॥

विवेकज्ञान के लिए अध्यात्ममार्ग की ओर प्रवृत्ति में ऐसे लोगों की सर्वथा अरुचि रहती है; जन्म-जन्मान्तर पाप-योनियों में चक्कर काटा करते हैं ॥२६॥

अग्रिम सन्दर्भ है—

स्यात् स्वल्पः संकरः सपरिहारः सप्रत्यवमर्शः, कुशलस्य नापकर्षायास्नम्, कस्मात्? कुशलं हि मे बह्वन्यदस्ति, यत्रायमावापं गतः स्वर्गेऽप्यपकर्ष-मल्पं करिष्यति ॥ ३० ॥

यह सन्दर्भ योग-सूत्र (२.१३) के व्यासभाष्य में 'यत्रेदमुक्तम्' कहकर उद्धृत है। वाचस्पति मिश्र तत्त्ववैशारदी में 'यत्रेदमुक्तं पञ्चशिखेन' कहकर सन्दर्भ का अवतरण करता है। सांख्यकारिका की सांख्यतत्त्वकौमुदी नामक टीका में वाचस्पति मिश्र ने 'यथाह स्म भगवान् पञ्चशिखाचार्यः' कहकर सन्दर्भ के आद्य भाग को उद्धृत किया है।

योग-दर्शन के जिस सूत्र के व्यासभाष्य में यह सन्दर्भ उद्धृत है, उस सूत्र में बताया गया है कि पूर्वकृत कर्मों के संस्कार जब विपाकोन्मुख (फल देने के लिए तैयार) होते हैं, तब उनका विपाक (फल) तीन रूपों में होता है—जाति, आयु, भोग। जाति का अर्थ जन्म है, कर्मों के अनुसार किसी योनि में जन्म लेना, तथा आयु, संस्कारों के अनुरूप न्यून-अधिक होना। भोग उस चालू जीवन में पहले किए कर्मों से बने संस्कारों के अनुसार—सुख-दुःख आदि का अनुभव करना।

इस प्रसंग में भाष्यकार ने अनेक विकल्प प्रस्तुत किए हैं—क्या एक कर्म एक ही जन्म का निमित्त होता है, या अनेक जन्मों को देता है? दूसरा विकल्प किया—क्या अनेक कर्म अनेक जन्मों के कारण होते हैं, अथवा अनेक कर्म एक जन्म को सम्पन्न करते हैं? इसमें पहले विकल्पों में दोष दिखाकर अन्तिम विकल्प को स्वीकार किया—अनेक कर्मों का संघट्ट—समूह एक जन्म का निमित्त बनता है। अनादिकाल से अनेक जन्मों की संचित अनन्त वासना कर्मजनित संस्कार-रूप से आत्मा में अवस्थित—संचित रहती है। ईश्वरीय व्यवस्था के अनुसार उन संचित वासनाओं में से जिन वासनाओं के आधार पर जो जन्म होता है, उन्हीं के अनुसार उस जीवन के आयु और भोग होते हैं। चालू जीवन में व्यक्ति अनेक नये शुभ-अशुभ कर्म करता है। इनमें कुछ शुभ-अशुभ कर्मों का फल उसी जीवन में भोग लिया जाता है, जिस जीवन में वे किये गए। कुछ कर्म भोगे जाने से रह जाते हैं। उनका फल यथावसर अगले जन्मों में भोगा जाता है। जिन कर्मों का फल चालू एक जन्म में भोगा जाता है, उसे 'एकभविक कर्माशय' कहा जाता है। उसी जन्म में किये गए कुछ शुभ-अशुभ कर्मों के भोगे जाने और कुछ न भोगे जाने के आधार पर यह एकभविक कर्माशय 'दृष्टजन्मवेदनीय' तथा 'अदृष्टजन्मवेदनीय' नाम से दो जगह विभक्त है। जैसे पहले लिखा गया—जो कर्म उसी जन्म में किये, उसी में भोग लिये, वह 'दृष्टजन्मवेदनीय एकभविक कर्माशय' है। जो उसी जन्म में भोगने से रह गए, 'अदृष्टजन्मवेदनीय' हैं।

अब जिस प्रारब्ध-कर्माशय के आधार पर चालू जन्म हुआ था, वे भोगे जाकर नष्ट हो गए, और उस देह के मरण का समय आ गया। देहपात के अनन्तर जितनी अनन्त वासना संचित हैं, तथा संलग्न पूर्व-जीवन में अनुष्ठित जो शुभ-अशुभ कर्म अभुक्त रह गए हैं, वे सब संचित वासनाओं के साथ मिलकर विपाकोन्मुख होने के लिए अगला जन्म होने के अवसर पर सहसा आक्रमण करते हैं। यह अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाक कर्माशय है। अदृष्टजन्मवेदनीय इसलिए, क्योंकि उनका फल आगे आनेवाले जन्मों में भोगा जाना है। अनियतविपाक इसलिए, क्योंकि अभी उनके विपाक अर्थात् फलोन्मुख होने का नियमन नहीं हुआ। फलोन्मुखता कर्मों के प्रधान-अप्रधान होने के आधार पर ईश्वरीय व्यवस्था के अनुसार होती है।

आचार्यों ने ऐसे कर्मों की तीन गति बताई हैं—

१. किए कर्म का बिना ही परिपाक के नाश हो जाना। यह तब होता है, जब कोई उग्र शुभ कर्म उभरकर सामने आता है; वह उसी प्रकार के दुर्बल अशुभ कर्म को नष्ट कर देता है।

२. प्रधान कर्म में दुर्बल गौणकर्म का भी बीजरूप से अवस्थित रहना। प्रधान शुभ कर्म के विपाकोन्मुख होने का जब अवसर आता है, तो वह बीजरूप से अवस्थित दुर्बल अशुभ कर्म भी फलोन्मुख हो जाता है।

Scanned with CamScanner

३. नियतविपाक प्रधान कर्म के द्वारा अनियतविपाक दुर्बल कर्म प्रतिबंधित कर दिया जाता है; तब वह पीछे दबा हुआ चिरकाल तक अपने विपाकोन्मुख होने की प्रतीक्षा में पड़ा रहता है।

अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाक कर्माशय की उक्त तीन गतियों में से संख्या दो की गति के उदाहरणरूप में पञ्चशिख का एक सन्दर्भ प्रस्तुत किया गया है। प्रसंग है—स्वर्ग की कामनावाला व्यक्ति ज्योतिष्टोम याग का अनुष्ठान करता है। ज्योतिष्टोम के सम्पादन में पशुहिंसा का उल्लेख है। कतिपय आचार्यों का कहना है—यह वैदिकी अर्थात् वेद-प्रतिपादित हिंसा है, यह हिंसा अधर्म को पैदा नहीं करती, क्योंकि स्वर्ग के अनुपम साधन ज्योतिष्टोम याग जैसे महान् धर्म का अंग हैं। परन्तु सांख्याचार्यों ने इस पद्धति को कभी सहन नहीं किया; सदा इसका विरोध किया है। उनका कहना है, हिंसा सदा हिंसा है, कहीं भी की जाय। अपने रूप में वह अधर्म है, उसका दुःखरूप फल अवश्य भोगना होगा। यदि याग की पूर्ण सम्पन्नता के लिए हिंसा आवश्यक है तो इतना हो सकता है कि यज्ञ का उपकारक अंग मान लिया जाय, पर इससे उसका हिंसा-स्वरूप तिरोहित नहीं होता। वेद सब प्रकार की हिंसा का निषेध करता है, इसलिये हिंसा जहाँ भी होगी, अनर्थ को पैदा करेगी। हिंसा से याग का उपकार होने और अनर्थ की उत्पत्ति होने में कोई विरोध नहीं है। यदि याग में हिंसा करनी ही है, तो उससे उत्पन्न हुए अनर्थ से बचा नहीं जा सकता।

पञ्चशिख ने उक्त सन्दर्भ में यही स्पष्ट किया है, 'स्वल्पः संकरः' धर्म के साथ थोड़ा अधर्म मिलकर बैठ गया, यह सांकर्य है। ज्योतिष्टोम याग से जनित महान् धर्मरूप अदृष्ट अथवा संस्कार जिस आत्मा में उभरा, उसी में हिंसाजनित अधर्म के संस्कार आकर जुड़ गए। इसका परिहार—प्रायश्चित्त आदि से प्रतीकार—किया जा सकता है। यदि ऐसा हो जाता है, तो इतना अंश कर्माशय की पहली गति के अन्तर्गत आ जाता है; क्योंकि प्रायश्चित्तरूप उग्र शुभ कर्म ने हिंसाजनित अशुभ कर्म—अधर्म का भोगे जाने के बिना ही नाश कर दिया (सपरिहारः)। यदि प्रायश्चित्त आदि प्रतीकार के अनुष्ठान में आलस्य किया, तो हिंसाजनित अधर्म का बीज उस महान् धर्म के साथ छिपा बैठा रहता है, जो ज्योतिष्टोम याग के अनुष्ठान से प्राप्त हुआ है। समय आने पर जब वह धर्म विपाकोन्मुख होता है, अर्थात् ज्योतिष्टोम का स्वर्गफल—सुखमय जीवन भोगा जा रहा है, तब अनुकूल अवसर पाकर बीजरूप से अवस्थित वह अधर्म उभरकर सामने आ जाता है, और उस सुख के मधुर अमृतमय साम्राज्य में थोड़ा-बहुत दुःखरूप में कटु विष को घोल देता है। तब हिंसाजनित अधर्म का फल भोगना ही पड़ता है (सप्रत्यवमर्षः)। उस दुःख को सहन किए बिना छुटकारा नहीं।

भले ही वह उस महान् धर्म के अतुल सुख को छोटा करने में समर्थ न हो—

(कुशलस्य नामकर्षायाऽलम्)। क्योंकि ज्योतिष्टोमयाजी समझता है, बहुत अधिक मात्रा में मेरा अन्य धर्म-भण्डार पूर्ण है, जहाँ यह बीजरूप से अत्यल्प कड़वाहट आकर बैठ गई है। मध्य की थोड़ी कटुता माधुर्य के रस को बढ़ा देती है—(कुशलं हि मे बहून्यदस्ति, यत्रायमावापं गतः, स्वर्गेऽपि अपकर्षमल्पं करिष्यति)। वैषयिक सुखों के लोभी धर्म-अधर्म की अधिक चिन्ता नहीं करते। अध्यात्ममार्ग से दूर रह-कर विविध नीच-ऊँच योनियों में जन्म-जन्मान्तर चक्कर लगाया करते हैं ॥३०॥

हिंसा आदि से विरक्त होकर अहिंसा में प्रतिष्ठित व्यक्ति की प्रवृत्ति कैसी होती है, जीवनचर्या का क्रम क्या रहता है,—यह अग्रिम संदर्भ से संदर्भकार प्रस्तुत करता है—

स खल्वयं ब्राह्मणो यथा यथा व्रतानि बहूनि समादित्सते तथा तथा प्रमादकृतेभ्यो हिंसानिदानेभ्यो निवर्त्तमानस्तामेवावदातरूपामहिंसां करोति ॥ ३१ ॥

यह सन्दर्भ योगसूत्र (२.३०) के व्यासभाष्य में 'तथा चोक्तम्' कहकर उद्धृत है। वाचस्पति मिश्र तत्त्ववैशारदी टीका में 'अत्रैवाऽऽगमिकानां सम्मतिमाह' कहकर इसका अवतरण करता है।

जिस सूत्र के व्यासभाष्य में सन्दर्भ उद्धृत है, वह सूत्र योग के आठ अंगों में से पहले अंग 'यम' का निरूपण करने के लिए लिखा गया है। यम के पाँच अंग हैं, उनमें प्रथम अहिंसा है। सर्वथा-सर्वदा समस्त प्राणियों के प्रति द्रोह-द्वेष-विरोध की भावना तक न रखना अहिंसा का स्वरूप है। अहिंसा के आगे यम के चार अंग तथा 'नियम'-संज्ञक द्वितीय योगांग के सब पाँचों घटक अहिंसामूलक ही अपना अस्तित्व रखते हैं। यदि सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, ये यम के चार और नियम के शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान ये पाँच घटक अत्यल्प मात्रा में भी अपने स्तर को छोड़ते हैं, तो हिंसा बलात् सामने आकर खड़ी हो जाती है। अहिंसा की पूर्ण साधना तथा उसके निर्दोष-निष्कलंक स्वरूप को आचरण में लाने के लिए ही शेष चार सत्य आदि यम तथा शौच आदि पाँच नियमों के अनुष्ठान का संकल्प किया जाता है। इसी प्रसंग में उक्त सन्दर्भ प्रस्तुत किया गया है।

ब्रह्मज्ञान के लिए अध्यात्ममार्ग पर चलता हुआ वह योगी जैसे-जैसे अध्यात्म-सम्बन्धी स्वाध्याय एवं योगाभ्यास आदि के नियमित अनुष्ठानों में उपयुक्त रुचि लेता रहता है, वैसे-वैसे प्रमाद के कारण उपस्थित हुए हिंसा के निमित्तों से अलग-अछूता रहता हुआ उस विशुद्ध, निर्दोष, पूर्ण अहिंसा के पालन में तत्पर रहता है। यह जीवन के अभ्युदय के लिए महान् व्रत है। इसमें प्रतिष्ठित हुए योगी के सान्निध्य में—जब परस्पर शाश्वत शत्रुता रखनेवाले प्राणी भी—वैरभाव को भूल जाते हैं, तब ऐसे व्यक्ति के प्रति समस्त प्राणिवर्ग आत्मीयता का अनुभव करे, इस-में कोई सन्देह या आश्चर्य की बात नहीं है ॥३१॥

योगांगों के अनुष्ठान में योगी के लिए पूर्ण अहिंसा का पालन योगमार्ग पर चलने के भव्य प्रासाद का बुनियादी पत्थर है। इस विषय का संक्षिप्त कथन कर अब सन्दर्भकार योगी के मैत्री-करुणा आदि भावों के विषय में कहता है—

ये चैते मैत्र्यादयो ध्यायिनां विहारास्ते बाह्यसाधननिरनुग्रहात्मानः प्रकृष्टं धर्ममभिनिर्वर्त्तयन्ति ॥ ३२ ॥

यह सन्दर्भ योगसूत्र (४.१०) के व्यासभाष्य में 'तथा चोक्तम्' कहकर उद्धृत है। वाचस्पति मिश्र ने तत्त्ववैशारदी टीका में 'आन्तरत्वे सम्मतिमाचार्याणामाह' कहकर इस सन्दर्भ का अवतरण किया है।

योगदर्शन के जिस सूत्र के भाष्य में यह सन्दर्भ उद्धृत है, उस सूत्र में वासनाओं का प्रवाह से अनादि होना बताया गया है। आत्मा स्वरूपतः नित्य अनादि-अनन्त तत्त्व है; आत्मा के भोग-अपवर्ग को सिद्ध करनेवाले साधन बुद्धि आदि करण तथा देह प्रवाह से अनादि-अनन्त हैं। प्रवाह से अनादि-अनन्त होने का तात्पर्य है—एक ही बुद्धि आदि करण तथा एक ही देह का आत्मा के साथ सम्बन्ध अनादि-अनन्त नहीं है, प्रत्युत एक देह के साथ सम्बन्ध होने पर कुछ समय बाद वह देह नष्ट हो जाता है, आत्मा अन्य देह के साथ सम्बद्ध हो जाता है। बुद्धि आदि करण भी सूक्ष्म-शरीर के रूप में सर्ग के आदि-काल से जिस आत्मा के साथ सम्बद्ध होते हैं, वे किसी भी चालू सर्ग में आत्म-साक्षात्कार होने पर देह-परित्याग के अनन्तर अथवा महाप्रलय-काल आने पर नष्ट हो जाते हैं। प्रलय के अनन्तर जब पुनः सर्गकाल आता है, तब सृष्टिरचना के अनुसार नये निर्मित बुद्धि आदि करणसहित सूक्ष्म-शरीरों के साथ आत्माओं का सम्बन्ध हो जाता है; यही पहले सर्गकाल के समान चलता रहता है। इस प्रकार अनादि-अनन्त नित्य आत्मा के साथ देह व बुद्धि आदि करण भी प्रवाह रूप से चलते रहते हैं। इसी रूप में आत्मा के साथ इनका अनादि-अनन्त सम्बन्ध है। इसी रूप में वासनाओं का सम्बन्ध भी आत्मा के साथ अनादि-अनन्त है। शुभ-अशुभ कर्मों के अनुसार उत्पन्न वासना भोगी जाकर अथवा अन्य निमित्तों से पुरानी नष्ट होती रहती हैं, नई उत्पन्न होती रहती हैं; इनका क्रम सर्वांशतः कभी टूटता नहीं।

वासनाओं की उत्पत्ति के निमित्त दो प्रकार के होते हैं, एक—बाह्य, दूसरे-आध्यात्मिक। परमात्मा की स्तुति, उपयुक्त जनों को दान तथा माता-पिता-गुरु आदि माननीय जनों को किये गए अभिवादन-आदर-सत्कार आदि से उत्पन्न वासनाओं के—देह इन्द्रिय आदि—बाह्य निमित्त हैं। श्रद्धा, वैराग्य, आत्मज्ञान-सम्बन्धी वासनाओं का निमित्त केवल एक चित्त अर्थात् बुद्धितत्त्व निमित्त है, जो आध्यात्मिक है। इसी प्रसंग में उक्त सन्दर्भ का उल्लेख हुआ है।

ध्यान करनेवाले साधक के लिए ये जो मैत्री आदि के आधार पर विहार= व्यापार, व्यवहार-प्रवृत्तियाँ हैं, वे बाह्य साधनों के अनुग्रह पर अवलम्बित नहीं;

Scanned with CamScanner

अर्थात् उन्हें अपने अस्तित्व व उद्भव के लिए बाह्य साधनों की अपेक्षा नहीं रहती। वे केवल बौद्धिक चिन्तन द्वारा उभरकर सर्वोच्च धर्म का सम्पादन करते हैं। इन दोनों निमित्तों में आध्यात्मिक निमित्त श्रेष्ठ है; क्योंकि यह वैराग्य एवं आत्मज्ञान-जैसी सर्वातिशायी स्थितियों का जनक है।

मैत्री आदि भाव क्या हैं? योगदर्शन के सूत्र (२.३३) में निम्न प्रकार बताये हैं—संसार में सुखी-दुःखी, पुण्यात्मा और पापी आदि सभी प्रकार के व्यक्ति देखे जाते हैं। ऐसे व्यक्तियों के प्रति साधारणजन का अपने विचारों के अनुसार राग, द्वेष, घृणा, ईर्ष्या आदि उत्पन्न होना स्वाभाविक है। परन्तु साधक योगी का मार्ग दूसरा होता है। जनसमाज में रहते भी वह उन स्थितियों में सदा अपने-आपको बचाने का प्रयास करता है। साधक के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसका चित्त ईर्ष्या-असूया आदि मलों से सर्वथा रहित हो। यह स्थिति योग में प्रवृत्ति के लिए अत्यन्त अनुकूल होती है। दयालु आचार्य ने इस दिशा में बढ़ने के लिए साधक को उपाय बताये—

सुखी जनों को देखकर साधक उनके प्रति मित्रता की भावना बनाये। मित्र के प्रति कभी ईर्ष्या आदि भाव उत्पन्न न होने दे। दुःखी जनों के प्रति सदा करुणा-दया, उनके प्रति हार्दिक सहानुभूति का भाव रक्खे। उनका दुःख किस प्रकार दूर हो सकता है, इसके लिए उन्हें सन्मार्ग दिखाने का प्रयास करे। इससे साधक के चित्त में उनके प्रति कभी घृणा का भाव उत्पन्न नहीं हो पायेगा। इसी प्रकार पुण्यात्मा के प्रति साधक हर्ष का अनुभव करे। योग स्वयं ऊँचे पुण्य का मार्ग है। जब दोनों एक ही पथ के पथिक हैं, तो हर्ष का होना स्वाभाविक है। संसार में सन्मार्ग और सद्विचार के साथी सदा मिलते रहें, तो इससे अधिक हर्ष का और क्या विषय होगा? पापात्मा के प्रति साधक का उपेक्षाभाव सर्वथा उपयुक्त है। ऐसे व्यक्तियों को सन्मार्ग पर लाने के सत्प्रयास भी प्रायः विपरीत फल लाते देखे जाते हैं। पापी पुरुष अपने हितैषियों को भी—उनकी वास्तविकता को न समझते हुए—हानि पहुँचाने और उनके कार्यों में बाधा डालने के लिए प्रयत्नशील बने रहते हैं। इसलिए ऐसे व्यक्तियों के प्रति उपेक्षा—उदासीनता का भाव श्रेयस्कर होता है। साधक इसप्रकार विभिन्न व्यक्तियों के प्रति अपनी उक्त भावना को जागृत रखकर चित्त को निर्मल-स्वच्छ-प्रसन्न बनाये रखने में सफल रहता है, जो अध्यात्म-मार्ग को सुविधापूर्वक प्रशस्त बनाने के लिए लिए अत्यन्त उपयोगी है। प्रस्तुत सन्दर्भ में इसी बात पर बल दिया गया है ॥३२॥

चित्त की ऐसी स्थिति इन्द्रियों के दोष क्षीण हो जाने पर सुगमता से बनती है। इसके लिए सन्दर्भकार ने उपाय बताया—

तपो न परं प्राणायामात्, ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्य ॥ ३३ ॥

यह सन्दर्भ योगसूत्र (२.५२) के व्यासभाष्य में 'तथा चोक्तम्' कहकर उद्धृत

है। वाचस्पति मिश्र ने तत्त्ववैशारदी में 'अत्राप्यागमिनामनुमतिमाह' कहकर सन्दर्भ का अवतरण किया है। संख्या २८ का सन्दर्भ इसी सूत्र के भाष्य में उद्धृत है, जो प्राणायाम के फल का विवरण प्रस्तुत करता है। यह सन्दर्भ भी प्राणायाम की महत्ता और उसके फल पर प्रकाश डालता है।

प्राणायाम से बढ़कर और कोई तप नहीं है। उससे इन्द्रियों के मलों का संशोधन हो जाता है; निर्दोष इन्द्रियाँ तब अनुपयुक्त एवं अनुचित विषयों पर नहीं ललकतीं। आत्मज्ञान प्रकाशोन्मुख हो जाता है। प्राणायाम सिद्ध होने पर अध्यात्म-मार्ग में आनेवाली बाधाएँ दूर होकर आत्मज्ञान की सद्यः प्राप्ति के चिह्न प्रकट होने लगते हैं—क्रोध आदि का न उभरना, सबके प्रति आत्मीयता, विनय की भावना, विषयों में अनासक्ति का उभार आदि।

प्राचीन शास्त्रों में आचार्यों ने प्राणायाम की बड़ी महिमा गाई है। मनुस्मृति के छठे अध्याय के निम्नांकित चार श्लोक (६९--७२) द्रष्टव्य हैं—

अह्ना रात्र्या च याञ्जन्तून् हिनस्त्यज्ञानतो यतिः।
तेषां स्नात्वा विशुद्धयर्थं प्राणायामान् षडाचरेत् ॥६९॥
प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत्कृताः।
व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमं तपः ॥७०॥
दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥७१॥
प्राणायामैर्दहेद्दोषान् धारणाभिश्च किल्बिषम्।
प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान् ॥७२॥

यदि किसी यति तपस्वी से दिन या रात में अज्ञान के कारण किन्हीं प्राणियों को कोई कष्ट पहुँच जाता है, तो उसके प्रायश्चित्त-रूप में स्नान आदि द्वारा शुद्ध होकर छह प्राणायाम अवश्य करे; इससे प्राणियों की पीड़ा द्वारा प्रादुर्भूत पाप का क्षय हो जाता है। तात्पर्य है, उस अवाञ्छनीय कर्म का चित्त पर कोई मलिन प्रभाव नहीं रहता; प्राणायाम से वह मालिन्य धुल जाता है ॥६९॥

प्रणव (ओ३म्) तथा व्याहृति (सप्त=भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्) से युक्त प्रणव (ओंकार) का जप करते हुए विधिपूर्वक तीनों (पूरक, कुम्भक, रेचक) प्राणायाम कम-से-कम तीन बार प्रतिदिन दोनों सन्ध्या-समय अवश्य करने चाहिएँ। यह ब्राह्मण—अर्थात् ब्रह्मज्ञान-निमित्त अध्यात्मार्ग पर चलनेवाले व्यक्ति—के लिए परम तप है, सर्वश्रेष्ठ तप। यथाकाल, यथाशक्ति और अधिक प्राणायाम करना, इन्द्रिय-मलों के निवारण में अति-उपयुक्त फलप्रद रहता है ॥७०॥ प्रस्तुत सन्दर्भों में इसी परम तप का निर्देश है।

जिस प्रकार सोना, चाँदी आदि धातुओं के मल अग्नि से तपाये जाने पर दग्ध

हो जाते हैं; इसी प्रकार इन्द्रियों के—विषयों की ओर प्रवृत्त करनेवाले—समस्त दोष प्राणायाम से दग्ध हो जाते हैं ॥७१॥

अध्यात्ममार्गी के लिए आवश्यक है, वह प्राणायामों के अनुष्ठान से राग, द्वेष, मद, मात्सर्य, ईर्ष्या, असूया, परनिन्दा आदि दोषों को तत्परता से दग्ध करे। धारणा से पाप-बुराइयों का नाश करे। प्रत्याहार से विषय-सम्पर्क, तथा ध्यान से अनीश्वर (ईश्वर में जिनके होने की कभी सम्भावना नहीं, ऐसे) गुणों का, अर्थात् संसारी प्रवृत्तियों का परित्याग करे। जब योगी साधक ईश्वर के चिन्तन में एकाकार-वृत्ति से ध्यानमग्न रहता है, तब अन्य वृत्तियों का अन्तराल में बाधा-रूप न आने दे। योग की ध्यान-दशा में स्वतः ऐसा रहता है; अतः ऐसी प्रवृत्ति को अधिक समय तक बनाये रखने का प्रयास करता रहे ॥७२॥

प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, ये योग के आठ अंगों में से क्रमशः पाँचवाँ, छठा, सातवाँ अंग हैं। प्रत्याहार का यथार्थ स्वरूप योगसूत्र (२.५४) में तथा धारणा, ध्यान का योगसूत्र (३.१-२) में बताता गया है; पाठक वहीं से देखने व समझने का प्रयास करें।

इस प्रकार अध्यात्ममार्ग में प्राणायाम का महत्त्व अनिवार्य है। प्राणायाम की उपयोगिता, महत्ता एवं प्रशंसा में आचार्यों ने बहुत-कुछ लिखा है। योग के आठ अंगों में पहले पाँच वहिरंग और अन्तिम तीन अन्तरंग बताये गये हैं। प्राणायाम का उन तीन अन्तरंगों के अनुष्ठान में एक प्रकार की आधारशिला समझना चाहिए। इसकी दृढ़ता पर योग का प्रासाद निःशंक निर्माण किया जा सकता है। प्राणायाम के विषय में भगवद्गीता का प्रारम्भिक चौथा अध्याय तथा विशेष रूप से २९-३० श्लोक द्रष्टव्य हैं। न केवल यतियों के लिए, अपितु ब्रह्मचारी, गृहस्थ एवं सभी नीरोग व्यक्तियों के लिए नित्य नियमानुसार प्राणायाम का विधिपूर्वक अनुष्ठान सब प्रकार के अभ्युदय के लिए पारसमणि है ॥३३॥

प्राणायाम तथा अन्य योग-सम्बन्धी अनुष्ठान जिस आत्मतत्त्व के लिए बताये गये हैं, सन्दर्भकार उसके स्वरूप के विषय में निर्देश करता है—

तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीत्येवं तावत् संप्रजानीते ॥ ३४ ॥

यह सन्दर्भ 'विशोका वा ज्योतिष्मती' योगसूत्र (१.३६) के व्यासभाष्य में 'यत्रेदमुक्तम्' कहकर उद्धृत है। वाचस्पति मिश्र ने तत्त्ववैशारदी में 'यत्रेदमुक्तं पञ्चशिखेन' लिखकर सन्दर्भ का अवतरण किया है। उद्धरण के प्रतीक में 'यत्र' पद पूर्वप्रसंग की ओर संकेत करता है जिस विषय में कि पञ्चशिख ने यह कहा है। वह पहला प्रसंग है—विशोका नामक प्रवृत्ति का विवरण।

यौगिक स्तरों पर जैसे दिव्य गन्ध आदि का साक्षात्कार चित्त की स्थिरता का प्रयोजक होता है, ऐसे ही योगानुष्ठान में दिव्यज्योति—आलोक आदि का दिखाई देना चित्त की स्थिरता का प्रयोजक है। उस दिव्य आलोक के दर्शन में साधक

इतना उत्फुल्ल व भावविभोर हो जाता है कि उस समय शोक, दु:ख आदि का लेश भी अनुभव नहीं होता। इसी कारण इस दशा को 'विशोका' नाम दिया गया है। तब साधक का अन्तरात्मा गुदगुदा उठता है, अपार उल्लास से भर जाता है। प्रसन्नता के आवेश व वेग में प्रकाशमय विश्व नृत्य-सा करता दिखाई देता है।

यह अवस्था उस समय की है, जब चित्त अर्थात् बुद्धितत्त्व नितान्त सात्त्विक होता है; उद्भूत रजस्, तमस् का लेश भी वहाँ नहीं रहता। आत्मा के निवासस्थान हृदय-देश में उसका साक्षात्कार होना सम्मुख रहता है। सात्त्विक बुद्धि के सहयोग से आत्म-साक्षात्कार की यह अवस्था सम्प्रज्ञात समाधि का स्तर समझना चाहिए। वृत्त्यात्मक होने से यह तात्कालिक होता है। जब तक बुद्धिवृत्ति ऐसी बनी रहती है, तब तक साक्षात्कार की भावना रहती है, उस वृत्ति के न रहने पर वह विलीन हो जाती है।

इस ज्योतिष्मती प्रवृत्ति में नितान्त सात्त्विक चित्त प्रकाशमय एवं आकाश के समान निर्दोष-निष्कलंक रहता है। उस दशा में सूर्य, चन्द्र, विशिष्ट प्रभायुक्त मणि आदि के समान विविध आलोकरूप में प्रकाशित रहता है। चित्त के प्रकाशित व आलोकित होने का यह भाव है कि उस दशा में अन्य सांसारिक विषय-सम्बन्धी किसी वृत्ति का उद्भावन उसमें नहीं रहता; वह तब केवल अस्मिता-वृत्ति में समापन्न रहता है। तात्पर्य है, ऐसे चित्त के सहयोग से आत्मा में अपने शुद्धबुद्ध स्वरूप का साक्षात्कार 'अस्मि—मैं हूँ' इस रूप में होता है। केवल स्वरूप-साक्षात्कार की झलक उक्त रूप में उद्भासित रहती है, अन्य कुछ नहीं। इस कारण आचार्यों ने उस दशा को शान्त निस्तरंग समुद्र की उपमा दी है।

इसी विषय के प्रसंग में प्राचीन आचार्य पञ्चशिख का सन्दर्भ उद्धृत किया गया है। पञ्चशिख का कहना है—वह अणु-मात्र अतिसूक्ष्म आत्मा उस समाहित अवस्था में अपने यथार्थ स्वरूप का साक्षात् अनुभव 'मैं हूँ' (अस्मि) इस प्रकार यथार्थ बोधपूर्वक करता है। सन्दर्भ का शब्दार्थ है—उस अणुमात्र आत्मा को जानकर, साक्षात् कर 'अस्मि' ऐसा सम्प्रज्ञात समाधि में साधक योगी अनुभव करता है।

सन्दर्भ में 'संप्रजानीते' क्रियापद सम्प्रज्ञात समाधिगत उक्त अनुभव होने का निर्देश कर रहा है। 'अणुमात्रम्' पद में 'मात्रच्' प्रत्यय विशेष्य 'आत्मानम्' पद-बोध्य आत्मतत्त्व के अणु-परिमाण का बोधक है। उपनिषदों में आत्मा के अणु-परिमाण होने के उल्लेख उपलब्ध होते हैं। मुण्डक उपनिषद् (३।१।९) में उल्लेख है—'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश'—यह अणु आत्मा चित्त के द्वारा जानना चाहिए, जिसके विद्यमान रहते देह में पाँच प्रकार का प्राण संविष्ट रहता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् (५.९) में कण्डिका है—

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
जीवो भागः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥

बाल—केश के अग्रभाग का दस हजारवाँ भाग जीव समझना चाहिए; उसका जान लेना मोक्ष का साधक माना जाता है। परिमाण की दृष्टि से जीवात्माओं को विभु कहना युक्ति एवं प्रमाण के विरुद्ध है, अशास्त्रीय है, अतात्त्विक है। उपनिषद् में भाग-निर्देश औपचारिक है। उसका तात्पर्य आत्मा की अतिशय अणुता व सूक्ष्मता का बोधन कराना मात्र है॥३४॥

सम्प्रज्ञात समाधिगत आत्मानुभव का निर्देश कर आत्मा के दुःखों का प्रतीकार अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति किस प्रकार होती है, अग्रिम सन्दर्भ से बताया—

तत्संयोगहेतुविवर्जनात् स्यादयमात्यन्तिको दुःखप्रतीकारः। कस्मात्? दुःखहेतोः परिहार्यस्य प्रतीकारदर्शनात्। तद्यथा—पादतलस्य भेद्यता, कण्टकस्य भेत्तृत्वम्; परिहारः—कण्टकस्य पादानधिष्ठानम्, पादत्राण-व्यवहितेन वाधिष्ठानम्। एतत् त्रयं यो वेद लोके स तत्र प्रतीकार-मारभमाणो भेदजं दुःखं नाप्नोति। कस्मात्? त्रित्वोपलब्धि-सामर्थ्यात्॥ ३५॥

यह सन्दर्भ योगसूत्र (२.१७) के व्यासभाष्य में 'तथा चोक्तम्' कहकर उद्धृत है। तत्त्ववैशारदी में वाचस्पति मिश्र ने 'पञ्चशिखेन' लिखकर इस वाक्य को पूरा किया है। सन्दर्भ के आद्य भाग को ब्रह्मसूत्र (२।२।१०) की भामती में वाचस्पति ने 'तदुक्तं पञ्चशिखाचार्येण' कहकर उद्धृत किया है।

पञ्चशिख के गत व्याख्यात सन्दर्भों में यह सबसे लम्बा है; जितना लम्बा है, उतना सरल भी है। योगदर्शन के जिस सूत्र पर व्यासभाष्य में यह उद्धृत है, उस सूत्र में द्रष्टा आत्मा और दृश्य प्रकृति के परस्पर संयोग को दुःख का हेतु बताया है। इसी प्रसंग में सन्दर्भ उद्धृत है।

जब प्रकृति-पुरुष का संयोग दुःख का हेतु है, तो इससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि दुःख के हेतु संयोग के न रहने पर दुःख का प्रतीकार आवश्यक है। यह संयोग अविवेक—अविद्या या अज्ञान के कारण होता है। अविवेक अनादि है, चेतन पुरुष अज्ञान से प्रकृति के साथ अपने भेद को नहीं जान पाता, तब उसके साथ सम्बद्ध रहता है, यही दुःख का कारण है। जब समाधि आदि उपायों से आत्मा का साक्षात्कार होने पर भेद का पता लग जाता है, तब वह अविवेक-अज्ञान इस विवेकज्ञान से नष्ट हो जाता है। अविवेक न रहा तो संयोग भी न रहेगा। संयोग के न रहने से दुःख का न होना निश्चित है।

सन्दर्भ दुःखप्रतीकार की इस प्रक्रिया में लौकिक उदाहरण प्रस्तुत करता है। पैर का तला काँटे से बिंध जाता है, काँटा भेदन करनेवाला हुआ। तात्पर्य है—भेदन करनेवाले काँटे और भिदनेवाले पैर के तले का आपसी संयोग दुःख का हेतु है। तलुए और काँटे का संयोग न हो, तो दुःख न होगा। इसके दो उपाय हैं—पहला उपाय है—काँटे को देखते हुए उससे बचकर निकल जाय। दूसरा उपाय है—

पैर में मजबूत जूते का होना। यह दुःख का प्रतीकार है, परिहार है। ये तीन चीज़ें हो गईं—भेद्य, भेत्ता, प्रतीकार। लोक में जो इन तीन की यथार्थता को जान लेता है, वह काँटा बिंध जाने के दुःख को प्राप्त नहीं होता।

यही स्थिति आत्मा और त्रिविध दुःख के विषय में है। दुःख हेय है, हेय का हेतु प्रकृति-पुरुष-संयोग है। प्रकृति-पुरुष के भेद का साक्षात्कार ज्ञान प्रतीकार है। इन तीन की यथार्थता को जो जान लेता है, वह दुःख से छूट जाता है। पुरुष-प्रकृति-संयोगरूप अनवरत प्रवाहित नदी का प्रसंग बाँधता भी है, छुड़ाता भी है। इसका उपयोग सँभलकर कीजिए; चाहे डूबिये, चाहे उतरिये ॥३५॥

प्रकृति, पुरुष का सम्पर्क कब छोड़ती है? अग्रिम सन्दर्भ से बताया—

कुम्भवत् प्रधानं पुरुषार्थं कृत्वा निवर्त्तते ॥ ३६ ॥

'पुरुष'—चेतन आत्मा के 'अर्थ' प्रयोजन—भोग और अपवर्ग को सिद्ध करना प्रकृति का कार्य है, उद्देश्य है। जब यह उद्देश्य सम्पन्न हो जाता है, प्रकृति निवृत्त हो जाती है, पुरुष-सम्पर्क से हट जाती है, जैसे कुम्भ=घड़ा पुरुष के लिये जला-हरण आदि कार्य को पूरा कर निवृत्त हो जाता है।

यह सन्दर्भ सांख्यकारिका की छप्पनवीं आर्या के गौडपादभाष्य में 'तथा चोक्तम्' कहकर उद्धृत है। एक और सन्दर्भ सत्रहवीं आर्या के भाष्य में 'तथा चोक्तं षष्टितन्त्रे' कहकर उद्धृत है। उसी की समानता के आधार पर इसकी पञ्चशिख-सन्दर्भों में गणना की है। वह सन्दर्भ प्रस्तुत रचना में संख्या ३ पर व्याख्यात है।

पञ्चशिख के पद्य-सन्दर्भ

गद्य-सन्दर्भों के अतिरिक्त कतिपय पद्य-सन्दर्भ पञ्चशिख के नाम से उद्धृत पाये जाते हैं। उनमें एक श्लोक है—

पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्रतत्राश्रमे स्थितः।
जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः ॥ ३७ ॥

कोई व्यक्ति चाहे संन्यासी या गृहस्थ हो, ब्रह्मचारी या वानप्रस्थ हो, किसी भी आश्रम में रह रहा हो, चाहे सिर पर जटा रखता हो, या सिर मुँडाकर रहता हो, या सिर पर केवल चोटी रखता हो, यदि वह सांख्य में बताये गये पच्चीस तत्त्वों का विशेषज्ञ है—प्रकृति-पुरुष के भेद का साक्षात्कार-ज्ञान प्राप्त कर लिया है, तो निस्सन्देह मुक्ति को प्राप्त कर लेता है; तीनों प्रकार के दुःखों से छूट जाता है।

यह सन्दर्भ तत्त्वसमास सूत्रों की 'तत्त्वयथार्थ्यदीपन' नामक व्याख्या में भावा-गणेश ने सांख्य के पच्चीस तत्त्वों का विवरण देने के अनन्तर (पृष्ठ ६१, वाराणसी, चौखम्बा संस्करण) 'तथा चोक्तं पञ्चशिखेन प्रमाणवाक्यम्' कहकर

उद्धृत किया है। सांख्यकारिका की तेईसवीं आर्या का अवतरण करते हुए गौडपाद-भाष्य में 'यथोक्तम्' कहकर यह सन्दर्भ उद्धृत है। यहाँ सन्दर्भ के 'स्थितः' पद के स्थान पर 'रतः' पाठ है। अलबेरूनी ने अपने भारतयात्रा-विवरण में इस श्लोक को 'पराशरपुत्र व्यास' का लिखा है। देखें, उक्त पुस्तक का हिन्दी संस्करण, सन्तराम बी० ए० कृत, प्रथम भाग, पृष्ठ ५४-५५ तथा १३२।

भारतीय इतिवृत्त के अनुसार व्यास के पिता पराशर का आगे वंश नहीं चला। व्यास का पुत्र शुकदेव ब्रह्मचर्य-अवस्था में ही व्यास के जीवित रहते दिवंगत हो गया था। गोत्र-प्रवर्तक पराशर नाम का व्यक्ति अति प्राचीन काल में कोई अन्य हुआ। महाभारत-युद्धकालीन व्यास से पर्याप्त पूर्वकालिक पञ्चशिख पराशर गोत्र का व्यक्ति था, यह महाभारत ग्रन्थ से ज्ञात होता है। विदेह देशों के राजा धर्मध्वज जनक के वर्णन में महाभारत ग्रन्थ (१२।३२५।२४) का लेख है—

पराशरसगोत्रस्य वृद्धस्य सुमहात्मनः।
भिक्षोः पञ्चशिखस्याहं शिष्यः परमसंमतः॥

इससे पञ्चशिख का पराशर गोत्र में उत्पन्न होना स्पष्ट है। महाभारत-युद्धकालीन व्यास के—पराशर-पुत्र होने की—आबालवृद्ध प्रसिद्धि के कारण अलबेरूनी ने वैसा लिख दिया हो, यह सम्भव है। पञ्चशिख नाम के साथ उपनाम के रूप में 'भिक्षु' पद का प्रयोग भी उक्त श्लोक से स्पष्ट होता है। इसके अनुसार पाणिनि के सूत्र (४।३।११०) 'पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः' में भी 'पाराशर्य भिक्षु' पञ्चशिख भिक्षु सम्भव है।

कतिपय लेखकों ने सूत्र के 'पाराशर्य' पद से भारत-युद्धकालीन पराशर-पुत्र व्यास को समझकर उसकी रचना ब्रह्मसूत्र (वेदान्तदर्शन) को भिक्षुसूत्र बताया है, जो सर्वथा अप्रामाणिक है। यह भारत-युद्धकालीन व्यास 'भिक्षु' उपनाम से कभी नहीं जाना गया, न उसने कभी उस आश्रम का ग्रहण किया, जो 'भिक्षु' नाम से व्यवहृत होता है॥३७॥

तत्त्वानि यो वेदयते यथावत्,
गुणस्वरूपाण्यधिदैवतं च।
विमुक्तपाप्मा गतदोषसङ्घो,
गुणांस्तु भुंक्ते न गुणैः स भुज्यते॥ ३८॥

'यः' जो व्यक्ति 'गुणस्वरूपाणि' सत्त्व-रजस्-तमस् गुणों के रूप में विद्यमान 'तत्त्वानि' तत्त्वों=पदार्थों को 'यथावत्' उनके यथार्थ स्वरूप में 'वेदयते' जान लेता है; 'च' और 'अधिदैवतम्' इन तत्त्वों से उपर उठकर जो एक दिव्य शक्ति चेतन-तत्त्व है, उसको भी यथावत् जान लेता है, वह 'विमुक्तपाप्मा' समस्त पापों से छूट-कर 'गतदोषसङ्घः' राग, द्वेष, मोह, मद, मात्सर्य, क्रोध, ईर्ष्या आदि दोष-समूहों से अलग होकर, अर्थात् वैराग्य की उच्च कोटि को प्राप्त होकर 'गुणांस्तु' सत्त्व आदि

Scanned with CamScanner

गुणों का तो 'भुंक्ते' उपभोग करता है, परन्तु 'गुणैः' गुणों के द्वारा 'न स भुज्यते' वह नहीं भोगा जाता। तात्पर्य है—उस अवस्था में जड़-चेतन तत्त्वों के साक्षात्कृत-धर्मा व्यक्ति को सत्त्वादि गुण प्रभावित नहीं करते, अर्थात् उनको अपेक्षित प्रयोग में लाता हुआ योगी उनमें डूब नहीं जाता; उनका दास न बनकर उन्हें अपना दास बना रखता है।

यह सन्दर्भ तत्त्वसमास सूत्रों की 'तत्त्वयाथार्थ्यदीपन' नामक व्याख्या में भावा-गणेश ने सब पदार्थों का निरूपण करने के अनन्तर (उक्त संस्करण, पृष्ठ ७२) 'सर्वतत्त्वानां ज्ञानफलं चोक्तं पञ्चशिखधृतवाक्येन' लिखकर उद्धृत किया है। तत्त्व-समाससूत्रवृत्ति में यह पद्य 'अध्यात्मं अधिभूतं अधिदैवतं च ॥७॥' सूत्र की व्याख्या के अनन्तर पठित है; परन्तु उद्धरण का कोई संकेत यहाँ नहीं है।

सातवें सूत्र की व्याख्या के अनन्तर विमानन्द-कृत 'सांख्यतत्त्वविवेचन' नामक व्याख्या में आंशिक पाठभेद के साथ उक्त श्लोक निम्नानुसार उल्लिखित है—

चत्वारि यो वेदयते यथा चक्षुषा **स्वरूपाण्यधिदैवतं च।**
विमुक्तयाथागतदोषसङ्घो गुणांस्तु भुंक्ते न गुणैः स भुज्यते ॥

इन श्वेतांकित पदों में पाठभेद है। परन्तु ये पाठ न तो श्लोक के उपयुक्त अर्थ के साथ संगत हैं, और न अन्य किसी विशिष्ट अर्थ के बोधक हैं। प्रतीत होता है, एक प्रति से अन्य प्रतिलिपि करने के अवसर पर लिपिकार की अज्ञानता के कारण कतिपय वर्ण भ्रमवश बदलकर लिखे गये। वस्तुतः यह पाठभेद नहीं, प्रति-लिपिकार का प्रमाद है ॥३८॥

तत्त्वसमाससूत्र 'त्रिविधो बन्धः' की व्याख्या करते हुए विभिन्न व्याख्याकारों ने अपनी व्याख्याओं में निम्नांकित पद्यसन्दर्भ का उल्लेख किया है—

प्राकृतेन तु बन्धेन तथा वैकारिकेण च।
दक्षिणाभिस्तृतीयेन बद्धो जन्तुर्विवर्तते ॥ ३९ ॥

प्रकृति पद से आठ तत्त्वों का ग्रहण होता है—सत्त्व-रजस्-तमस्रूप मूल-प्रकृति, महत् (बुद्धि), अहंकार, पाँच तन्मात्र। इनमें से किसी एक या अधिक के तात्त्विक ज्ञान में निरन्तर रत रहकर जो व्यक्ति आंशिक भी ज्ञान प्राप्त कर लेता है, और वह ज्ञान उस व्यक्ति में अभिमान को उभारता है, वह समझता है कि मैंने सर्वश्रेष्ठ सर्वोच्च तत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर लिया है, इससे बढ़कर अन्य कोई ज्ञान नहीं, मैं कृतकृत्य हो गया,—यह भावना तामसी होती है; तमोगुण का यह गाढ़ापन अपने अन्य साथियों को इकट्ठा कर सबके सहयोग से उस व्यक्ति को लम्बे समय तक बन्ध में फँसाये रखता है। यह प्राकृत बन्ध है। इससे बँधा हुआ प्राणी जन्म-जन्मातरों में चक्कर काटा करता है।

इन तत्त्वों के विकार शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध हैं, जिनके घेरे में प्राणी

Scanned with CamScanner

समस्त जीवन बिताता है। कभी किसी को इन विषयों के प्रति वैराग्य हो जाता है। इनसे विमुख रहने की भावना प्रबल हो जाने पर वह परिव्राट् होकर अध्यात्म-पथ का पथिक बन जाता है। विधिपूर्वक जप-तप, योगाभ्यास आदि में समय का सदुपयोग करता है। पर विषय अब भी ओट में से झाँकते रहते हैं। किसी स्तर तक योगाभ्यास के सफल होने पर दिव्य शब्द एवं दिव्य स्पर्श आदि का अनुभव सामने आकर अनुकूल मर्मस्थलों को गुदगुदाने लगता है। साधक ऐसे ही अनुभवों को ज्ञान की पराकाष्ठा समझकर अपने को कृतकृत्य मानकर उन्हीं में रत हो जाता है। विकारों के इस भँवर में फँसा हुआ आत्मा फिर विविध योनियों के चक्कर में आ पड़ता है। अनुभवी आचार्यों ने इसको 'वैकारिक बन्ध' नाम दिया है।

गृहस्थ जीवन में व्यक्ति समुन्नत अभ्युदय की स्थिति को प्राप्त कर दान-दक्षिणा आदि द्वारा तथा प्राणिमात्र के हितकारी अन्य विविध प्रकार के कार्यों द्वारा सबको सहयोग प्रदान करता है। तब उसके अन्तर में किसी अन्धेरे कोने से अभिमान की मात्रा उभरकर उसे आन्दोलित करती है—आ हा! देखो, मैंने कितना बड़ा पुण्य का कार्य किया हुआ है! मार्गों पर इतनी प्याऊ लगवाई हैं, धार्मिक स्थानों का निर्माण कराया है, इतने चिकित्सालय चलाता हूँ, असहाय व अभावग्रस्त व्यक्तियों के लिये इतने विश्रामस्थल खोले हुए हैं। मेरे बराबर किसने इतना कार्य किया है? मैं सर्वोच्च सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति हूँ—'अन्यो न भूतो न भविष्यति'। अभिमान की ये उद्दाम तरंगें संसार के इस चालू महाप्रवाह में निर्बाध बहाये चली जाती हैं। अभिमान के साथी क्रोध-मोह-मद-मात्सर्य-ईर्ष्या-असूया आदि भी हर्षोन्मत्त होकर आ जुटते हैं, और आत्मा को अपने चंगुल में फँसाये रखने के लिये समर्थ रहते हैं। इसका नाम आचार्यों ने 'दक्षिणा बन्ध' बताया है।

ऐसे प्रसंग की एक घटना लिखी जाने के लिये स्मृति को उभारकर बलात् आगे धकेल रही है। हमारे एक सुहृद् हैं—पैजनियाँ, जिला बिजनौर के निवासी पं० शिवचरणसिंह। एक बार वे भारतीय दक्षिण प्रदेश की यात्रा पर गये; उधर से वापसी पर वह घटना सुनाई। रामेश्वरम् की ओर से वापस होने पर एक दिन वह ट्रेन से यात्रा कर रहे थे। एक व्यक्ति हृष्ट-पुष्ट, रूप श्याम होते हुए भी तेजस्वी चेहरा, गले में सोने की जंजीर, एक पैर में सोने का मोटा कड़ा, वहाँ के स्थानीय वेश के अनुसार अधोवस्त्र (लुंगी) पर मूल्यवान्, एक बगल के नीचे से लाकर कन्धे पर ओढ़ा हुआ सम्भवतः रेशमी उत्तरीय वस्त्र; अन्य कोई वस्त्र शरीर पर नहीं; पैर नंगे, सिर नंगा। ऐसे व्यक्ति ने बोगी में प्रवेश किया, अपनी भाषा में कुछ कहा, सब यात्रियों की नजर उधर उठी, देखा—वह व्यक्ति एक भिक्षापात्र में सबसे भिक्षा ले रहा है। यात्री भी सहर्ष उसके भिक्षापात्र में यथाशक्ति भिक्षा डाल रहे हैं। कुछ न समझते हुए भी सबकी देखा-देखी शिवचरण सिंह ने भी पात्र में भिक्षा डाली। वह व्यक्ति जब आगे दूसरी बोगी में निकल गया, तब शिवचरण

जी ने उसी देश के निवासी अपने साथी से आश्चर्यपूर्ण मुद्रा में प्रश्न किया, यह कौन व्यक्ति था जिसने ये सुवर्ण-आभूषण और मूल्यवान् वस्त्र पहने हैं, फिर भी भिक्षा माँग रहा है? साथी ने बताया—यह अमुक स्थान (नाम विस्मृत हो गया) का करोड़पति सेठ है। यह एक धार्मिक मन्दिर बनवा रहा है। यह अपने पैसे से ही ऐसे अनेक मन्दिर बनवा सकता है, पर उसके हृदय में यह अभिमान जाग्रत न हो कि मैंने अपने धन से यह निर्माण कराया है, इस भावना के साथ जनता से पैसा ले रहा है। तब हृदय में यही भाव रहेगा कि यह निर्माण जनता ने कराया है, मैं भी उसका एक अंग हूँ। इस निर्माण में मेरा अपना कुछ नहीं।

समाज-कल्याणकारी उन्नत कार्यों को कर उभरती अभिमान की मात्रा उनके महत्त्व को सर्वथा नष्ट कर देती है। यह 'त्रिविधो बन्धः' सूत्र की व्याख्या है।३९।

तत्त्वसमास के 'त्रिविधो मोक्षः' सूत्र की व्याख्या के प्रसंग से पञ्चशिख ने अग्रिम सन्दर्भ लिखा—

आद्यस्तु[1] मोक्षो ज्ञानेन द्वितीयो रागसंक्षयात्।
कृच्छ्रक्षयात् तृतीयस्तु व्याख्यातं मोक्षलक्षणम्॥ ४०॥

मोक्ष का वास्तविक स्वरूप आत्मा की वह स्थिति है, जब उसे प्रकृति से भिन्न आत्मतत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है। इसी को प्रकृति-पुरुष-विवेक (=भेद) ज्ञान कहा जाता है। आत्म-ज्ञान मोक्ष का मुख्य साधन है, मोक्ष का यही मुख्य स्वरूप है।

गत सन्दर्भ में तीन प्रकार का बन्ध बताया—१. आठ प्रकृति-तत्त्वों में अज्ञान से आत्म-भाव होना। २. वैराग्य के पूर्ण रूप में न होने से शब्द आदि विषयों में आसक्त बने रहना। ३. अभिमान, क्रोध, ईर्ष्या, असूया, राग, द्वेष आदि दोषों में ग्रस्त रहना। इन तीनों अवस्थाओं के विपरीतभाव से मोक्ष का स्वरूप बताया। अज्ञान के विपरीत ज्ञान से, अर्थात् आत्मा में ही आत्मा के साक्षात् ज्ञान से प्राप्त स्थिति का नाम मोक्ष है। यह मुख्य मोक्ष का स्वरूप है।

इसी के अनुसार द्वितीय बन्ध वैराग्य के न होने से बताया; तब द्वितीय मोक्ष

१: 'आद्यस्तु' पाठ योगवार्त्तिक (१.२४) के अनुसार है। वहाँ इसे विज्ञान मिश्र ने 'पंचशिखाचार्यधृत वाक्य' कहा है। योगवार्त्तिक (२.२८) पर पाठ 'आदौ तु' दिया है, और इसे 'पंचशिखवाक्य' लिखा है। 'तत्त्वयाथार्थ्यदीपन' में भावागणेश ने 'आदौ तु' पाठ दिया है, 'उक्तं च पंचशिखाचार्यैः' कहकर सन्दर्भ का अवतरण किया है। विमानन्द के 'सांख्य तत्त्व विवेचन' में 'आद्यो हि' पाठ है। पाठभेद होने पर भी अर्थ में कोई भेद नहीं; केवल प्रयोग-सामंजस्य की बात है।

का स्वरूप राग—आसक्ति के संक्षय—सम्यक्=नितांत क्षय हो जाने से अर्थात् शब्दादि विषयों की ओर से पूर्ण वैराग्य की स्थिति प्राप्त होने पर मोक्ष का स्वरूप उजागर होता है।

इसी प्रकार मोक्ष का तीसरा स्वरूप समझना चाहिए। 'कृच्छ्र' पद का अर्थ है—कठोर बाधा, पीड़ा, प्रतिकूलता, आदि। यह अवस्था ईर्ष्या-द्वेष आदि दोषों व द्वन्द्वों में फँसे रहने पर आती है। इनका क्षय हो जाने से मोक्ष का तीसरा स्वरूप निखरता है। द्वितीय और तृतीय स्वरूप मोक्ष-मार्ग की अन्तिम सीढ़ी तक पहुँचाने का स्तर है। ये दोनों अवस्था अथवा अध्यात्म-मार्ग के दोनों स्तर=पूर्ण वैराग्य एवं शब्दादि विषयों व मोह-क्रोध आदि दोषों में नितान्त अनासक्ति प्राप्त हो जाने पर आत्म-साक्षात्कार का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। इसी कारण द्वितीय, तृतीय स्तर को भी मोक्ष के रूप में गणना कर लिया गया है। अनासक्ति व वैराग्य का मार्ग ज्ञान के द्वार से गुजरता हुआ मोक्ष तक पहुँचता है। इसलिए यह कहने-समझने में किसी तरह के संकोच का अवकाश नहीं है कि मोक्ष का एकमात्र साधन व स्वरूप आत्म-साक्षात्कार है। इसी को परमर्षि कपिल ने सांख्यसूत्रों (३।२३,२४) में स्पष्ट किया है ॥४०॥

व्याख्यात ये चालीस सन्दर्भ ऐसे हैं, जिनको अनेक प्राक्कालिक आचार्यों ने अपनी रचनाओं में प्रायः पञ्चशिख के नाम से उद्धृत किया है। इन्हीं प्रसंगों में कतिपय सन्दर्भ ऐसे संकलित किए हैं, जो स्पष्ट पञ्चशिख के नाम से उद्धृत नहीं हैं, पर सम्भावना है, वे पञ्चशिख की रचना हों। ऐसे सन्दर्भों की संख्या उन-उन विषयों पर ग्रंथों के गम्भीर अध्ययन व चिन्तन से और भी बढ़ सकती है। इसके विपरीत पञ्चशिख का साक्षात् ग्रंथ अथवा अन्य सुपुष्ट प्रमाण मिलने पर संकलित सन्दर्भों की संख्या में न्यूनाधिकता हो सकती है।

पंचशिख के सम्भावित सन्दर्भ

प्रकृति-निरूपण के प्रसंग में पंचशिख संभवतः प्रसंग का उपसंहार करता हुआ लिखता है—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्,
तथा च नित्यं रसगन्धवर्जितम्।
अनादिमध्यं महतः परं ध्रुवम्,
प्रधानमेतत् प्रवदन्ति सूरयः ॥ ४१ ॥

पदों की पर्याप्त समानता के साथ इसी आशय की एक कण्डिका कठोपनिषद् (१।३।१५) में उपलब्ध है। उसका पाठ है—

Scanned with CamScanner

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ॥

यह कण्डिका परमात्मा के स्वरूप को प्रस्तुत करती है, और उसके साक्षात् ज्ञान द्वारा मृत्युमुख से—अर्थात् जन्म-मरण के चक्कर से—छुटकारा होना बताती है।

सांख्याचार्य ने शाब्दिक एवं व्यवहार्य समानता के आधार पर कण्डिका के आशय को प्रस्तुत सन्दर्भ द्वारा प्रधान के रूप में उतारने का प्रयास किया है। इन दोनों (परमात्मा व प्रधान) की यह समानता केवल शाब्दिक इस कारण है कि परमात्मा में तो शब्द आदि तात्त्विक स्थिति का सर्वथा अभाव है; परन्तु प्रधान के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता; क्योंकि प्रधान ही कभी--अवस्था आदि परिणामों के प्रवाह में अविरत बहता हुआ—शब्द, स्पर्श आदि के स्तर पर अभिव्यक्त होता है। यह अभिव्यक्ति मिथ्या नहीं है, अतः कारणरूप से शब्द-स्पर्श आदि का प्रधान में अन्तर्हित रहना अमान्य नहीं कहा जा सकता। परन्तु प्रधान दशा में शब्द-स्पर्श आदि के अव्यक्त रहने के कारण व्यवहार में उसे अशब्द, अस्पर्श कहने में कोई असामञ्जस्य नहीं है। इसलिए इस समानता को यहाँ केवल व्यवहार्य कहा है।

सन्दर्भ-पद्य के तृतीय चरण के प्रथम पद का पाठ 'अनादि मध्यं' कुछ संदिग्ध हो गया है। अर्थ स्पष्ट नहीं है। यदि आदि-मध्य पदों का द्वंद्व समास कर उनका नञ् के साथ बहुव्रीहि समास करें—'आदिश्च मध्यञ्च=आदिमध्ये; न विद्येते आदि-मध्ये यस्य तत् अनादिमध्यं प्रधानम्' तो यह समञ्जस प्रतीत नहीं होता, क्योंकि इसका अर्थ होगा—जिसका आदि नहीं और मध्य नहीं—ऐसा प्रधान। 'आदि नहीं' का अर्थ है—जो उत्पन्न नहीं होता; यह अंश ठीक है; पर 'जिसका मध्य नहीं' यह प्रधान में कैसे संगत होगा? फिर प्रधान का मध्य होगा क्या? जगत्-रूप में उसके परिणाम को मध्य कहा जा सकता है; तो वह 'नहीं' कैसे? यह कथन तो प्रत्यक्ष आदि सब प्रमाणों के विरुद्ध होगा, और सिद्धान्तहीन भी।

यदि इन पदों का समास न कर दोनों को पृथक् पद मानें—'अनादि प्रधानं' और 'मध्यं प्रधानं'—प्रधान अनादि है, इसका कारण कोई नहीं, अर्थात् यह कभी उत्पन्न नहीं होता; तथा प्रधान मध्य है, अर्थात् जगत् के रूप में परिणत होता हुआ प्रधान उस रूप में आगे आनेवाले प्रलयकाल तक विद्यमान रहता है। इस प्रकार कथञ्चित्, आंशिक निर्वाह हो सकता है, परन्तु जिस समानता को दिखाने के लक्ष्य से कण्डिका का उपयोग किया गया है, वह नहीं रहता। फलतः यह उपयुक्त होगा कि कण्डिका के पाठ के समान यहाँ भी 'अनाद्यनन्तं' पाठ माना जाय। दोनों अनादि और अनन्त हैं, न ये कभी उत्पन्न होते हैं, न इनका कभी विनाश होता है। दोनों की समानता का सामञ्जस्य हो जाता है, तथा सांख्य के सत्कार्य-सिद्धान्त का भी।

सन्दर्भ के द्वितीय चरण में भी कण्डिका के पदों का कुछ विपर्यास हो गया है; पर अर्थ सर्वथा समान है। सन्दर्भकार ने अपनी भावना व प्रतिपाद्य के अनुसार चतुर्थ चरण को बदलकर संगत कर दिया है। यह सन्दर्भ 'तत्त्वसमास' की 'सांख्य-संग्रह' नाम से प्रकाशित व्याख्याओं में उद्धृत मिलता है ॥४१॥

प्रकृति-सम्पर्क में आत्मा के भाव कैसे उभरते हैं, उसका व्यवहार कैसा रहता है, यह अग्रिम सन्दर्भ से बताया—

अहं शब्दे अहं स्पर्शे अहं रूपे अहं रसे।
अहं गंधे अहं स्वामी धनवानहमीश्वरः॥ ४२ ॥
अहं भोगी अहं धर्मेऽभिषिक्तोऽसो मया हतः।
अहं हनिष्ये बलभिः परैरित्येवमादिकः॥ ४३ ॥

मूल प्रकृति अथवा अव्यक्त प्रकृति के साथ जीवात्म-तत्त्व का कोई आभिमानिक सम्पर्क नहीं रहता। यह सम्पर्क तभी सम्भव होता है, जब प्रकृति परिणत होती हुई व्यक्त अवस्था में महत्, अहंकार, मन, इन्द्रियाँ, तन्मात्र आदि रूपों को धारण कर सूक्ष्मशरीर व स्थूलशरीर तक पहुँचती हैं। तब जो भाव उभरते हैं व उनके अनुसार जो व्यवहार होता है, वह सन्दर्भ से प्रकट किया गया है। अर्थ स्पष्ट है—मैं बोलता हूँ, मैं छूता हूँ, मैं देखता हूँ, मैं चखता हूँ, मैं सूँघता हूँ, मैं मालिक हूँ, धनवान् हूँ, ऐश्वर्यशाली व अधिकारी हूँ, मैं भोगों को भोगनेवाला हूँ, मैं धर्मात्मा हूँ, मानो धर्म के सिंहासन पर मेरा ही अभिषेक किया गया है, अमुक व्यक्ति को मैंने मार डाला है, सम्भव है—बलवान् शत्रुओं द्वारा मैं भी मारा जाऊँ; इस प्रकार जीवन में अनेकानेक भावमूलक व्यवहार निरन्तर चालू रहते हैं। संसार का यह खुला-नंगा स्वरूप है। आत्मा के शुभ-अशुभ भोग एवं अपवर्ग को सिद्ध करने के लिए जो साधन प्रकृति की ओर से पुरस्कृत किये गए हैं, उन सबके ही उपयोग का संकेत सन्दर्भ में आ गया है ॥४२,४३॥

अग्रिम तीन आर्या-सन्दर्भों से सात्त्विकी-राजसी-तामसी वृत्तियों का दिग्दर्शन कराया गया है—

धर्माख्यं सौहित्यं यमनियमनिषेवणं प्रख्यानम्।
ज्ञानैश्वर्यविरागाः प्रकाशनमिति सात्त्विकी वृत्तिः॥ ४४ ॥
रागः क्रोधो लोभः परपरिवादोऽतिरौद्रताऽतुष्टिः।
विकृताकृतिपारुष्यं प्रख्यातैषा तु राजसी वृत्तिः॥ ४५ ॥
प्रमादमदविषादा नास्तिक्यं स्त्रीप्रसंगिता निद्रा।
आलस्यं नैघृण्यमशौचमिति तामसी वृत्तिः॥ ४६ ॥

सात्त्विकी वृत्ति—ऐसे कार्य जिनको 'धर्म' का नाम दिया जाता है, जो कार्य सबके हित व कल्याण के लिए किया जाता है, यम और नियमों का श्रद्धापूर्वक सेवन, सदा ऊँचे ज्ञान की चर्चा व प्राप्ति में प्रवृत्ति रखना, अध्यात्मज्ञान में रुचि,

अपने-आपको कभी हीन भावनाओं से अभिभूत न होने देना, सदा उदात्त एवं सक्रियता की भावनाओं को उभरने का अवसर देना, सांसारिक विषयों के प्रति आसक्त न रहते हुए वैराग्य-भावना से कार्यों में संलग्न रहना, जो कार्य करना सचाई के साथ खुला रहकर करना, धोखा-धड़ी व मक्कारी से सदा बचना; ये सब कार्य सत्त्वगुण के प्रभाव में होते हैं। व्यवहार में ऐसे कार्यों का आचरण सत्त्व-गुण का परिणाम है।

यम-नियम सेवन—जीवन को उन्नत बनाने के लिए जिस मार्ग को अपनाया जाता है, उसके बुनियादी पत्थर 'यम-नियम' हैं। इनका विस्तृत वर्णन योगदर्शन में हुआ है। यह केवल योगमार्ग पर चलनेवालों के ही लिए अपेक्षित नहीं होते, प्रत्युत मानवमात्र के लिए आवश्यक हैं। मानव के प्रत्येक प्रकार के अभ्युदय के लिए ये आधारभूत धर्म हैं।

ये योग के आठ अंगों—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि में से पहले दो अंग हैं। इनमें—'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह' ये पाँच धर्म 'यम' कहलाते हैं। यह इन पाँचों के लिए योगशास्त्र का 'पारिभाषिक' नाम है। समस्त भारतीय साहित्य में, विशेष रूप से धर्मशास्त्र आदि में—जहाँ योगविषयक अथवा व्यक्ति के उच्च चरित्र-निर्माण के विषय में प्रसंग आते हैं, वहाँ 'यम' पद का प्रयोग इन्हीं पाँच भावों को प्रस्तुत करता है। इस पद का धात्वर्थ के आधार पर तात्पर्य है—अपने-आपको संयत करना, नियन्त्रित करना अर्थात् आत्म-नियन्त्रण में पूर्णनिष्ठ होना। योग के उच्च शिखर पर पहुँचने के लिए जिस सीढ़ी का सहारा लेना है, उसका यह पहला डण्डा है, बुनियादी सहारा, दृढ़भूत आधार। इसका पूर्णरूप से पालन करने पर योग के उच्च स्तर पर चढ़ने के लिए सीढ़ी मजबूत रहती है। यदि इसमें ढील रही तो आगे के डण्डों पर पैर पहुँच ही न पाएगा, चढ़ना दूर रहा। जो व्यक्ति यम-नियम का पूर्ण रूप से पालन नहीं करते, उनका योगमार्ग पर चलने का प्रयास निष्फल होता है। वस्तुतः वह योगमार्ग नहीं; वह केवल आत्म-वंचना है, अपने-आपको धोखा देना है, साथ में जग-वंचना भी। यहाँ अहिंसा आदि का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कर देना उपयोगी होगा।

अहिंसा—मन, वाणी तथा कर्म से किसी प्राणी को कष्ट न पहुँचाना अहिंसा है। न केवल कष्ट न पहुँचाना, अपितु उसकी भावना भी चित्त में न आनी चाहिए। किसी के प्रति द्रोह, ईर्ष्या, असूया आदि की भावना का चित्त में उभरना हिंसा में परिगणित होता है। अतः चित्त में इनका उभार भी कभी किसी प्रकार न होना चाहिए। सत्य आदि शेष यम और सब नियम अहिंसामूलक हैं। अहिंसा सबका मूल है, सबके बीच मुख्य अंग है। अपने अंशदान से अहिंसा को पूर्ण रूप में निर्दोष-निष्कलंक सिद्ध करने के लिए ही इनका प्रतिपादन है, जिससे अहिंसा का शुद्ध,

स्वच्छ रूप सर्वांश में निखर सके।[1] यम नियमों में अहिंसा का प्राधान्य है, इसके लिए इसी ग्रंथ के प्रारम्भिक सन्दर्भों में संख्या ३१ देखें।

सत्य—मन, वाणी, कर्म से सत्य का आचरण करना। मन और वाणी समान हों, जो मन से विचारा, अनुमान किया या जैसा सुना है, दूसरे के सामने अपने भाव प्रकट करने के लिए वाणी से ठीक वही बात कहना। उसमें छल-प्रपंच या धोखा देने की नितान्त भी भावना न होनी चाहिए। ऐसा भी न हो कि कही हुई बात का कोई अर्थ ही न निकले। सार्थक और सत्य कहा जाना चाहिए। पुण्य रूप सत्य वही है, जो किसी के लिए हानिकारक न हो। जो तथाकथित सत्य अन्य को हानि पहुँचानेवाला है, उस पुण्याभास—पुण्य का खोल लपेटे हुए कथन से—स्वयं उसका प्रवक्ता घोर कष्ट को प्राप्त होता है। ऐसे कथन आधुनिक न्यायालयों की छाया एवं राजनैतिक चर्चाओं में प्रायः होते रहते हैं। इसलिए पूर्ण सत्य वही है जो ठीक परीक्षा करके कहा हुआ सब प्राणियों का हितकर हो।

अस्तेय—स्तेय चोरी को कहते हैं। उसका सर्वात्मना त्याग करना 'अस्तेय' है। जिस द्रव्य पर किसी दूसरे का अधिकार है, उसको अवैधानिक रूप से ग्रहण न करे, न ग्रहण करने की इच्छा करे। अन्य द्रव्य के प्रति लालसा भी नहीं होनी चाहिए। लालसा उभरने पर आगे अन्य दोष-विकार उत्पन्न होकर स्तेय के रूप को धारण कर जाते हैं। इस सबका पूर्ण त्याग अस्तेय है।

ब्रह्मचर्य—कामवासनाओं से सर्वात्मना बचते हुए प्रयत्नपूर्वक वीर्य की रक्षा करना, जिनेन्द्रिय रहना, इन्द्रियों की विषयों में आसक्ति को न उभरने देना ब्रह्मचर्य है। यह पथ बड़ा दुर्गम, कण्टकाकीर्ण है; पर पूर्ण संयमी इसको पार करने में सफल हो जाता है। जब तक देह है, तब तक कामनाओं का सर्वात्मना त्याग सम्भव नहीं।

---

१. सम्भवतः इन्हीं सब तथ्यों को सोच-समझकर व हृदयंगम कर महात्मा गांधी (मोहनदास कर्मचन्द गांधी) ने अपने देश को विदेशी शासकों से स्वतंत्र कराने के उद्देश्य से सत्य-आग्रहपूर्वक अहिंसा अस्त्र का आश्रय लिया, तथा उसमें सफलता प्राप्त की। स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाने पर भी राष्ट्र सुख-सुविधापूर्ण न बन सका, हो सकता है उस अहिंसा-अस्त्र के प्रयोग में कहीं कोर-कसर रह गई हो। सर्वजन-हितकारी महान् उद्देश्य की सिद्धि के लिए अतिप्राचीन काल से इस अस्त्र का प्रयोग भारत में होता रहा है। आदि-ऋषियों ने नारा दिया था—'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि'। अनन्तर महात्मा बुद्ध ने इसका आश्रय लिया; वर्तमान में महात्मा गांधी ने। राष्ट्र में उभरती आ रही कष्टप्रद कमियों को उच्छिन्न करने के लिए कदाचित् इसी वर्ग के अन्य किसी महान् आत्मा का प्रादुर्भाव हो।

Scanned with CamScanner

आहार आदि की कामना स्वाभाविक है, अपरित्याज्य भी। मनु ने बताया—

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः॥
अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्।
यद्यद्धि कुरुते किञ्चित् तत्तत्कामस्य चेष्टितम्॥ (२।२,४)

कामनाओं में आसक्त होना अच्छा नहीं; पर कामना-हीन होना भी सम्भव नहीं। वेदज्ञान की प्राप्ति और वैदिक कर्मानुष्ठान कामनामूलक हैं। बिना कामना के कोई कार्य संसार में देखा नहीं जाता। जो कुछ किया जाता है, वह कामना से प्रेरित होता है। फलतः शास्त्रानुमोदित कामनाओं को परित्याज्य न समझना चाहिए। इसलिए शास्त्रविधान की उपेक्षा करके भौतिक विषयों में केवल इन्द्रियाराम के लिए कामना को परित्याज्य माना गया है। पूर्ण रूप में वीर्यरक्षा के साथ अन्य इन्द्रियों को भी विषयों में निर्बाध प्रवृत्त होने से रोकना ब्रह्मचर्य की सीमा में आता है।

अपरिग्रह—आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह न करना 'अपरिग्रह' है। अशन, पान, आच्छादन आदि आवश्यक कार्य हैं। इनमें भी विशेषता रहती है। जीवन-निर्वाह व देहधारण साधारण स्वास्थ्यकर भोजन आदि से चल जाता है, और असाधारण भोजन-पान आदि से भी। यद्यपि भोजन आदि आवश्यक है, पर असाधारण भोजन आदि के लिए प्रयास करना 'परिग्रह' में आ जाता है। इसी प्रकार वस्त्र तथा गृह आदि के विषय में समझना चाहिए। खादी तथा अन्य साधारण स्वास्थ्योपयोगी वस्त्र से शरीर ढाँपा जा सकता है, और कौशेय (रेशमी) आदि बहुमूल्य वस्त्र से भी। यदि संन्यासी अथवा अध्यात्ममार्ग का यात्री साधक इसकी कामना करता है, या इसके लिए प्रयास करता है, तो वह 'परिग्रह' की सीमा में आ जाता है। वर्षा, शीत, ताप आदि से बचाव के लिए साधारण ओट से काम चल जाता है। संन्यासी व अध्यात्ममार्गी के लिए भवनों का निर्माण आवश्यक नहीं है। यह 'परिग्रह' हो जायगा। अध्यात्म-साधक के लिए 'अपरिग्रह' इसीलिए अत्यन्त आवश्यक है कि यदि यह इन्हीं के संग्रह में लगा रहा, तो उसका जीवन इन्हीं कार्यों में पूरा हो जाएगा, योग-साधना के लिए फिर समय कहाँ?

अपरिग्रह का आंशिक प्रयोग—सामाजिक सुव्यवस्था की दृष्टि से—प्रत्येक सद्-गृहस्थ व्यक्ति को भी करना चाहिए। इसके अभाव में उपभोग्य सामग्री का किन्हीं विशिष्ट स्थानों, परिवारों आदि में जमाव हो जाना सम्भव रहता है, जो साधारण जनता के लिए खुले व्यवहार में वस्तु की कमी को पैदा कर देता है, जिससे समाज में विच्छृङ्खलता फैलती है, साधारण सुख-सुविधाओं में बाधाएँ खड़ी हो जाती हैं, अभावजनित अव्यवस्थाएँ उभरकर समाज को दुःखी बना देती हैं। इसलिए अपरिग्रह का आचरण जीवन की प्रत्येक दशा में समाज के प्रत्येक अंग के लिए व्यवस्था-

Scanned with CamScanner

नुसार अपरिहार्य है। योगशास्त्र (२.३१) में ये पाँच यम 'सार्वभौम महाव्रत' कहे गये हैं।

व्यक्ति जिन भावनाओं को बाह्य समाज के साथ अनिवार्य रूप से सम्पर्क में आकर पूरा कर पाता है, उनको 'यम' में संकलित किया गया है। जब बाह्य समाज के सम्पर्क के बिना केवल अपने व्यक्तित्व में किन्हीं कार्यों व भावनाओं को निभाया जाता है, उनका संकलन 'नियम' में हुआ है ! नियमों का संक्षिप्त विवरण यहाँ दे देना उपयोगी होगा।

नियम—पाँच हैं—शौच, सन्तोष, तपः, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान। प्रत्येक का यथाक्रम संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार समझना चाहिए—

शौच—इसका अर्थ शुद्धि अथवा पवित्रता है। इसके दो भेद हैं—बाह्य और आभ्यन्तर, अथवा शारीरिक और मानसिक। जल आदि से शरीर, वस्त्र एवं अपने निवासस्थान आदि को शुद्ध-स्वच्छ रखना, तथा शुद्ध आहार आदि का सेवन करना बाह्य शौच अथवा शुद्धि है। मन अर्थात् चित्त के मलों—ईर्ष्या, द्वेष, मद, मात्सर्य, राग, क्रोध आदि का प्रक्षालन करना, इन मलों को चित्त में न उभरने देना, उभरने पर तत्काल उनको दूर करने, भुलाने का प्रयास करना आभ्यन्तर शौच है।

सन्तोष—जीवन-निर्वाह के लिए जो अपेक्षित साधन अपने पास हैं, एवं धर्म-पूर्वक वैधानिक साधनों से अर्जित किये जाते हैं, उन्हीं में सन्तुष्ट रहना, उन्हीं से अपना कार्य चलाना। सुखार्थी व्यक्ति लोभ आदि से प्रेरित होकर चोरी, तस्करी, धोखा-धड़ी तथा अन्य असंवैधानिक साधनों द्वारा वस्तु-संग्रह में कदापि प्रवृत्त न हो। शुभ साधनों द्वारा भी आवश्यकता से अत्यधिक वस्तुसंग्रह 'असन्तोष' की सीमा में आ जाता है, जो समाज में विच्छृङ्खलता व अव्यवस्था को उत्पन्न करता है। अध्यात्ममार्गी के लिए तो सन्तोष पर निष्ठा अत्यन्त आवश्यक है; अन्यथा वह अपने मार्ग को भूलकर दुनियादारी में फिर भटक जाता है।

तपः—यह भी दैहिक और चैत्तिक दो प्रकार का है। भूख-प्यास, सरदी-गरमी, जाना-ठहरना, कम बोलना व न बोलना आदि द्वन्द्वों का यथाशक्ति प्रसन्नतापूर्वक सहन करना दैहिक तप है। स्मरण तथा कार्यों में उद्भूत प्रतिरोध की भावना आदि से जो उद्वेग चित्त में उभरते हैं, उनको साहसपूर्वक दृढ़ता से सहन करना, उनके उभरने पर दुःखी न होना, उसे तपस्या समझकर सहन कर जाना चैत्तिक तप है। ऐसा करने से उद्वेग कम हो जाते हैं। इस प्रकार की तपोभावना से धीरे-धीरे उनका उभरना बन्द हो जाता है।

स्वाध्याय—प्रत्येक व्यक्ति को अपने दैनिक नियत कार्यों से अवसर मिलने पर अध्यात्म-सम्बन्धी ग्रन्थों का अध्ययन करना स्वाध्याय है। शास्त्रकारों ने इसीके लिए 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इत्यादि विधान किया है। किस्से, कहानी, उपन्यास, समाचारपत्र आदि पढ़ना स्वाध्याय नहीं। वह भी यथावसर आवश्यक है; पर

उसकी गणना स्वाध्याय में नहीं की जाती। अध्यात्म-सम्बन्धी स्वाध्याय थोड़ा भी नियमपूर्वक किया गया मानव-जीवन को सच्चा मार्ग दिखाने में महत्त्वपूर्ण योगदान करता है। अध्यात्म-साधक के लिए तो यह अत्यावश्यक है। लगातार दिन-रात प्रणव-जप आदि योगाभ्यास नहीं हो पाता, ऐसे अतिरिक्त समय को इधर-उधर व्यर्थ कार्यों में न गँवाकर अध्यांतम-शास्त्रों के अध्ययन में लगाना योगाभ्यास के लिए प्रेरणाप्रद होता है।

ईश्वरप्रणिधान—परमगुरु परमात्मा में अपने को और अपने कार्यों को अर्पण कर देना ईश्वरप्रणिधान है। प्रत्येक व्यक्ति अपने कार्यों को करता हुआ यदि इस भावना को सचाई के साथ जगाये रखता है, तो वह कभी बाधाओं से अभिभूत नहीं होता। ऐसी भावना से भगवान् के प्रति भक्ति का उद्रेक जागृत रहता है, जो कार्य-व्यवहारों में लगे व्यक्ति को अनासक्त बनाये रखता है।

इस प्रकार यम-नियम के सेवन से उभरी सात्त्विक वृत्तियाँ मानव-जीवन को उज्ज्वल, प्रकाशमय बना देती हैं।

राजसी वृत्ति—रागः=विषयों—शब्द-स्पर्श आदि के प्रति आकर्षण-आसक्ति; क्रोधः=अपने विरोध में प्रतिकूल स्थिति आने पर वाचिक अथवा शारीरिक क्रिया द्वारा प्रतिरोध का जनक उग्रभाव; लोभः=आवश्यकता से अधिक वस्तु की चाहना तथा उसका संग्रह करने की प्रवृत्ति; परपरिवादः=दूसरे की निन्दा करना, अन्य के गुणों को अवगुण के रूप में प्रकट करना। यह वाचिक क्रिया अन्य के प्रति ईर्ष्या, द्वेष, असूया आदि भावनाओं के कारण उभरती है, तथा दूसरे क्रोध, संघर्ष आदि दोषों को भी उभारने में सहयोग देकर अन्तरात्मा में विक्षोभ उत्पन्न करती रहती है। किसी कवि ने इस दूषित प्रवृत्ति के परित्याग का उत्तम फल बताते हुए कहा है—

यदीच्छसि वशीकर्त्तुं जगदेकेन कर्मणा।
परापवादसस्येभ्यो गां चरन्तीं निवारय॥

यदि तुम केवल एक कार्य से जगत् को वश में करना चाहते हो, तो दूसरों के अपवाद-निन्दारूप सस्यों (हरी खड़ी फसलों) से अपनी वाणीरूप गाय का चुगना-चरना बचाये रखो। जैसे गाय का मालिक दूसरे के खड़े खेत में गाय को न चुगने देकर खेत के मालिक की अनुकूलता को अर्जित करता है, ऐसे ही दूसरे की निन्दा करने की प्रवृत्ति से अपनी वाणी को बचाकर रखना दूसरे के स्नेह को अपने प्रति अर्जित करना है। यह स्थिति व्यक्ति को किसी भी तरह के विरोध से बचाये रखती है। इस रूप में जगत् के वशीकरण का यह मूलमन्त्र है।

अतिरौद्रता—साधारण उपेक्षणीय बातों पर भी अतिरुद्र-रूप धारण कर लेना, अनावश्यक अवसरों पर उग्र रूप में क्रोध आदि भावों का अभिव्यक्त करना राजसी वृत्ति का स्वरूप है। अतुष्टिः=अपेक्षित आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाने

पर भी अधिक के लिए ललचाते रहना 'अतुष्टि' है। यह भावना व्यक्ति को अनावश्यक रूप में दुःखी बनाये रखती है। विकृताकृतिपारुष्यम्=अपनी स्वाभाविक सरल मुखाकृति को विकृत कर हाथ-पैर-सिर आदि को हरकत देते हुए वाणी द्वारा कठोरता का अभिव्यञ्जन करना, ये सब भावनाएँ व चेष्टाएँ राजसी वृत्ति का स्वरूप हैं। ये जब-जब उभरती हैं, व्यक्ति को दुःखी व अशान्त बनाये रखती हैं।

तामसी वृत्ति—प्रमादमदविषादाः=प्रमाद, मद और विषाद से युक्त होना तामसी वृत्ति का स्वरूप है। प्रमाद आदि को यथाक्रम निम्न प्रकार समझना चाहिए—

प्रमाद—किसी भी कार्य को मनोयोगपूर्वक न करने की प्रवृत्ति 'प्रमाद' कही जाती है। इसके परिणास्वरूप कोई कार्य प्रारम्भ करके पूरा नहीं हो पाता, इस दोष के कारण जीवन में सक्रियता, सजीवता, सतर्कता का अभाव-सा रहता है; इससे व्यक्ति कार्यों को करने की उपयुक्त क्षमता को खो बैठता है ; अपने जीवन में सदा निराश और निष्फल बना रहता है।

मद—साहस व शक्ति न रहते हुए भी अपने-आपको वैसा प्रकट करना 'मद' कहाता है। जिन व्यक्तियों में इस वृत्ति का उभार रहता है, वे कुछ करने की क्षमता न रखते हुए भी सिर्फ ज़बानी लमतरानियाँ हाँका करते हैं। अपने को फिर भी महत्त्वपूर्ण व्यक्ति समझते हैं; अपने बराबर किसी को नहीं आँकते, अपने से अधिक समझना तो दूर की बात है। ऐसे व्यक्ति जीवन में कभी सफल नहीं होते। केवल अपने बड़प्पन की बातें बनाना कार्य की सफलता के लिए कारगर नहीं होता। इनकी बातें लोग सुन लेते हैं, सामने प्रायः कुछ नहीं कहते, पर उन बातों को पागलपन की बड़ समझकर उदासीन रहते हैं। ऐसे व्यक्ति का जीवन—घोड़ा बेलगाम होकर उसे उत्पथ पर भगा ले जाता है, जिसका परिणाम केवल किसी अन्धकारमय गर्त्त में गिर जाना है।

विषाद—मन में सदा हीन भावना व उद्वेग का जागृत रहना 'विषाद' है। इस दोष से अभिभूत व्यक्ति निकम्मा-सा हो जाता है। किसी कार्य को करने की प्रवृत्ति प्रायः क्षीण हो जाती है। उसे आलस्य से घिरे रहकर पड़े रहना सुहाता है। ऐसा व्यक्ति सदा डूबा-डूबा-सा रहता है, चेहरे पर सदा उदासी का साम्राज्य, कभी चेहरा खिला हुआ—रौनक से भरा दिखाई नहीं देता। जीवन निरर्थक-सा हो जाता है। यह दोष व्यक्ति के आयुष्य को क्षीण कर उसे मृत्यु-पथ पर सरपट चला देता है।

नास्तिक्यम्—देह-इन्द्रिय आदि से अतिरिक्त किसी चेतन आत्मतत्त्व को स्वीकार न करना 'नास्तिक्य' है। इस पद के वास्तविक अर्थ की ओर ध्यान न देते हुए कतिपय मध्यकालिक लेखकों ने स्व-वर्गीय सिद्धान्त-विशेष की अमान्यता के आधार पर इसे प्रयुक्त किया है। हरिभद्र सूरि ने 'षड्दर्शन समुच्चय' में उनको

नास्तिक बताया है, जो ईश्वर की असत्ता में विश्वास नहीं रखते। सूरि उनको आस्तिक कहता है, जो ईश्वर की असत्ता में विश्वास रखते हैं; अथवा जिनको वह ऐसा समझता है। 'नास्तिक' पद का वास्तविक अर्थ है, चालू जीवन के रूप में देह-इन्द्रिय आदि संघात को ही सब-कुछ समझना। इसके पहले, इस समय और इसके बाद भी 'आत्मा' नाम का कोई तत्त्व नहीं है, अर्थात् पूर्व-अपर शरीरों में अनादि-अनन्त चेतन तत्त्व को स्वीकार न करना। तात्पर्य है—केवल आधिभौतिक तत्त्वों की सत्ता स्वीकार करना, इनसे अतिरिक्त चेतन तत्त्व की सत्ता को स्वीकार न करना नास्तिकता है।

स्त्रीप्रसंगिता—विषय-वासनाओं में लिप्त रहना, जीवन का लक्ष्य स्त्रीप्रसंग से अतिरिक्त अन्य कुछ न समझना। यह जोश जवानी के आलम में उभरकर आसमान को छूता है, सोडावाटर की बोतल की तरह डाट खुलते ही तूफान की तरह उभरकर आता है, और जल्दी ही ठण्डा हो जाता है, जीवन की नौका को अविलम्ब ले बैठता है।

निद्रा—सर्वजनवेद्य अवस्था है। उपयुक्त निद्रा निःसंदेह स्वास्थ्य के लिए अमृत-घट है। पर इस अवस्था से अभिभूत होकर इसका दास हो जाना सफल जीवन के लिए हानिकर है। उपयुक्त निद्रा स्वास्थ्य के लिए अत्यावश्यक होते हुए भी आचार्यों ने इस अवस्था को तमस् का प्रभाव बताया है, जो केवल वस्तु-रचना व उसकी स्थिति का द्योतक है। इससे परिणाम के अनुकूल होने में कोई सन्देह न करना चाहिए।

आलस्यम्—आलस्य = सुस्ती को प्रत्येक व्यक्ति जानता है। कार्य में रुचि न होना, हाथ-पैर हिलाने को जी न करना, इसका स्वरूप है। यह कर्मठता या सक्रियता का शत्रु है। जीवन को निष्फल बना देता है। आलसी व्यक्ति के कोई कार्य समय पर नहीं हो पाते, इसीलिए वह समाज में निकम्मा-फिसड्डी समझा जाता है, सर्वत्र निरादर पाता है।

नैर्घृण्यम्—इसका अर्थ है—निर्दयता। दया मानव का बहुत बड़ा गुण है। जितना बड़ा गुण दया है, उतना ही—प्रत्युत उससे भी—बड़ा अवगुण निर्दयता है। दुःखी के दुःख-निवारण की उग्र भावना एवं उसके अनुकूल आचरण का नाम 'दया' है। दुःखी को देखकर जिसका हृदय नहीं पसीजता, उसे निर्दय ही समझना चाहिए। दयावान् व्यक्ति संसार में बहुत कम—बहुत ही कम होते हैं; निर्दयों के जमघट से संसार भरा हुआ है। समस्त आमिषभोजी समाज निर्दयता का प्रत्यक्ष उदाहरण है। संसार में नव्वे प्रतिशत से भी अधिक व्यक्ति आमिषभोजी हैं। शेष व्यक्तियों में भी निर्दयता के अन्य प्रकार सामने आते रहते हैं। न केवल सौ के पीछे, प्रत्युत सहस्र के पीछे भी एक व्यक्ति ऐसा निकलना कठिन है, जिसमें दया की भावना पूर्ण रूप से जागृत हो।

कहा जा सकता है—मानव-जीवन की रक्षा के लिए आमिष का उपयोग अनेक प्रसंगों में आवश्यक है। मानव-जीवन महत्त्वपूर्ण है, इसकी रक्षा जैसे भी हो, करना उचित है। ठीक है, मानव की जीवन-रक्षा आवश्यक है, पर इससे निर्दयता के अवगुण को धोया नहीं जा सकता। मानव बुद्धिमान् प्रतिभाशाली चतुर प्राणी है। अचिन्त्य शक्ति प्रभु ने महान् विभूतियाँ उसके लिए प्रदान की हैं। भू पर मानव ने आश्चर्यजनक आविष्कार प्रस्तुत किये हैं। क्या वह इस भू-माता की अनन्त उर्वराशक्ति से अपरिचित है? हम पढ़ते-सुनते रहे हैं, बाजार में खाद्यान्न का भाव नीचे न गिर जाय, इस भावना से लाखों टन खाद्यान्न की उपज को समुद्र में डुबा दिया जाता रहा है। अन्य दोषपूर्ण भावनाओं से अभिभूत मानव स्वभावतः क्रूर है, निर्दय है। कोई विरल महान् आत्मा कभी ऐसा निकलता है, जहाँ 'दया' का महान् गुण अपने वास्तविक रूप में उजागर हुआ हो।

अशौचम्—'शौच' पद का अर्थ है—पवित्रता, 'अशौच' का अर्थ हुआ—अपवित्रता। यह अपवित्रता दैहिक, मानसिक, आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि अनेक प्रकार की है। प्रथम योगांग 'नियम' के विवरण में 'शौच'—शुद्धि—पवित्रता का व्याख्यान किया गया है, जो सात्त्विकी वृत्ति है। उससे विपरीत यह 'अशौच' तामसी वृत्ति में परिगणित है। प्रतिदिन स्नान आदि करना, स्वच्छ वस्त्र धारण करना दैहिक शौच है। इससे विपरीत स्नान आदि न करना, देह पर मैल जम जाना, सिर में जुएँ पड़ जाना, वस्त्र गन्दे मैले-कुचैले पहने रहना आदि दैहिक अशौच है। ईर्ष्या, द्वेष, अनुचित राग, मोह आदि मानसिक अशौच हैं। रुपये-पैसे आदि व्यवहार में धोखा-धड़ी, ग़बन, चोरी, तस्करी आदि करना आर्थिक अशौच है। सहानुभूति न होना, समाज, देश व राष्ट्र के प्रति अनुकूलता की भावना न रखना, स्वार्थसिद्धि के लिए इनके साथ विद्रोह करना सामाजिक अशौच है। शासन में असंवैधानिक, अनैतिक साधनों को अपनाकर, राष्ट्र-कल्याण की भावना न रहते हुए केवल शासन को हथियाने के लिए अनुचित तरीकों को सहारा लेना राजनैतिक अशौच के अन्तर्गत आता है। ये तामसी वृत्तियाँ किसी व्यक्ति, समाज या राष्ट्र के पतन का ही कारण होती हैं।

सात्त्विकी, राजसी, तामसी वृत्तियों के विवरण के विषय में भगवद्गीता का चतुर्दश अध्याय द्रष्टव्य है। वहाँ सांख्य-निर्दिष्ट रीति पर ही इनका विवरण प्रस्तुत हुआ है। अन्य भी अनेक सांख्यीय सिद्धान्तों के विवरण से गीता ओत-प्रोत है ॥४६॥

सात्त्विकी आदि वृत्तियों के विवरण के अनन्तर सन्दर्भकार कतिपय अन्य धृति, श्रद्धा आदि भावों का यथाक्रम विवरण प्रस्तुत करता है। धृति का लक्षण—

बाह्यकर्माणि संकल्प्य प्रतीतं योऽभिरक्षति।
तन्निष्ठेस्तत्प्रतिष्ठश्च धृतेरेतद्धि लक्षणम् ॥ ४७ ॥

'यः' जो व्यक्ति 'बाह्यकर्माणि संकल्प्य' बाहरी कर्मों का संकल्प कर अर्थात् अपने समस्त व्यावहारिक कार्यों के संदर्भ में 'प्रतीतं' अपने प्रतिज्ञात—संकल्पित भावों की 'अभिरक्षति' सब प्रकार रक्षा करता है, उनके अनुकूल आचरण रखता है, 'तन्निष्ठः' उन भावों के अभिरक्षण में दृढ़ है, 'तत्प्रतिष्ठः' उनमें पूर्णरूप से स्थिर है, उनके आचरण में कभी डाँवाडोल नहीं होता,—यह धृति का स्वरूप है।

व्यक्ति के जो अपने निर्धारित कार्य हैं—शिक्षा, रक्षा, प्रशासन, न्याय, वाणिज्य, शिल्प, निर्माण, कृषि, यातायात आदि, इनमें से जो कार्य जिस व्यक्ति ने करना स्वीकार किया है, वह उसे अपने व्यवहार में, अपने कार्य करने के अवसर पर पूर्ण निष्ठा के साथ निभाये, स्थिरता से संलग्न होकर कार्यकाल में पूरा करने का प्रयास करे, किसी तरह की ढील-हीलहुज्जत या बहानेबाजी का अवसर न आने दे।

जिस राष्ट्र के कार्यकर्त्ता व्यक्ति में यह भावना जागृत रहती है, निस्सन्देह वह राष्ट्र अभ्युदय के ऊँचे शिखर पर पहुँचता है। उस अवस्था में हड़ताल और असहयोग आदि का अवसर नहीं आता। ये उपद्रव तभी खड़े होते हैं, जब कार्यकर्त्ताओं में मालिक-नौकर, शोषक-शोषित की भेदभरी भावना नृत्य कर रही होती है। अपने उपयुक्त भाग से अधिक प्राप्त करने की कामना-राक्षसी सभी को डाँवाडोल रखती, मनमाना नाच नचाती है। ऐसी दशा में धृति देवी विदा हो जाती है; उपद्रवों—आपाधापी का माहौल बन जाता है। मालिक-नौकर आदि की भेदभरी निकम्मी भावना का परित्याग कर—हम सब एक राष्ट्र के अंग हैं, हमारा अपना-अपना निर्धारित कार्य है, उसे संलग्नता से पूरा करना है,—यह भावना सभी में ऊपर से नीचे तक रहनी आवश्यक है। सन्दर्भकार इसी रूप में 'धृति' भावना का निर्देश करता है। उसका यह तात्पर्य नहीं कि एक अंग चुपचाप रहता चूसा जाता रहे, और दूसरा असीम मोटापे से फूलता चला जाय। यह धृति' का स्वरूप नहीं; यह तो हीनता की भावना है। व्यक्ति में धृति=धैर्य का भाव समाज व राष्ट्र के सर्वतोमुखी अभ्युदय के लिये महान् साधन है ॥४७॥

धृति के अनन्तर सन्दर्भकार श्रद्धा का स्वरूप बताता है—

स्वाध्यायो ब्रह्मचर्यं च यजनं याजनं तपः।
दानं प्रतिग्रहो होमः श्रद्धाया लक्षणं स्मृतम् ॥ ४८ ॥

श्रद्धा नाम की कोई वस्तु अथवा व्यक्तिविशेष नहीं है; यह एक आन्तरिक पवित्र भावना है, जिससे प्रेरित होकर व्यक्ति शुभ कार्यों में प्रवृत्त होता है। जो कार्य श्रद्धामूलक माने गये, प्रस्तुत सन्दर्भ में वे आठ बताये हैं—स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य, यजन, याजन, तप, दान, प्रतिग्रह, होम। ये श्रद्धा के लक्षण हैं, चिह्न हैं। जहाँ इन कार्यों का अनुष्ठान होता देखा जाता है, वहाँ इनके मूल में श्रद्धा के अस्तित्व का अनुमान होता है। तात्पर्य है—ये सभी कार्य मनोरञ्जनमूलक नहीं हैं। जो कार्य केवल मनोरञ्जन के लिये किये जाते हैं, उनके पीछे श्रद्धा का अस्तित्व नहीं रहता।

जो कार्य जीवन को उन्नत बनाने व अभ्युदय की प्राप्ति के लिये अवश्य-कर्त्तव्य के रूप में व्यक्ति स्वीकार करता है, यदि उनके मूल में श्रद्धा न हो, तो उनका सम्पादन होना, उन्हें आचरण में लाना कठिन हो जाता है। इस प्रकार के कार्य यत्किञ्चित् कष्टसाध्य अथवा श्रमसाध्य ही होते हैं। मानव कष्ट उठाने या श्रम करने की दिशा में स्वभावदुर्बल होता है। 'खाओ, पीओ, मौज करो' की मनोरञ्जन-प्रवृत्तियों में उसका नैसर्गिक रुझान होता है। इसी कारण जीवन में अभ्युदय के लिये जिन कार्यों का अनुष्ठान व सम्पादन अनिवार्य है, उनके मूल में श्रद्धा का होना आवश्यक है। श्रद्धा वह एक आन्तरिक दृढ़ भावना है, जो व्यक्ति को उन कार्यों के अनुष्ठान के लिये सदा प्रेरित करती रहती है।

व्यक्ति को प्रत्येक दशा व स्थिति में इन आठ बातों का ध्यान रखना व उन-पर आचरण करना आवश्यक है। समाज या राष्ट्र में कार्य के जितने भी विभाग हैं, जिनका संकेत गत सन्दर्भ के विवरण में किया गया है, सर्वत्र इन व्यवस्थाओं पर आचरण अपेक्षित है, केवल मौखिक रूप में मान्यता का कथन करते रहना व्यर्थ है। अभी पिछले दिनों दिल्ली के दैनिक पत्रों में बिहार प्रान्त की एक घटना का समाचार प्रकाशित हुआ। कतिपय उत्तरदायित्वपूर्ण पदों पर कार्य करनेवाले सरकारी अधिकारियों ने एक अन्य सरकारी विभाग में ही कार्य करनेवाली रामश्रृंगारी देवी को उसके ठिकाने से बलपूर्वक अन्यत्र लेजाकर उसके साथ अत्याचार-बलात्कार किया। जिस समाज या राष्ट्र में प्रशासकों की यह दशा हो, वहाँ अभ्युदय की कल्पना सपना ही है। इसलिये प्रत्येक दशा व स्थिति में इन बातों पर कठोरता से आचरण समाज व राष्ट्र के हित में है।

स्वाध्याय और तप का विवरण योग के 'नियम' नामक अंग के व्याख्यान में सात्त्विकी वृत्ति के सन्दर्भ में आ चुका है—ब्रह्मचर्य के 'यम' नामक अंग में। यहाँ कुछ विशेष है—व्यक्ति प्रतिदिन प्रातः कुछ समय अपने मान्य आध्यात्मिक धर्मग्रंथ का अध्ययन करे, इससे धार्मिक व शुभ मार्ग पर चलने की भावना बनी रहती है। इसके अतिरिक्त जो व्यक्ति जिस प्रकार या जिस विभाग का कार्य करता है, उस विषय के ग्रन्थों का अध्ययन भी थोड़ा-बहुत समय निकालकर अवश्य करना चाहिए। इससे अपने विषय की अधिक जानकारी तथा उससे चालू कार्य को और उन्नत बनाने में सुविधापूर्वक प्रयास किया जा सकता है। शिक्षा, रक्षा, वाणिज्य, शिल्प, प्रशासन आदि विभागों के कार्यकर्त्ता अपेक्षित स्वाध्याय अवश्य करें, भले ही वह आंशिक हो; ऐसी भावना सन्दर्भकार देना चाहता है।

ब्रह्मचर्य का तात्पर्य यहाँ केवल वीर्य की रक्षामात्र नहीं, अपितु सभी इन्द्रियों पर उपयुक्त नियन्त्रण अभिप्रेत है। वाणी, रसना, श्रोत्र, नेत्र आदि इन्द्रियों को ऐसे कार्यों में प्रवृत्त होने से बचाये रखना चाहिये, जो कार्य समाज या राष्ट्र के

Scanned with CamScanner

लिये हितकारी न हों। तात्पर्य है—प्रत्येक व्यक्ति का ऐसे कार्यों में अधिकाधिक समय लगना अभीष्ट है, जो सर्व-जनहिताय, सर्वजन-सुखाय हों।

'यजन-याजन' का साधारण अर्थ यज्ञ करना व यज्ञ कराना है। वस्तुतः गहराई में जाकर इस पद का अर्थ वह कार्य है, जिसमें अपने हित की अपेक्षा अन्य जनों का हित अधिक हो। प्रत्येक व्यक्ति कुछ-न-कुछ कार्य ऐसा करता रहे, जो दूसरों के हित का, कल्याण का हो, वह 'यजन' है। ऐसा कार्य जो अन्य व्यक्ति करते हों, उसमें यथाशक्ति सहयोग देना 'याजन' है। आप घर में धार्मिक यजन-याजन करते हैं, वह करें, उक्त यजन-याजन से इसमें कोई वाधा नहीं आती।

'तपस्' पद का तात्पर्य 'कष्ट-सहन' है। अपने निर्धारित व्यस्थित कार्यों के सम्पादन करने में यदि कभी कोई कष्ट या बाधा उपस्थित होते हैं, तो उन्हें साहस व धैर्य के साथ, तपस्या का अवसर समझकर सहन करना व स्वीकृत कार्य को पूर्णता पर पहुँचाना 'तप' है। ऐसी भावना से राष्ट्रहित के कार्यों को यथासमय सम्पन्न करने में महत्त्वपूर्ण सहयोग प्राप्त होता है।

'दान-प्रतिग्रह' पदों का साधारण अर्थ 'देना-लेना' है। इन पदों का प्रयोग समाज में 'दान देने' और 'दान लेने' के अर्थ में होता है। पर यहाँ इसका तात्पर्य साधारण 'आदान-प्रदान' से है। आप बाजार में जाते हैं, पैसा देते हैं, सामान लेते हैं। आप सरकारी कार्यालय जाते हैं, अथवा कहीं अन्यत्र काम करते हैं, आप अपना श्रम देते हैं, पैसा लेते हैं। यह 'आदान-प्रदान' है। मानव-समाज के समस्त व्यवहार इसी आदान-प्रदान की पद्धति पर चलते हैं। सन्दर्भकार का कहना है—यह सब आदान-प्रदान श्रद्धामूलक होना चाहिये। इसमें कहीं छल-फरेब, धोखा-धड़ी, मक्कारी-तस्करी आदि को आंशिक भी अवकाश नहीं मिलना चाहिये। समाज की सार्वजनिक सुख-सुविधा तथा उसको अनेक प्रकार के पारस्परिक संघर्षों से बचाये रखने का यह अनुपम उपाय है। समाज के उन्नत नैतिक जीवन का यह मूल मन्त्र है।

'होम' पद का परम्पराप्राप्त धार्मिक भावना के अनुसार अर्थ 'अग्निहोत्र करना' है—विशेष अग्नि में घृत-सामग्री आदि शाकल्य को निष्काम भाव से अर्पण कर देना। परन्तु यहाँ कुछ विशेष है। शाकल्य बदल गया है—वहाँ घृत-सामग्री था, यहाँ अपना जीवन है। व्यक्ति का जो अपना स्वीकृत निर्धारित कार्य है, उसे आत्म-समर्पण की भावना से पूरा करने में संलग्न रहे, यही सन्दर्भकार कहना चाहता है। जिस समाज या राष्ट्र में ऐसे व्यक्तियों का आधिक्य रहता है, उस समाज या राष्ट्र को कोई शक्ति अभिभूत नहीं कर सकती ॥४८॥

धैर्यपूर्वक श्रद्धा के साथ अपने कार्यों को संपन्न करते हुए व्यक्ति में स्वभावतः यह भावना उभरती है कि उसका जीवन सुखी व्यतीत हो। इसी सन्दर्भ में 'सुखा' नामक भावना अथवा स्थिति का स्वरूप सन्दर्भकार ने बताया—

सुखार्थं यस्तु सेवेत ब्रह्मकर्मतपांसि च।
प्रायश्चित्तपरो नित्यं सुखेयं परिकीर्त्तिता ।। ४९ ।।

'यः, तु' जो तो व्यक्ति 'सुखार्थं' सुख के लिये, 'सुख मिले' इस भावना से 'ब्रह्म-कर्मतपांसि' ब्रह्म, कर्म और तप का सेवन करे, 'च नित्यं' और सदा 'प्रायश्चित्त-परः' प्रायश्चित्त के लिये तत्पर रहे, व्यक्ति की 'सुखा इयं परिकीर्त्तिता' यह स्थिति 'सुखा' कही गई है।

गत पद्य-सन्दर्भ द्वारा व्यक्ति के लिये आठ कर्त्तव्य श्रद्धापूर्वक अपने आचरण में लाने के लिये बताये हैं—स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य, यजन, याजन, तप, दान, प्रतिग्रह, होम। प्रस्तुत पद्य-सन्दर्भ में इनको तीन में संकलित अथवा अन्तर्हित कर लिया है—'ब्रह्म' पद से स्वाध्याय और ब्रह्मचर्य का, 'कर्म' पद से यजन, याजन, दान, तथा प्रतिग्रह का और 'तपः' पद से तप और होम का संकलन हुआ है। इसके विषय में एक नया सुझाव देकर व्यक्ति की 'सुखा' नामक स्थिति बताई है।

मानव स्वभावतः अल्पज्ञ, अल्पशक्ति प्राणी है; भ्रम-प्रमाद आदि से भी अभि-भूत रह सकता है। ऐसी दशा में श्रद्धापूर्वक कार्य करते हुए भी उसमें कहीं न्यूनता या अन्यथा हो जाने की सम्भावना बनी रहती है। यदि कभी ऐसा हो जाय, अपने स्वीकृत दैनिक कार्य के सम्पादन में कहीं न्यूनता रह जाय, अथवा कुछ उलट-पुलट हो जाय, तो उसके लिये प्रायश्चित्त करने में सदा तत्पर रहे। प्रायश्चित्त क्या है? अपने कार्य में हुई किसी कमी को पूरा करना, अथवा बे-ठीक हुए को ठीक करने का प्रयास ही प्रायश्चित्त है। आपके कार्य में यदि कुछ न्यून या अन्यथा हो गया है, तो ज्ञात हो जाने पर उसे ठीक करने के लिये तत्पर रहना चाहिये। उसके लिये संघर्ष या दुराग्रह करना, अपनी गलती को सही बताना और उसके लिये ज़िद करना व्यक्ति के लिये दुःखदायी होता है। समाज में जो व्यक्ति अपनी ग़लती को मानकर उसे सही करने के लिये सदा तैयार रहता है, वह प्रतिष्ठित होता है। यह कार्य व्यक्ति के सौम्य व गुणग्राहकता के स्वभाव को अभिव्यक्त करता है, जो उसके लिये सुखावह रहता है। उसके कार्यों को पसन्द किया जाता है, उनमें कोई बाधा खड़ी होने की आशंका नहीं रहती। व्यक्ति की यह स्थिति 'सुखा' बताई गई है, जो जीवन में उसके लिये अनुकूलताओं का आवाहन करती है ।।४९।।

इन अनुकूलताओं के होने पर भी जीवन में व्यक्ति के लिये कुछ ऐसा रहता है, जिसके विषय में उसकी जिज्ञासा जागृत रहती है। सन्दर्भकार ने उसे 'विविदिषा' के नाम से प्रस्तुत किया—

एकत्वं च पृथक्त्वं च नित्यं चैवमचेतनम्।
सूक्ष्मं सत्कार्यमक्षोभ्यं ज्ञेया विविदिषा च सा ।। ५० ।।

व्यक्ति जिस असीम संसार के बीच अपना जीवन चालू रखता और पूरा करता है, उसके रहस्यों को जानने-समझने की उत्कण्ठा होना स्वाभाविक है। प्राचीन

साक्षात्कृतधर्मा आचार्यों ने उसको समझने का प्रयास किया; जो कुछ समझा उसे बताने में कभी संकोच न किया। आधुनिक साक्षात्कृतधर्मा आचार्य भी उसके रहस्यों को समझने के लिये प्रयासरत हैं, और उसके आश्चर्यजनक चमत्कारपूर्ण रहस्यों को प्रकट करने में पर्याप्त सीमा तक सफल हुए हैं। प्राचीन आचार्यों ने जो समझा, उसे कतिपय पदों द्वारा निम्न प्रकार से प्रकट करने का प्रयास किया है—

'एकत्वम्'—एक होना। वह जिज्ञास्य तत्त्व मूल रूप में एक है। उसकी यह एकता, एकमात्र इकाई के रूप में नहीं, प्रत्युत एकमात्र उपादान-कारण के रूप में है। 'उपादान' पद 'उप-आदान' दो पदों से मिलकर बना है। 'उप' उपसर्ग पद का अर्थ है—समीप; 'आदान' का अर्थ है—लेना=समीप से लेना। तात्पर्य हुआ—वर्तमान में दिखाई देनेवाला यह समस्त संसार जिसमें से लिया गया, वह इसका 'उपादान-कारण' है। उपादान-कारण के रूप में वह तत्त्व एकमात्र है। अन्य कोई तत्त्व अंशमात्र से भी उपादान-कारण की सीमा में नहीं आता। इसी आधार पर उपादान-कारण होने की स्थिति में वह तत्त्व 'स्व-तन्त्र' है। उपादान-कारणता अन्य किसी तत्त्व के अधीन नहीं, केवल उसी के अधीन है, अतः वह अपनी इस स्थिति में 'स्व-तन्त्र' है। यदि उपादान होने के लिये उसे अन्य किसी तत्त्व के सहयोग की अपेक्षा रहती, तो उसका उपादान होना उस अन्य तत्त्व के अधीन हो जाता, क्योंकि तब वह भी उपादान होने का भागी बनता। जिन व्याख्याकारों ने मूल उपादान-तत्त्व की स्व-तन्त्रता को मूल-तत्त्व की प्रवृत्ति में स्वतन्त्र होना समझा, वह संगत प्रतीत नहीं होता; क्योंकि मूल तत्त्व के स्वरूप को प्रस्तुत करनेवाले अन्य 'अचेतन' आदि विशेषण पद इसमें बाधक हैं। इसलिये मूल तत्त्व को उपादानता की अपनी स्थिति में स्व-तन्त्र समझना चाहिये, वह अपनी प्रवृत्ति-परिणति में स्वतन्त्र नहीं है। प्रवृत्ति में वह चेतन तत्त्व के अधीन रहता है।

उपादानता के आधार पर मूल तत्त्व की एकता को उसे स्वरूपतः एक न समझ लिया जाय, इस कारण मूल तत्त्व के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये अन्य विशेषण-पद दिया—

'पृथक्त्वम्'—मूल तत्त्व स्वरूपेण एक-दूसरे से पृथक् हैं। मूल उपादान-कारण तीन प्रकार के तत्त्वों में पूर्ण होता है—सत्त्व, रजस्, तमस्। ये एक-दूसरे से भिन्न-जातीय हैं। विचित्र एवं अनन्तानन्त विभिन्न रूपों में परिणत विश्व अपने मूल कारण-तत्त्वों के विभेद का पोषक है। किसी भी एकमात्र एकजातीय मूल तत्त्व से विचित्र विभिन्नजातीय संसार का होना सम्भव नहीं। उस दशा में वैचित्र्य के कारणों का खोज पाना असम्भव होगा। मूल में विजातीय तीन प्रकार के तत्त्वों के परस्पर सम्मिश्रण, अन्योन्यमिथुनीभाव से विचित्र संसार का परिणत होना बुद्धि-गम्य है। यह एक ऐसा सिद्धान्त है, जो मूल तत्त्व की रहस्यमय पहेली को सरलता से सुलझाने में समर्थ है।

Scanned with CamScanner

यह जान लेने पर कि मूल तत्त्व सत्त्व-रजस्-तमस् के अन्योन्यमिथुनीभाव से यह जगत् परिणत हुआ है, स्वभावतः प्रश्न उभरता है—क्या सत्त्व-रजस्-तमस् भी किसी अन्य मूल तत्त्व का परिणाम हैं? सन्दर्भकार ने अन्य विशेषण देकर समाधान किया—

'नित्यम्'—वे परस्पर पृथक् मूल तत्त्व नित्य हैं। वे किसी अन्य मूल तत्त्व के परिणाम नहीं हैं। वे स्वयं मूल तत्त्व हैं। यदि किसी अन्य मूल तत्त्व के परिणाम होते, तो इनका मूलतत्त्व होना सम्भव न था। तब वही तत्त्व मूल तत्त्व होता, जिसके ये परिणाम होते।

सत्त्वादि त्रिगुण मूल तत्त्वों से अतिरिक्त तत्त्व का एक प्रकार और रहता है, जिसका स्वरूप चेतन है। सत्त्व आदि को उसका परिणाम न समझ लिया जाय, इस कारण सन्दर्भकार ने उपादान-मूलतत्त्व का अन्य विशेषण दिया—

'अचेतनम्'—सत्त्वादि त्रिगुण जगत् के मूल उपादान-तत्त्व अचेतन हैं, चेतन से सर्वथा विजातीय तत्त्व हैं। यदि ये चेतन का परिणाम होते, तो इनका अचेतन होना सम्भव न था। जगत् सत्त्वादि त्रिगुण का परिणाम है, इसी कारण सत्त्वरजस्-तमोरूप है, त्रिगुणात्मक है। मूल तत्त्व परिणत होकर अपने स्वरूप का परित्याग नहीं करता। यदि सत्त्व आदि तत्त्व चेतन का परिणाम होते, तो चेतन स्वरूप का परित्याग न करने के कारण सत्त्व आदि भी चेतन होते। पर ऐसा नहीं है। अतः अचेतन सत्त्व आदि चेतन का परिणाम नहीं। वस्तुतः चेतन अपरिणामी तत्त्व है। उसमें परिणाम की कल्पना ही निराधार है।

सत्त्व आदि त्रिगुण के परिणाम जगत् को हम स्थूल रूप में देखते हैं; सन्देह हो सकता है—क्या स्थूल जगत् के मूल उपादानतत्त्व—सत्त्व आदि त्रिगुण भी स्थूल हैं? सन्दर्भकार ने मूल तत्त्व का अन्य विशेषण—

'सूक्ष्मम्' देकर समाधान किया, मूल तत्त्व सूक्ष्म हैं। स्थूल तत्त्व निश्चित ही किन्हीं कारणों से बनता है; बननेवाला तत्त्व स्थूल हुआ करता है। यदि मूल तत्त्व स्थूल होता, तो वह मूल तत्त्व नहीं हो सकता था। वह तो किन्हीं अन्य कारण-तत्त्वों से उत्पन्न हुआ रहता। मूल तत्त्व कभी किसी अन्य कारण-तत्त्व से उत्पन्न हुआ नहीं रहता, अतः वह स्थूल न होकर सूक्ष्म होता है। प्रत्येक कार्यतत्त्व कारण-तत्त्व की अपेक्षा स्थूल होता है; इसलिये मूल उपादानकारण-तत्त्व समस्त कार्य-तत्त्वों की अपेक्षा सूक्ष्म हैं। ये स्वयं किसी का परिणाम नहीं, परन्तु समस्त जड़ जगत् इनका परिणाम है[१]। मूल उपादान-तत्त्व सूक्ष्म हैं, चेतन-तत्त्व भी सूक्ष्म हैं,

१. वस्तुतत्त्व स्वरूपतः परिणत नहीं होता। वस्तुधर्मी सदा स्वरूप में बना रहता है; वहाँ धर्म, लक्षण व अवस्था में परिणाम होता है। इसका विस्तृत विवेचन पातञ्जल योगदर्शन-सूत्र (३.१३) के विद्योदय-भाष्य में किया गया है। वहाँ देखना उपयुक्त होगा।

परन्तु चेतन-तत्त्व की सूक्ष्मता निरपेक्ष है, क्योंकि वह उपादान-तत्त्व की श्रेणी में नहीं आता। चेतन-तत्त्व न स्वयं किसी का परिणाम है, न उसका आगे कोई परिणाम है, इसलिये उसकी सूक्ष्मता व विभुता निरपेक्ष होती है।

मूल उपादान-तत्त्व की अन्य विशेषता बताई—

'सत्कार्यम्'—मूल उपादान-तत्त्व अपने में विद्यमान अन्तर्हित कार्य को ही परिणाम के रूप में अभिव्यक्त करता है। जितनी अनन्तानन्त आकृतियाँ विश्व के रूप में अभिव्यक्त हैं, वे सब मूल उपादान में अन्तर्हित रहती हैं। कोई नया वस्तु-तत्त्व मूल उपादान से अतिरिक्त—अधिक उभर आता हो, ऐसा कभी नहीं होता; और न ऐसा कभी होता है कि मूल उपादान-तत्त्व का कुछ भाग सदा के लिये नष्ट हो जाय, अथवा न्यून हो जाय। मूल उपादान-तत्त्व अपनी वस्तु-सत्ता से न कभी अधिक होता है, न न्यून। वह जितना है, उतना ही सदा—अनादि-अनन्त काल तक बना रहता है। मूल उपादान-तत्त्व की इसी वास्तविकता को सन्दर्भकार ने अन्तिम विशेषण से स्पष्ट किया—

'अक्षोभ्यम्'—वह मूल तत्त्व अक्षोभ्य है; जितना है, सदा उतना ही रहता है; उसका न्यूनाधिकता के रूप में कभी कोई क्षोभ=विचलन नहीं होता। सम-विषम अथवा सर्ग-प्रतिसर्ग के रूप में परिणाम-गति सदा चालू रहते भी मूल तत्त्व का अनादि काल से जितना पारिमाणिक अस्तित्व है, वह सदा एक-समान रहता है।

जीवन के सब कार्यों को यथायथ सम्पन्न करते हुए इस तत्त्व की यथार्थ जानकारी की कामना, उसे जानने का प्रयास तथा उसके अनुरूप ज्ञान की प्राप्ति और उसके परिणामस्वरूप अभ्युदय के उच्च शिखर तक पहुँचने का मार्ग प्रशस्त होता है। इसी को लक्ष्य कर सन्दर्भकार ने जीवन का पूरा कार्यक्रम धृति, श्रद्धा, सुखा, विविदिषा के रूप में गत सन्दर्भों द्वारा प्रस्तुत किया है ।।५०।।

अब जीवन के चिह्न प्राण के विषय में सन्दर्भकार ने बताया—

प्राणोऽपानः समानश्च, उदानो व्यान एव च।
इत्येते वायवः पञ्च शरीरेषु शरीरिणाम् ।। ५१ ।।

प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान, ये पाँच प्राण के भेद हैं। इनमें स्वयं एक भेद का नाम प्राण है। यह ऐसा ही है, जैसे योग के आठ अंग हैं। योग का पर्याय-वाचक पद समाधि है; पर योग (समाधि) के उन आठ अंगों में स्वयं समाधि एक अंग है। भारतीय वाङ्मय में प्राणतत्त्व का अति विस्तार के साथ विवेचन प्रस्तुत हुआ उपलब्ध होता है। आयुर्वेद, धर्मशास्त्र (समाजशास्त्र), सामान्य दर्शनशास्त्र तथा विशेष रूप से सांख्य-योग में इस तत्त्व का तलस्पर्शी विवेचन है।

उपनिषदों में अनेकत्र[१] 'प्राण' पद परब्रह्म परमात्मा के अर्थ में प्रयोग किया गया है, ऐसा निर्णय वेदान्त—ब्रह्मसूत्रों (१।१।२३, तथा १।१।२८) में किया गया उपलब्ध होता है। 'प्राण' पद का ब्रह्मपरक प्रयोग वेद-संहिताओं में भी अत्यल्प उपलब्ध[२] होता है। ऋग्वेद में 'प्राण' तथा इसके समान अर्थ को अभिव्यक्त करने-वाले इन पदों का प्रयोग हुआ है—'प्राणः,[३] प्राणतः,[४] प्राणनम्,[५] प्राणम्,[६] प्राणात्,[७] प्राणिति[८]'। इन सभी प्रसंगों में इस इस पद के परब्रह्म परमात्मा अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये कोई चिह्न उपलब्ध नहीं हैं। इसके विपरीत सर्वत्र देह-सम्बन्धी जीवन के लिये इन पदों का प्रयोग हुआ है, ऐसा स्पष्ट जाना जाता है। यह भी ध्यान देने की बात है—ऋग्वेद में 'प्राण' पद के अतिरिक्त प्राण के अन्य अपान, उदान, समान, व्यान आदि भेदों का कहीं उल्लेख नहीं है।

यजुर्वेद में 'प्राण' पद का अनेक विभक्ति एवं अनेक वचनों में प्रयोग हुआ है; कदाचित् ही कोई ऐसा स्थल होगा, जहाँ प्राण पद के साथ उसके भेद अपान-उदान-व्यान आदि का उल्लेख न हुआ हो। प्रायः सर्वत्र प्राण के साथ उसके अन्य कतिपय भेदों का उल्लेख उपलब्ध होता है। एक स्थल (२२.३३) में तो पाँचों प्राण-भेदों का निर्देश है। यह भी ध्यान देने की बात है—यजुर्वेद में जहाँ प्राणों का निर्देश हुआ है, वहाँ प्रायः सर्वत्र कतिपय इन्द्रियों—चक्षुः, श्रोत्र आदि का उल्लेख भी हुआ है। इससे प्राण और इन्द्रियों का परस्पर सम्बन्ध ज्ञात होता है। ऐसे प्रसंगों में पर-ब्रह्म परमात्मा का वाचक 'प्राण' पद हो, यह प्रश्न ही नहीं उठता।

अथर्ववेद के एक स्थल (११।४।१) में 'प्राण' पद का प्रयोग परब्रह्म परमात्मा के लिए हुआ है, यह स्पष्ट है। मन्त्र है—

---

१. द्रष्टव्य—छा० १।११।४-५।। तथा ६।८।२।। बृ० ४।४।१८।। कौषीतकि-ब्राह्मणोपनिषद्, ३।१।३।। तथा ३।८।।

२. द्रष्टव्य—अथर्व०, काण्ड ११, सूक्त ४।

३. १।६६।१।।३।४३।२१।।

४. १।१०१।५।।१०।१२१।३।।
यजु० २२।३३ में पाँचों प्राणों का उल्लेख,
अथर्व० ११।४ में 'प्राण' पद परमात्मा अर्थ में

५. ऋ० १।४८।१०।।

६. १०।५९।६।।

७. १०।९०।१३।।१०।१८९।२।।

८. १०।१२५।४।।

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे ।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥१॥
प्राणः प्रजा अनु वस्ते पिता पुत्रमिव प्रियम् ।
प्राणो ह सर्वस्येश्वरो यच्च प्राणति यच्च न ॥१०॥

प्राण के लिए नमस्कार है, जिसके वश में यह सब जगत् है। जो सबका ईश्वर, अध्यक्ष निश्चित है, जिसमें समस्त विश्व अवस्थित है।

प्राण—परब्रह्म परमात्मा सब प्रजाओं को अपनी छाया में सुरक्षित रक्खे हुए है, जैसे प्यारे पुत्र को पिता रखता है। निश्चित ही प्राण चेतन और जड़ जगत् सबका ईश्वर—अधिष्ठाता—अध्यक्ष है।

इन मन्त्रों में अनेक स्पष्ट लिंग विद्यमान हैं, जिनसे 'प्राण' पद परब्रह्म परमात्मा के लिए प्रयुक्त हुआ निश्चित होता है। इस प्रकार कतिपय अन्य प्रसंग भी ऐसे सम्भव हैं, जहाँ उक्त पद परब्रह्म के लिए प्रयुक्त हुआ हो। इस तथ्य को प्राय: सभी लोककर्त्ता आचार्यों ने स्वीकार किया है। परन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं होता कि यह पद सर्वत्र ब्रह्म अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है, और अपने मूलभूत अर्थ को खो बैठा है। शरीरवर्त्ती क्रियात्मक वायु के लिए इस पद का प्रयोग जैसे लोकप्रसिद्ध है, उसी प्रकार वैदिक वाङ्मय में इसका प्रयोग-बाहुल्य देखा जाता है जिसका संकेत गत पंक्तियों में कर दिया गया है। अथर्ववेद के उक्त प्रसंग को यदि शारीर प्राणों के विषय में औपचारिक रूप से संयोजित किया जाय, तो कोई विशेष बाधा प्रतीत नहीं होती; फिर भी परब्रह्म के लिए इस पद का प्रयोग सर्वथा उपयुक्त है।

कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास, अपर नामधारी बादरायण ने जैसे वेदान्तदर्शन के प्रारम्भिक (१।१।२३॥१।१।२८) सूत्रों द्वारा कतिपय शास्त्रीय प्रसंगों में उक्त पद को ब्रह्म के लिए प्रयुक्त बताया है, वैसे ही द्वितीय अध्याय के चतुर्थ पाद के प्रारंभ से ही 'तथा प्राणा:' आदि अनेक सूत्रों द्वारा वृत्तिरूप पंचप्राणों के विषय में विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है।

द्वितीय अध्याय के तृतीय पाद में भूतों की उत्पत्ति का कथन कर, चतुर्थ पाद में प्राणों की उत्पत्ति तथा उनकी अन्य विशेषताओं का यथापेक्षित वर्णन है। इससे स्पष्ट है, प्राण का यह वर्णन ब्रह्म-विषयक नहीं है; क्योंकि ब्रह्म की उत्पत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। अब जानना आवश्यक हो जाता है कि ये प्राण क्या हैं? वस्तुत: प्राण का मुख्य अर्थ शरीर के अन्तर्वर्त्ती वायु और विभिन्न स्थानों पर उसकी विशिष्ट क्रियाओं के आधार पर उसका स्वरूप है। वह स्वरूप स्थानभेद से पाँच नामों में जाना जाता है—प्राण, अपान, उदान, समान, व्यान। दार्शनिक परिभाषा में इन्हें वृत्ति अथवा व्यापार (फंक्शन) कहा जाता है। प्रश्न उठता है, किसकी वृत्ति? अथवा किसका व्यापार? क्योंकि वृत्ति या व्यापार क्रियात्मक है,

Scanned with CamScanner

वह किसी वस्तुतत्त्व का हो सकता है। आचार्यों ने बताया, यह वृत्ति या व्यापार करणों का है। यह समस्त करणों का मिलित सामान्य व्यापार है,[1] प्रत्येक करण का विशेष व्यापार अपना अलग-अलग है।

करणों की संख्या तेरह है--बुद्धि, अहंकार, आन्तर इन्द्रिय मन, बाह्य ज्ञानेंद्रिय पाँच—श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसन, घ्राण; बाह्य कर्मेन्द्रिय पाँच—वाक्, हस्त, पाद, पायु, उपस्थ। इन सब करणों के अपने विशेष व्यापार यथाक्रम इस प्रकार हैं—अध्यवसाय निश्चय करना, अभिमान, मनन-चिन्तन अथवा संकल्प-विकल्प, शब्द सुनना, स्पर्श करना, छूना, देखना, चखना, सूँघना, बोलना, कार्य करना, चलना, मलत्याग, मूत्रत्याग। इन सबका मिलकर साधारण व्यापार—प्राण आदि पाँच वायुगत क्रिया हैं। जब करणों के विशेष व्यापार सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में रुद्ध रहते हैं, तब भी करणों का सामान्य व्यापार बराबर चलता रहता है। श्वास-प्रश्वास-गति, रक्त-संचार, पाचन-क्रिया, अतिरिक्त वायु का अधोमार्ग—अथवा

---

१. सांख्य का सूत्र है—'सामान्या करणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पंच' (२.३१) प्राण आदि पाँच वायुक्रिया समस्त करणों की सामान्य—साधारणवृत्ति है। इस सूत्र को वेदान्तदर्शन के इसी प्रकरण के नवम सूत्र के शांकर भाष्य में इसी पाठ के अनुरूप उद्धृत किया है। समस्त भारत तथा विदेशों में मुद्रित शांकर भाष्य के सभी प्रामाणिक संस्करणों में इसी पाठ को स्वीकार किया है। परन्तु आधुनिक भाषा के संस्करणों में शांकर भाष्य के इस पाठ को कारिका के अनुसार बनाकर अशुद्ध कर दिया है। ईश्वरकृष्ण ने कारिकाओं की रचना के समय—जो सांख्य-सूत्रों के आधार पर बनाई गई हैं—इस सूत्र के प्रथम दो पदों का समास करके आर्या २९ का उत्तरार्द्ध बना दिया। अनन्तर कारिकाओं का पठन-पाठन में अधिक प्रचलन रहा; इसी संस्कार के आधार पर सांख्यसूत्रों के अध्येता व्यक्तियों ने सूत्र का पाठ कारिकानुसार बना डाला। परन्तु शांकर भाष्य में यह सूत्रपाठ अपने वास्तविक रूप में सुरक्षित रहा। पाठ को भ्रष्ट करनेवाले आधुनिक भाषा-संस्करणों में अच्युत ग्रंथमाला कार्यालय, बनारस (=वाराणसी), तथा ब्रह्मचारी विष्णुदत्त हिन्दी-अनुवाद, वेदान्त केसरी कार्यालय, आगरा के संस्करणों का नाम लिया जा सकता है। यह निश्चित है, इन ग्रंथों के सम्पादक व संशोधक महानुभावों ने बाल्यकाल से कारिका के पाठ का अभ्यास होने के कारण इस भाष्य के पाठ को कारिकानुसारी बना दिया। उन्होंने शांकर भाष्य के पाठ के ऐतिहासिक महत्त्व को नहीं समझा। सांख्यदर्शन के मुद्रित पुस्तकों में जो आज इस सूत्र का कारिकानुसारी पाठ मिलता है, वह भी इसी प्रकार भ्रष्ट किया गया है।

डकार आदि के रूप में ऊर्ध्व मार्ग—से बाहर हो जाना आदि क्रियाओं का कभी अवरोध नहीं होता। इसी रूप में यह सब करणों का सामान्य=साधारण व्यापार है। जब तक शरीर के अन्तर्गत करणों का अस्तित्व है, तब तक प्राण-अपान आदि वृत्तियों का प्रवाह निरन्तर निर्बाध चला करता है।

यहाँ तक हमने यह समझने का प्रयास किया है कि प्राण-अपान आदि पाँच वायुक्रिया, तेरह करणों की मिलित साधारण वृत्ति हैं। प्राण आदि वृत्ति हैं, तेरह करण वृत्तिमान् हैं। भारतीय वाङ्मय में 'प्राण' पद से जो तेरह करणों का निर्देश हुआ है, वृत्ति पद से वृत्तिमान् का कथन समझना चाहिए। इस प्रकार के कथन को अशास्त्रीय नहीं समझा जाता। यह भी ध्यान रखना चाहिए, वस्तुतः वायुक्रिया-रूप 'प्राण' एक ही है। क्रिया के स्थानभेद से उदान, समान, अपान, व्यान आदि नाम हैं। इनमें एक प्राथमिक वायुक्रिया का नाम 'प्राण' रहने दिया गया है। देहान्तर्गत वायु के सब क्रियाकलाप इसी एक नाम से व्यवहृत होते रहते हैं। इसी के अनुसार एक 'प्राण' पद बोध्य वृत्ति से वृत्तिमान्—सभी तेरह करणों—का विवरण भारतीय साहित्य में प्रस्तुत किया गया है।

सद्यःजात शिशु के, जब कभी ऐसा होता है कि शरीर की विशिष्ट नस-नाड़ियाँ सहसा सक्रिय नहीं हो पातीं, तथा सक्रिय न होने के कारण आन्तरिक वायु को बाहर फेंकने में अशक्त रहती हैं, तब शिशु के विशेष चिकित्सक व धाय आदि चिन्तित हो जाते हैं; बाह्य उपायों से नस-नाड़ियों को सक्रिय-सचेत करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। अपने प्रयत्न में सफल होने पर उनके चेहरे खिल जाते हैं, और शिशु भी वायु को बाहर फेंकने के साथ रो पड़ता है; चारों ओर खुशी का आलम छा जाता है। वह शिशु का आन्तरिक वायुक्रियारूप पहला 'प्राण' है। आगे क्रम चालू हो जाता है, और जीवन-सरिता का प्रवाह नैरन्तर्य को पकड़ लेता है। समस्त जीवन में इसी 'प्राण' का खेल चलता रहता है। अपने इसी व्यापार में यह सभी तेरह करणों का प्रतीक है।

यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि करण तेरह क्यों? जबकि वैदिक वाङ्मय में कहीं सात,[1] कहीं आठ, कहीं ग्यारह और कहीं बारह का उल्लेख हुआ है। यहाँ

---

१. मुण्डक (२।१।८) में 'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्'। तैत्ति० आर०(१।७।२, ५।४।४) तथा तै० सं० (५।१।७।१) में 'सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः' सात प्राण बताये। बृह० उ० (३।२।१) में आठ तथा अन्यत्र (बृ० ३।६।४) ग्यारह गिनाये। बृहदारण्यक में ही अन्यत्र (२।४।११; ४।५।१२) बारह प्राण बताए, दस बाह्यकरण और मन, बुद्धि दो अन्तःकरण। प्रश्न उपनिषद् (४।८) में तेरह करणों का निर्देश है।

Scanned with CamScanner

समझना यही है कि तेरह के अतिरिक्त सात आदि संख्याओं का जहाँ कहीं भी निर्देश है, वह प्रासंगिक है। उस प्रसंग में जितने करणों का बताना अभीष्ट है, उतने का वहाँ उल्लेख किया गया है। जैसे तैत्तिरीय संहिता या आरण्यक में सात प्राण शीर्षण्य बताये हैं, अर्थात् गर्दन से ऊपर के भाग सिर में सात प्राण हैं—पाँच ज्ञानेन्द्रिय, एक वाक् कर्मेन्द्रिय, एक मन आन्तर इन्द्रिय। यहाँ ग्रीवा से ऊपर के प्राणों की गिनती है, प्राणों की पूर्ण संख्या का निर्धारण नहीं है। इसी प्रकार इन सात में एक कर्मेन्द्रिय हस्त को जोड़कर 'ग्रह' नाम से आठ करण बृहदारण्यक (३।२।१) में बताये हैं। ये आत्मा को ग्रहण करते, पकड़ते-जकड़ते या बन्धन में डालते हैं। दस बाह्य इन्द्रियाँ और एक आन्तर इन्द्रिय मन को लेकर इन्द्रियों की संख्या बताने की भावना से ग्यारह करणों का 'प्राण' पद से बृहदारण्यक (३।६।४) में उल्लेख हुआ है। बृहदारण्यक (२।४।११;४।५।१२) में ही बुद्धि और अहंकार को एक मानकर 'प्राण' पद से बारह करणों का निर्देश है। फलतः पूर्ण रूप में करण तेरह हैं; अन्य संख्या प्रासंगिक हैं। विभिन्न प्रसंगों में किसी विशेष अर्थ को प्रकट करने की भावना से सात आदि संख्याओं का निर्देश हुआ है।

ये तेरह करण एक प्रकार से चेतन आत्मा के मन्त्रिमंडल के समान है। इनमें बुद्धितत्त्व प्रधानमन्त्री है, शेष सब उसके सहयोगी। ये सब आत्मा की प्रेरणा के अनुरूप उसकी सुख-सुविधा अथवा भोग-अपवर्ग की सिद्धि के लिए सदा क्रियाशील रहते हैं। इनका समुदाय सूक्ष्म शरीर के रूप में आत्मा के साथ सदा सम्बद्ध रहता है। यह सम्बन्ध प्रत्येक आदिसर्ग में आत्मा के साथ नये सिरे से जुड़ता तथा आनेवाले प्रलय-पर्यन्त बराबर बना रहता है। सर्गकाल के अन्तराल में यह सम्बन्ध आत्मसाक्षात्कार हो जाने पर टूट जाता है।

आत्मा के इस मन्त्रिमण्डल में प्रधानमन्त्री बुद्धितत्त्व का कार्य महत्त्वपूर्ण है। अन्य किसी मन्त्री का आत्मा के साथ सीधा सम्बन्ध नहीं रहता। प्रत्येक बाह्य इन्द्रियकरण अपने विषय का आहरण कर आन्तर इन्द्रिय मन को सुपुर्द करता है। आगे वह विषय अनिन्द्रिय-करण अहंकार द्वारा बुद्धि को पहुँचता है। वह उसे आत्मा को समर्पित कर देता है। यह सब सुनियोजित क्रम द्वारा (=थ्रू प्रॉपर चैनल (Through proper channel) चला करता है। इसमें कभी व्यक्तिक्रम आने का भय व आशंका नहीं रहते। वेदान्तदर्शन के प्रस्तुत प्रकरण में विस्तार व ऊहापोहपूर्वक यही स्पष्ट किया गया है कि 'प्राण' पद से जाने गए इन तेरह करणों

Scanned with CamScanner

में बुद्धितत्त्व मुख्य प्राण है; शेष उसके सहयोगी रहते हैं।[1]

बुद्धितत्त्व मुख्य प्राण है, इसको स्पष्ट करने के लिए प्रश्न उपनिषद् (२ प्रश्न) में एक रोचक उपाख्यान प्रस्तुत किया है। वैदर्भि (विदर्भ देश के निवासी) भार्गव ने महर्षि पिप्पलाद से प्रश्न किया—इस शरीर को कौन-से देव धारण किये हुए हैं? ऋषि ने उपाख्यान सुनाया—एक बार शरीरवर्त्ती प्राणों में यह विवाद उठ खड़ा हुआ कि हममें कौन श्रेष्ठ है, और किसने इस शरीर को थाम रक्खा है? प्रत्येक प्राण अपने को श्रेष्ठ और शरीर का धर्त्ता बताने पर आग्रही रहा। तब यह निर्णय लिया गया कि प्रत्येक प्राण एक वर्ष के लिए अपना कार्य छोड़ दे; और देखे कि उसके बिना शरीर रहता है, या नष्ट हो जाता है। चक्षु, घ्राण, रसन आदि सभी प्राणों ने एक-एक वर्ष कार्य छोड़कर देखा, पर उनके कार्य के बिना भी अंधा, बहरा, लँगड़ा आदि के रूप में शरीर चलता रहा, परन्तु जब बुद्धितत्त्व =मुख्य प्राण समस्त सूक्ष्म शरीर के साथ जाने लगा तो सभी प्राण घबड़ा गए; मुख्य प्राण के साथ शरीर छोड़ने के लिए बाध्य हो गए। बुद्धितत्त्व सब प्राणों में वरिष्ठ है।

इसी भाव को बृहदारण्यक (६।१।१३) में अधिक स्पष्ट रूप में बताया है। वहाँ लिखा है—जैसे एक सिन्धु देश का महाप्राण घोड़ा पिछाड़ी खूँटियों में बँधा रहता है; जब बलपूर्वक झटका देकर वहाँ से चल पड़ता है, तो बँधी पिछाड़ी के साथ सब खूँटियाँ उखड़कर पीछे घिसटती चलती हैं; ऐसे ही मुख्य प्राण के शरीर से निकलने पर अन्य सब प्राण अनुगामी के समान साथ ही निकल जाते हैं।

इसी प्राण (शरीरवर्त्ती वायुक्रियारूप) की कसरत को योगशास्त्र में 'प्राणायाम' नाम से योग का अंग माना है। आत्म-साक्षात्कार में प्राणायाम का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मानवधर्मशास्त्र (२।८८--१००) का प्रसंग भी इस विषय में मननीय एवं आचरणीय है। इन्द्रियरूप में ये प्राण सुमार्ग और कुमार्ग दोनों पर ले-जाने में समर्थ होते हैं। परन्तु स्वभावतः इन प्राणों की रचना बहिर्मुख हुई है। इनका झुकाव वाह्य विषयों की ओर अधिक रहता है (कठ० २।१)। उनपर सपाट दौड़ते हुए ये प्राण सरलता से कुमार्ग की ओर झुक जाते हैं। इन्द्रियों के विषयासक्त होने पर व्यक्ति जाने-अनजाने उन बुराइयों में डूब जाता है, जो जीवन के लिए विषतुल्य हैं। इसलिए इन्द्रियरूप इन घोड़ों को छुट्टू न बनाकर संयम में रखना अत्यावश्यक

---

१. वेदान्तदर्शन के 'प्राण'-विषयक विवेचन का सारभूत अंश उक्त पंक्तियों द्वारा निर्दिष्ट किया है। जो पाठक विस्तार के साथ इस प्रसंग को जानना चाहें, वे संस्थान से प्रकाशित 'ब्रह्मसूत्र विद्योदयभाष्य' अथवा अन्य किसी भी भाष्य के आधार पर जान सकते हैं।

Scanned with CamScanner

है। इनके संयम का सर्वोच्च साधन स्वतः इनकी कसरत है, अर्थात् इन प्राणों के आयाम का विधिवत् अनुष्ठान। मनु ने अन्यत्र (६.७१) बताया है—

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥

जैसे अग्नि में तपाये जाने से धातुओं (सोने, चाँदी आदि) के मल दग्ध हो जाते हैं, इसी प्रकार प्राणायाम के नियमित अनुष्ठान से इन्द्रियों के सब दोष नष्ट हो जाते हैं। वस्तुतः 'प्राण' इन्द्रियों—करणों का ही तो साधारण व्यापार है; उस व्यापार को उसी की कसरत से काबू करना है। प्राणों की दुनिया में प्राणायाम का प्रभाव है; इसकी साधना सब प्राणों-इन्द्रियों-करणों को नियमित व्यवस्थित रखती है।

प्राण-सम्बन्धी इन्हीं सब विवरणों को हृदयंगम कर सन्दर्भकार ने प्रस्तुत सन्दर्भ द्वारा बताया– सभी शरीरों में अनिवार्य रूप से विद्यमान ये वायुक्रियारूप पाँच प्राण अपने प्रयोजक करणों को प्रस्तुत करते हुए संसार के संचालन में महत्त्वपूर्ण योग प्रदान कर रहे हैं।

अध्यात्म-मार्ग पर चलने की दिशा में आचार्यों ने समस्त शरीर की स्थिति का पाँच कोशों के रूप में वर्णन किया है—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय। कोश पद का अर्थ 'आवेष्टन' है अर्थात् खोल। इन खोलों में आवेष्टित जीवात्मा अपनी आरम्भिक अवस्था से परमोच्च अवस्था तक वर्णित हुआ है। 'अन्नमय' कोश स्थूल शरीर है, जो जीवात्मा का बाह्य आवरण है। आगे 'प्राणमय' 'मनोमय' कोशों में करणों के व्यापार प्राण-अपान आदि तथा समस्त करणों का सन्निवेश है। शास्त्रों में इस आवरण को 'सूक्ष्म शरीर' कहा गया है। इन्हीं शरीरों में आवृत आत्मा जब समाधि आदि द्वारा अपना साक्षात्कार कर लेता है, वह जीवन्मुक्त अवस्था 'विज्ञानमय' कोश है। इस अवस्था तक स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर अर्थात् सब करण और उनके व्यापार प्राण-अपान आदि बराबर बने रहते हैं। देह आदि छूट जाने पर अन्तिम कोश 'आनन्दमय' है, जो जीवात्मा की मोक्ष अवस्था है।

दूसरे कोश का नाम करणों के व्यापार के आधार पर रक्खा गया है। यह वायुक्रियारूप प्राण-व्यापार शरीर के किन स्थानविशेषों में होने से भिन्न नाम पा जाता है, इस विषय में आचार्यों ने बताया—'प्राण' नाम उस वायुक्रिया का है जो भीतर से बाहर जाता है। 'अपान' वह है, जो बाहर से भीतर आता है। 'समान' वह है, जो नाभिस्थ होकर सब शरीर में रस पहुँचाता है, रक्तसंचार आदि में सहायक होता है। 'उदान' वह है, जिससे मुखस्थित अन्न-जल आदि अन्दर खींचा जाता, तथा विकृत अन्न, जल, वायु आदि वमन व डकार-उद्गार आदि के रूप में

Scanned with CamScanner

बाहर धकेल दिया जाता है। 'व्यान' वह है, जिससे सब शरीर में चेष्टा, क्रिया आदि होती हैं।

यह विवेचन यौगिक क्रियाओं में प्राणों के उपयोग के आधार पर है। इसलिए श्वास-प्रश्वास को प्राण-अपान के रूप में बताया है। इनमें प्रश्वास प्राण तथा श्वास अपान है। प्राणायाम तथा प्रणव-जप आदि यौगिक क्रियाओं में इनका उपयोग अनुभवी आचार्यों ने उपपादित किया है। अन्य विद्वानों के विचारानुसार श्वास-प्रश्वास दोनों 'प्राण' पद से गृहीत हो जाते हैं। 'अपान' पद अधोमार्ग से प्रसृत होनेवाले वायु के लिए प्रयुक्त किया जाता है। यौगिक क्रियाओं में इसका कोई उपयोग न होने से उस वर्ग के अनुष्ठाता आचार्यों ने इसकी उपेक्षा की है ॥५१॥

संख्या पच्चीस से सत्ताईस तक के सन्दर्भों में पचास प्रत्ययसर्गों का विवरण किया गया है। प्रत्ययसर्ग का यह निर्देशन आध्यात्मिक दृष्टि से किया जाता है। आधिभौतिक दृष्टि से प्रतिपादित पच्चीस तत्त्वों को भावात्मक रूप देकर प्रत्यय-सर्ग के साथ इनका सामंजस्य आचार्यों ने स्थापित किया है। पच्चीस तत्त्व वस्तु-रूप हैं, जबकि प्रत्ययसर्ग के पदार्थ केवल भावात्मक हैं। ऐसी दशा में इनका पारस्परिक सामंजस्य सर्गरचना की गणना को लक्ष्य कर दुरूह, अकल्पनीय रहता। आध्यात्मिक मार्ग की ओर प्रवृत्ति की दशा में जो अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियाँ आती हैं, उन्हीं का विवरण पचास प्रत्ययसर्ग के रूप में किया गया है। ये परिस्थितियाँ वस्तुतत्त्वरूप न होकर केवल किसी वस्तु के भाव अथवा धर्म-रूप हैं। वस्तुभूत तात्त्विक दृष्टि से वर्णित पच्चीस पदार्थों का—प्रत्ययसर्ग-वर्णित पदार्थों के साथ सामंजस्य के लिए—भावात्मक रूप में प्रस्तुत किया जाना आवश्यक है। अन्यथा, प्रत्ययसर्ग के रूप में आध्यात्मिक दृष्टि से पदार्थवर्णन अपूर्ण रह जाता है।

वस्तुतत्त्वरूप में मूलभूत पदार्थ केवल दो हैं, प्रकृति और पुरुष। पच्चीस में से शेष तेईस प्रकृति के विकार व परिणाम हैं। अशक्ति रूप से उनका विनियोग प्रत्ययसर्ग में एक प्रकार हो जाता है। इसलिए मूलभूत पदार्थ प्रकृति-पुरुष के कतिपय भावात्मक धर्म चुन लिये गए, जिनकी संख्या दस है। पचास प्रत्ययसर्ग के साथ इन्हें मिलाकर आध्यात्मिक दृष्टि से सांख्य में साठ पदार्थों का विवरण प्रस्तुत किया जाता है। सन्दर्भकार ने उन दस मौलिक पदार्थों को निम्नांकित उपजाति पद्य द्वारा प्रस्तुत किया—

अस्तित्वमेकत्वमथार्थवत्त्वम्,
पारार्थ्यमन्यत्वमकर्तृता च।

योगो वियोगो बहवः पुमांसः,
स्थितिः शरीरस्य च शेषवृत्तिः ॥ ५२ ॥[१]

पद-विभाग—अस्तित्वम्, एकत्वम्, अथ-अर्थवत्त्वम्,[२] पारार्थम्,[३] अन्यत्वम्, अकर्त्तृता[४] च। योगः, वियोगः, बहवः पुमांसः, स्थितिः शरीरस्य (च) शेषवृत्तिः।[५]

अस्तित्व, एकत्व, अर्थवत्त्व, पारार्थ्य, अन्यत्व, अकर्त्तृता, योग, वियोग, पुरुषबहुत्व, शेषवृत्ति शरीरस्थिति, ये दस मौलिक[६] अर्थ हैं। ये अर्थ प्रकृति और

---

१. यह पद्य निम्नांकित स्थलों में उद्धृत है—
(क) याज्ञवल्क्य स्मृति, प्रायश्चित्ताध्याय, श्लोक १०९ पर, राजा अपरादित्य विरचित, अपरार्का नामक व्याख्या में देवल नाम से उद्धृत सन्दर्भों के मध्य।
(ख) सांख्यसप्ततिव्याख्या, माठर वृत्ति, कारिका ७२ पर।
(ग) सांख्यसप्तति की प्राचीन व्याख्या (माठर) के चीनी अनुवाद के पुनः संस्कृत-रूपान्तर में, आर्या ७२ पर। यह चीनी से संस्कृत-रूपान्तर एन्० अय्यास्वामी शास्त्री ने किया, तथा 'सुवर्ण सप्तति शास्त्र' नाम से ई० सन् १९४४ में तिरुपति से प्रकाशित।
(घ) सांख्यसप्ततिव्याख्या, जयमंगला, कारिका ५१ पर।
(ङ) तत्त्वसमाससूत्र व्याख्या, सांख्यतत्त्वविवेचन, षिमानन्द कृत सूत्र १६ पर।
(च) तत्त्वसमाससूत्रव्याख्या, तत्त्वयाथार्थ्यदीपन, भावागशेश विरचित, 'दश-मूलिकार्थाः' सूत्र पर, पृष्ठ ८०।
(छ) तत्त्वसमाससूत्रवृत्ति, क्रमदीपिका, अज्ञातकर्त्तृक, पृष्ठ १३५ पर। संख्या ५ से ७ तक की व्याख्या चौखम्बा संस्कृत सीरीज से सन् १९२० में 'सांख्य-संग्रह' नाम से प्रकाशित है। इसके पृष्ठ उसी में देखने चाहिएँ।

२. 'अर्थवत्त्वे', सांख्यतत्त्वविवेचन।

३. 'परार्थम्', तत्त्वयाथार्थ्यदीपन, क्रमदीपिका।

४. 'अथो निवृत्तिः' माठर, चीनी अनुवाद। 'अकर्त्तृकत्वम्' सांख्यतत्त्वविवेचन। 'अकर्त्तृभावः' जयमंगला।

५. '० स्य विशेषवृत्तिः' माठर, चीनी अनुवाद।

६. इस पद का सर्वत्र 'मूलिकार्थाः' अथवा 'मौलिकार्थाः' पाठ उपलब्ध होता है। पद का अर्थ करते हुए भावागणेश ने तत्त्वयाथार्थ्यदीपन में लिखा है—'मूलयोः प्रकृतिपुरुषयोरर्था धर्मा मूलिकार्थाः।' मूलभूत प्रकृतिपुरुष के अर्थ अर्थात् धर्म होने से 'अस्तित्व' आदि 'मूलिकार्थ' कहे जाते हैं। इसके आगे स्वार्थ में 'अण्' प्रत्यय करने पर 'मौलिकार्थ' रूप होगा। परन्तु डॉ० रामचन्द्र पाण्डेय द्वारा सम्पादित, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली संस्करण के 'युक्ति-दीपिका' ग्रन्थ में प्रथम पृष्ठ पर 'चूलिकार्थाः' (श्लोकः ११) पाठ दिया है। उसी टिप्पणी में 'मूलिकार्थाः' है, जबकि युक्तिदीपिका के कलकत्ता संस्करण में इस स्थल पर 'मूलिकार्थाः' पाठ है। 'चूलिका' चोटी या मुर्गे की कलगी को कहते हैं। प्रकृत में अर्थ होगा—ये चोटी के अर्थ हैं, अर्थात् मूर्द्धन्य अर्थ हैं।

पुरुष को लक्ष्य कर उनके धर्म-रूप में चुने गए हैं। इनमें एकत्व, अर्थवत्त्व, पारार्थ्य प्रकृति के धर्म कहे गए हैं, अन्यत्व, अकर्तृता, बहुत्व पुरुष के तथा अस्तित्व, योग, वियोग दोनों के। दसवाँ शेषवृत्ति शरीर-स्थिति जीवन्मुक्त के विषय में है। प्रत्येक का विवरण निम्न प्रकार समझना चाहिए—

प्रकृति का एकत्व—प्रकृति की एकता कार्यमात्र जगत् के उपादान-कारणरूप में मानी गई है। प्रकृति के अतिरिक्त अन्य कोई तत्त्व कार्यजगत् का उपादान-कारण सम्भव नहीं। केवल एकमात्र प्रकृति उपादान-कारण है, इसकी एकता का यही मुख्य आधार है। यह सब कार्यों का ऐसा उपादान-कारण है, जिसका अन्य कोई उपादान-कारण नहीं, इसलिए यही सबका एकमात्र उपादान-कारण है। प्रकृति की व्यक्तिगत एकता इसी आधार पर स्वीकार की जाती है। किसी मूल कारण के कार्य तो अनेक हो सकते हैं, पर मूल कारण एक ही रहेगा। यदि उसमें अनेकता कही जाए, तो उसके मूलभूत कारण की खोज करनी पड़ेगी, जो अन्ततः एक होगा, वही उपादान-कारण सम्भव होगा। इसी भाव को सांख्य-दर्शन के सूत्र (१.१२४) में, तथा ईश्वरकृष्णीय 'सांख्य सप्तति' की एक आर्या (१०) में प्रकारान्तर से अभिव्यक्त किया गया है।

वस्तुतः स्वरूप से प्रकृति को एक व्यक्तिरूप कहना शास्त्रीय न होगा। प्रकृति सत्त्वरजस्तमोरूप है। सत्त्व-रजस्-तमस् एक-दूसरे से स्वरूपेण सर्वथा भिन्न तत्त्व हैं। सत्त्व आदि तत्त्व अपने रूप हैं, अनन्त हैं—अनन्त सत्त्व, अनन्त रजस् आदि। परन्तु कार्यमात्र के प्रति इनकी उपादानता इनको एक सूत्र में बाँधती है। सत्त्व-रजस्तमोमयी प्रकृति उपादानता की सीमा में अन्य किसी का प्रवेश सहन नहीं करती। यही उसकी एकता का मूलभूत प्रयोजक है।

प्रकृति की अर्थवत्ता—'अर्थ' पद का तात्पर्य है—प्रयोजन, फल, कार्य, लाभ इत्यादि। यद्यपि यह पद विविध प्रकार से अनेक भावनाओं को अभिव्यक्त करने में प्रयुक्त होता है, पर यहाँ इसका प्रयोग उन्हीं भावों को प्रकट करता है जो पूर्वोक्त पदों से जाने जाते हैं। प्रकृति अर्थवती है—तात्पर्य हुआ, प्रकृति प्रयोजनवाली है, इसका कुछ प्रयोजन है, इससे कुछ कार्य का होना, इससे लाभ मिलना है, यह कतिपय कार्यों-फलों को प्रकट करती है। प्रकृति सत्त्व-रजस्-तमस्रूप है। सत्त्व प्रीतिरूप, रजस् अप्रीतिरूप तथा तमस् विषादरूप फल या कार्य को प्रकट करता है। ये यथाक्रम सुख-दुःख-मोह का रूप हैं। प्रकृति का यही प्रयोजन है, यह भोग के रूप में सामने आता है। प्रकृति भोग और अपवर्गरूप फलों को पुरुष के लिए प्रस्तुत करती है, यही प्रकृति का प्रयोजन है। प्रकृति की इस अर्थवत्ता को सांख्य-दर्शन (१.१२७) तथा सांख्यसप्तति (१२) में स्पष्ट किया गया है।

प्रकृति का पारार्थ्य—गत पंक्तियों में कहा गया है, प्रकृति प्रयोजनवती है। प्रयोजन हैं—भोग, अपवर्ग। भोगानुभूति आदि पुरुष को होती है। अनुभूति चेतन-

तत्त्व का स्वरूप है, अत: उसका चेतन आत्मा को होना वास्तविक है, संगत है। चेतन आत्मा प्रकृति से 'पर' है, अन्य है। अपने से 'पर' के लिए, 'अन्य' के लिए अर्थ-भोगादि प्रयोजन प्रस्तुत करने के कारण प्रकृति का पारार्थ्य—परार्थ होना, पर-प्रयोजन को सिद्ध करना स्पष्ट होता है।

यद्यपि सांख्य के व्याख्या-ग्रन्थों में भोग-अपवर्ग प्रकृति के बताए हैं (सांख्य-सप्तति, आर्या ६२), पर इस प्रकार के समस्त वर्णन औपचारिक हैं। जड़ प्रकृति का वास्तविक भोग अपवर्ग होना असम्भव है। जिस रीति पर व्याख्याकारों ने इस भाव को अभिव्यक्त किया है, यदि उसको वास्तविक माना जाता है, तो 'परार्थता' धर्म प्रकृति का घोषित करना मिथ्या हो जाता है। प्रकृति के भोग-सम्पादन के लिए प्रकृति के कार्य (प्राकृत) बुद्धितत्त्व को पुरुष-सान्निध्य अथवा पुरुषच्छाया से चेतन-जैसा बनाया जाता है, तब वह सुख-दुःख आदि को भोगता है। इस विचार में पुरुष-प्रकृति के भोगरूप प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए उसे चेतन-जैसा बनाने में परार्थ हो जाता है। यह तो प्रकृति की 'परार्थता' का शीर्षासन हो गया। अब प्रकृति परार्थ न रही, पुरुष परार्थ हो गया।

इस विचार को व्याख्याकार बड़े बलपूर्वक लिखते हैं, पर इसकी औपचारिकता इसी के अन्दर से झाँकती रहती है। बुद्धितत्त्व को इन विचारकों ने भी कभी चेतन नहीं कहा, 'चेतन-जैसा' कहा है। यह कथन ही इसको वास्तविकता के आसन से धकेलकर इसकी औपचारिकता को स्पष्ट कर रहा है। जहाँ प्रकृति की 'परार्थता' को 'स्वार्थ' के रूप में अभिव्यक्त किया है, वहाँ स्वार्थ के साथ 'इव' पद लगा हुआ है,[1] जो प्रकृति के लिए स्वार्थकथन की औपचारिकता को नंगा कर रहा है। मालिक की इच्छानुसार किसी अनुचर ने घड़ा उठाकर दूसरी जगह रख दिया। इसे दो प्रकार से कहा जा सकता है—१. घड़ा उठाकर रख दिया है; २. घड़ा अपनी जगह से उठ गया है, चिन्ता न करें। इसमें दूसरा वाक्य औपचारिक है। इसी प्रकार प्रकृति का कथन औपचारिक भोग है। फलतः प्रकृति का परार्थता-धर्म स्पष्ट होता है।

---

१. इत्येष प्रकृतिकृतो महदादिविशेषभूतपर्यन्तः।
प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः॥ —सांख्य सप्तति, ५६,

महत्तत्त्व से लेकर स्थूलभूत-पर्यन्त प्रकृति के कार्य प्रत्येक पुरुष के विमोक्ष के लिए हैं। भले ही इसे स्वार्थ-जैसा कहो, वस्तुतः यह प्रकृति का आरम्भ (महत् आदि का परिणत होना) परार्थ है। इसी परार्थता को अगली चार आर्याओं में स्पष्ट किया है।

Scanned with CamScanner

प्रकृति के तीन विशेष धर्मों का उल्लेख कर अब पुरुष के तीन विशेष धर्म बताते हैं—

पुरुष का अन्यत्व—पुरुष प्रकृति से अन्य है, भिन्न-स्वरूप है। प्रकृति त्रिगुणात्मिका है, पुरुष अ-त्रिगुण अथवा त्रिगुणातीत है। प्रकृति जड़ है, पुरुष चेतन है। प्रकृति परिणामिनी है, पुरुष अपरिणामी है। इस प्रकार पुरुष का 'अन्यत्व' धर्म स्पष्ट होता है।

प्रश्न उठता है, यह पुरुष का ही 'अन्यत्व' धर्म क्यों है? प्रकृति का क्यों नहीं? प्रकृति भी तो पुरुष से अन्य कही जा सकती है? ठीक है, कही जा सकती है, पर यहाँ प्रकरण को विचारना होगा। यह प्रसंग सर्ग का है। प्रकृति के परिणाम का नाम ही सर्ग है। इसलिए प्रकृतिविषयक वर्णन मुख्य होने से प्रथम उल्लेख्य, वर्ण्य, प्रतिपाद्य है। सर्ग अर्थात् रचना के रूप में प्रकृति के साथ अन्य किसी का कोई अंशमात्र भी सम्मिलित नहीं होता। ऐसी दशा में प्रकृतिवर्णन के अनन्तर ही पुरुष का अवसर आएगा, तब प्रकृति से पुरुष को अन्य कहना सामयिक है, उपयुक्त है। यदि अन्य प्रसंगों में कहीं आत्मतत्त्व का वर्णन व उल्लेख प्रथम प्राप्त होता है, तो वहाँ आत्मा से प्रकृति अन्य है, इस प्रकार कथन व उल्लेख के अनुसार प्रकृति में 'अन्यत्व' धर्म की अभिव्यक्ति का होना अव्यवहार्य नहीं है, पर उसका प्रस्तुत प्रसंग से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः यहाँ 'अन्यत्व' पुरुषधर्म ही माना जाएगा।

पुरुष का अकर्त्तृत्व—सांख्य में पुरुष को भोक्ता, द्रष्टा, अधिष्ठाता आदि मानकर कर्त्ता न मानना, इस पद के अर्थ के विषय में सन्देह उत्पन्न करता है। पाणिनि के सूत्र 'स्वतन्त्रः कर्ता' से बोधित व्यवस्था के अनुसार कर्तृ पद का प्रयोग जड़-चेतन आदि सब प्रकार के पदार्थों के लिए हो सकता है, परन्तु सांख्य में यह पद केवल जड़ पदार्थ के लिए प्रयुक्त किया जाना व्यवस्थित है। इससे स्पष्ट होता है, सांख्य में कर्तृ पद का वह अर्थ अभिमत नहीं है, जो पाणिनि के सूत्र से बोधित होता है। तब सांख्य में इस पद के उस विशिष्ट अर्थ की खोज करना आवश्यक है, जिसके अनुसार चेतन पुरुष अकर्त्ता और जड़ प्रकृति कर्त्री है। इस पद के अर्थ के विषय में सन्देह उस अवस्था में और दृढ़ हो जाता है, जब हम देखते हैं कि चेतन पुरुष (आत्मतत्त्व) के लिए प्रयुक्त भोक्ता-द्रष्टा आदि पदों में पाणिनि-सूत्र-बोधित कर्तृ पदार्थ बैठा झाँक रहा होता है। इससे निश्चित जाना जाता है कि सांख्य में उक्त पद का अर्थ अवश्य अन्य कुछ है, जो पाणिनिसूत्र-बोधित अर्थ के दायरे में नहीं आता।

पुरुष के अकर्त्तृत्व के लिए गीता का प्रमाण प्रस्तुत किया जाता है। वहाँ लिखा है—'प्रकृति के गुणों से सब प्रकार के कर्म किए जाते हैं; अहंकार से मोहित हुआ

आत्मा—मैं कर्त्ता हूँ—ऐसा मान बैठता है।[1] इससे सांख्याभिमत पुरुष के अकर्त्तृत्व की पुष्टि होती है। तब यह अन्वेष्य हो जाता है कि आत्मा द्रष्टा-भोक्ता होते हुए भी अकर्त्ता क्यों कहा जाता है?

साधारण रूप से कर्त्ता उसी को कहा जाता है जो क्रिया का करनेवाला हो। पर इतना कहने से अर्थ पूरा नहीं हो पाता। लेखनी हाथ में है और यह कागज पर विशेष आकृतियाँ बनाती जा रही है। लेखनी को हाथ ने या हाथ की अँगुलियों ने पकड़ा हुआ है; परन्तु हम कहते यही हैं—देवदत्त ने लेखनी पकड़ी है। कागज पर विशेष आकृतियाँ लेखनी बनाती है, पर बोला यह जाता है—देवदत्त लिख रहा है। यह देवदत्त क्या बला है? क्या हाथ, पैर, सिर आदि अंगों या चक्षु-श्रोत्र आदि इन्द्रियों अथवा सम्पूर्ण देह का नाम देवदत्त है? नहीं। एक अवस्था (मूर्च्छा आदि की) ऐसी होती है, जिसमें देहादि के यथावत् रहते भी देवदत्त कुछ कर नहीं सकता। तब माना गया, देह में एक चेतन तत्त्व और रहता है; जब उसका इन्द्रियादि के साथ सम्पर्क स्थापित होता है, तभी सब क्रिया हो पाती हैं। तो क्या उस चेतन तत्त्व का नाम देवदत्त है? नहीं। केवल चेतन तत्त्व स्थूल देह आदि की अनुपस्थिति में कुछ भी सांसारिक व्यवहार कर नहीं सकता। परिणाम यह निकला कि क्रिया तो देहादि में होती है, पर वह हो उसी समय सकती है, जब उसके साथ चेतन तत्त्व का व्यवस्थित सम्पर्क हो। इसलिये अब, जब हम यह कहते हैं कि 'देवदत्त लिख रहा है' इस लेखन-क्रिया के घेरे में चेतन तत्त्व से लगाकर अँगुलियों तक सबका समावेश हो जाता है। इसी भाव को गीता में स्पष्ट किया—

तत्रैवं सति कर्त्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥ १८.१६॥

ऐसी परिस्थिति होने पर जो परिष्कृत बुद्धि न होने के कारण केवल आत्मा को कर्त्ता समझता है, वह दुर्मति कुछ नहीं जानता। गीता के प्रसंग में सांख्यसिद्धांत के अनुसार पहले दो श्लोकों[2] (१४-१५) में बताया है कि मनुष्य के प्रत्येक उचित-अनुचित कार्यों के करने में पाँच हेतु होते हैं—अधिष्ठान, कर्त्ता, अनेक प्रकार के

---

१. प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्त्ताऽहमिति मन्यते॥ (३.२७)
इस विषय में गीता के (१३.२६ तथा १४.१६) श्लोक भी द्रष्टव्य हैं।

२. अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणञ्च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम्॥१४॥
शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पंचैते तस्य हेतवः॥१५॥

करण, विविध प्रकार की चेष्टायें अर्थात् आत्मगत विविध उद्भावना, दैव।

प्रस्तुत प्रसंग में अधिष्ठान देह है, कर्त्ता चेतन आत्मा है, बुद्धि इन्द्रिय आदि अनेक प्रकार के बाह्य आन्तर करण हैं, विविध प्रकार की कार्य करने की वे भावनाएँ जो आत्मा में उभरती रहती हैं, और पाँचवाँ हेतु दैव है। दैव पद से यहाँ—अदृष्ट अर्थात् पूर्वकृत धर्म-अधर्म, अथवा इन सबके पीछे अन्तर्हित विद्यमान दिव्य परमात्म-सामर्थ्य—-समझना चाहिए, जो चराचर जगत् का नियामक है।

तब क्या देह से लगाकर अँगुलियों तक इन सबको कर्त्ता कहना चाहिए? क्योंकि लेखन-क्रिया इन सबकी उपस्थिति में जन्म लेती है। शास्त्रकारों ने इसका विवेचन किया है—चेतन तत्त्व में यह भावना उत्पन्न होती है कि 'मैं कुछ लिखूं'। इस भावना की उत्पत्ति में बुद्धि और अहंकार उसको सहयोग देते हैं। उसके साथ ही मन दौड़ पड़ता है, इस संकल्प के साथ कि इस क्रिया को करना है। तत्काल आँख लेखनी-आधान में रक्खी मसीपूर्ण लेखनी और सामने हाथ द्वारा बिछे कागज को देखती है। तत्काल हाथ ऊपर को उठता है, अँगुलियों में लेखनी को दबा लिया जाता है, कागज पर नई आकृतियाँ उभरने लगती हैं। इन सबके पीछे एक मूल वस्तु है—लिखने की भावना। वह जहाँ उभरती है, उसी को वस्तुतः कर्त्ता कहना चाहिए। शेष सब सामग्री-समुदाय उसका साधनमात्र है—कुछ बाह्य और कुछ आन्तर। फिर भी यह निश्चित है कि इन साधनों की अनुपस्थिति में आत्मा व्यावहारिक नहीं रहता। सम्भवतः इसी कारण ऋषि ने लिखा—

आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः। (कठ १।३।४)

इन्द्रिय अन्तःकरण आदि के सहित आत्मा को मननशील विद्वानों ने 'भोक्ता' कहा है। यही स्थिति 'कर्त्ता' कहे जाने की है। परिणाम यह निकला कि किसी क्रिया के लिए मूल भावना का जहाँ उद्भव हो, वह तत्त्व 'कर्त्ता' है। ऐसा वह चेतन तत्त्व है, जिसे आत्मा, पुरुष व जीव पदों से कहा जाता है। वस्तुतः वही कर्त्ता व भोक्ता है।

गीता में जहाँ यह कहा गया है कि—अहंकार से मोहित हुआ पुरुष 'मैं कर्त्ता हूँ' ऐसा मान बैठता है—वहाँ ऐसे कर्तृत्व का निषेध किया गया है, जो केवल साधन-समुदाय अथवा सामग्री-समुदाय को आत्मा के रूप में कर्त्ता मानकर कथन किया गया हो; क्योंकि देह इन्द्रिय आदि साधन-सामग्री को ही चेतन आत्मा मानना अहंकार से विमोहित होना है। आत्मा, देह इन्द्रिय आदि से सर्वथा भिन्न तत्त्व है। साधनसामग्री से अभिभूत होकर जो आत्मा अपने-आपको उनका ही स्वरूप मान बैठता है, उसी के सम्बन्ध में उक्त लेख है।

पुरुष के 'अकर्त्ता' होने का अन्य पहलू है, सांख्य में 'करना' क्रिया का 'परिणति' अर्थ होना। जो कुछ किया जाता है, वह सब परिणति-रूप है। प्रकृति महत् को करती है, महत् अहंकार को, अहंकार मन-इन्द्रियों तथा तन्मात्रों को, तमान्त्र

भूतों को। यह सब 'करना' परिणामरूप है। इस परिणति-क्रिया में प्रकृति को स्वतन्त्र माना गया है। इस प्रकार परिणत होनेवाला तत्त्व 'कर्त्ता' है, जो अपने को विविध आकारों में रूपान्तरित कर रहा है। यह कर्तृत्व परिणाम-स्वभाव प्रकृति में ही सम्भव है, अपरिणामी पुरुष में नहीं।

बुद्धि इन्द्रिय आदि भी विषयाकार परिणत होते माने जाते हैं। बाह्य विषयों का प्रवाह आत्मा के भोग के लिए जब अन्दर को बहता है, तब उसके बहाव की नाली बाह्य-आन्तर करण हैं। जब बाह्य विषय को कोई बाह्य इन्द्रिय पकड़ती है, तब उसे इन्द्रिय का 'विषयाकार परिणाम' कहा जाता है। इसका नाम इन्द्रियवृत्ति अथवा इन्द्रिय-व्यापार है। नाली द्वारा इस व्यापार-क्रम की अन्तिम सीमा 'बुद्धि' है। बुद्धि उस बाह्य विषय की—नाली द्वारा बुद्धि तक पहुँची—छाया को पुरुष में प्रतिबिम्बित होकर उसे समर्पित कर देती है। तब वह वृत्ति या व्यापार 'अनुभूति' हो जाता है। बाह्य छाया का 'वृत्ति'-रूप बुद्धि तक समाप्त हो जाता है। जहाँ तक उसका 'वृत्ति'-रूप है, वहाँ तक परिणाम है। इसलिए बुद्धि नामक करण उस वृत्ति या व्यापार-रूप परिणति का कर्त्ता है, अर्थात् करनेवाला। पुरुष में अनुभूति का स्वरूप परिणाम के दायरे से बाहर चला जाता है, अतः पुरुष 'अकर्त्ता' है।

यह भाव गीता के उक्त श्लोकों (१३--१६) से अभिव्यक्त होता है, जहाँ सांख्यानुसार प्रत्येक कार्य के लिए पाँच कारणों का उल्लेख हुआ है। वहाँ कर्त्ता और करण को अलग-अलग गिनाया है। कार्य में जिनका किसी भी तरह का सहयोग है, उन सबको कारणों में गिन लिया है, जिनकी संख्या पाँच है। इस भावना से केवल आत्मा को कर्त्ता होने का निषेध किया है; इससे 'कर्त्ता' होता हुआ भी आत्मा 'अकर्त्ता' कहा जाता है।

सांख्यदर्शन में इसका मूलभूत उल्लेख प्रथम अध्याय के १६१ से १६४ तक सूत्रों में हुआ है। दूसरे अध्याय का सूत्र (२६) भी द्रष्टव्य है। सांख्यसप्तति की आर्या (१६) में उक्त विचार का शीर्षासन-जैसा हुआ है। यह घोटाला तभी होता है, जब किसी क्रिया की मूल भावना के उद्भव आधार को चेतन तत्त्व से हटाकर जड़तत्त्व में आरोपित किया जाता है; फिर भावना के लिए अक्षम जानकर उसे चेतन रूप देने का प्रयास किया जाता है। जड़ को चेतन बनाने के निष्फल प्रयास से क्या यह अधिक प्रामाणिक व उपयुक्त नहीं कि वह भावना चेतन का ही धर्म माना जाय?

पुरुष का बहुत्व—सांख्य में 'पुरुष'-पद चेतन तत्त्व के लिए प्रयुक्त है। उसकी दो विधा हैं—परमात्मा और जीवात्मा। 'आत्मा'-पद दोनों के लिए समान रूप से प्रयुक्त होता है। परमात्मा एक है, जीवात्मा अनेक हैं। परमात्मा समस्त विश्व का नियन्ता व साक्षी है, जीवात्मा अपने देह आदि का। पुरुष के बहुत्व का सिद्धान्त

सर्वमान्य है। इसके लिए सांख्यदर्शन प्रथम अध्याय के सूत्र १४६,१५२, १५७--१५९ द्रष्टव्य हैं।[1] सांख्यसप्तति की १८वीं आर्या में इसका वर्णन है।

प्रकृति के तीन विशेष धर्म तथा पुरुष के तीन विशेष धर्मों का उल्लेख किया गया। अब प्रकृति-पुरुष दोनों के सम्मिलित तीन धर्मों का उल्लेख प्रस्तुत है। तीन धर्म हैं—अस्तित्व, योग और वियोग।

प्रकृति-पुरुष का अस्तित्व—यह धर्म दोनों का निर्विवाद है। जड़ व चेतन, उभय की सत्ता को किसी दर्शनकार ने चुनौती नहीं दी। तत्त्व के अद्वैत विचार में भी ब्रह्म के सत्य और माया के अनिर्वचनीय स्वरूप के रूप में चेतन और अचेतन को स्वीकार किया गया है। लोकायत-विचारधारा में भी मूल में केवल जड़ तत्त्व को मानकर उसी से विकसितरूप में चेतन की सत्ता स्वीकार की गई है। जैन-बौद्धदर्शन भी इन दो सत्ताओं को मानने से नकार नहीं करते, भले ही उनका अस्तित्व स्थायी हो, क्षणिक हो, या केवल व्यावहारिक हो। बौद्धदर्शन में स्वीकृत मध्यममार्ग का स्वरूप यही है कि उस अनादि-अनन्त शून्य तत्त्व के अन्तर्गत चलता-दीखता संसार उसके मध्य में होनेवाली स्थिति है, जो व्यावहारिक जड़-चेतन के रूप में अभि-लक्षित होती है। सांख्यवाङ्मय में जड़-चेतन उभय के अस्तित्व का सर्वत्र उल्लेख हुआ है।[2]

प्रकृति-पुरुष का योग—यहाँ प्रयुक्त 'योग'-पद 'युज समाधौ' धातु से सिद्ध न होकर 'युजिर योगे' से निष्पन्न हुआ है। अर्थ है—सम्बन्ध, सम्पर्क। अविवेक के कारण प्रकृति के साथ पुरुष का सम्बन्ध होने पर वह बन्धन में पड़ जाता है; उसकी यह बद्ध अवस्था कही जाती है, सांख्यसूत्र तथा सांख्यसप्तति में इसका अनेकत्र उल्लेख है।[3] गीता के स्थल (१३.२१,२६) भी द्रष्टव्य हैं।

प्रकृति-पुरुष का वियोग—प्रकृति-पुरुष के सम्बन्ध का टूट जाना वियोग है। यह पहली स्थिति से विपरीत स्थिति है। पुरुष के आत्मसाक्षात्कार हो जाने पर यह सम्बन्ध टूट जाता है। सम्बन्ध का कारण अविवेक था। अविवेक का तात्पर्य है—प्रकृति-पुरुष के भेद का साक्षात्कार ज्ञान न होना। पुरुष जब तक प्राकृतिक देह-इन्द्रिय आदि को ही आत्मा का स्वरूप समझता है, तब तक सम्बन्ध बना रहता

---

१. संस्थान से प्रकाशित सांख्यदर्शन में उक्त संख्याओं में से ३५ घटाकर सूत्र-संख्या देखनी चाहिए।

२. द्रष्टव्य है—सांख्यदर्शन, १.६६ तथा १३९--१४४॥ सांख्यसप्तति, आर्या १७॥

३. सांख्यसूत्र, १.५५॥२.१, ७-९। प्रथम अध्याय की सूत्रसंख्या में से ३५ घटाकर संस्थान-प्रकाशित सांख्य में देखें।

Scanned with CamScanner

है। दोनों के भेद का साक्षात्कार, ज्ञान हो जाना विवेक है। यह प्रणव-जप व योग-समाधि आदि द्वारा प्राप्त होता है। विवेक हो जाने पर अविवेक के नष्ट हो जाने से अविवेकजन्य प्रकृति-पुरुष-संयोग भी विच्छिन्न हो जाता है। यह वियोग की स्थिति है। सांख्यसूत्र (३.८४), तथा सांख्यसप्तति (६८) में इसका उल्लेख हुआ है।

शरीर-स्थिति—यह दसवाँ मौलिक अर्थ है और जीवन्मुक्त के विषय में है। प्रश्न उठता है, जब आत्मसाक्षात्कार हो गया, विवेक ने अविवेक को दूर हटा दिया, तब आत्मसाक्षात्कृत व्यक्ति का देहादि सम्बन्ध न रहकर मोक्षगति हो जानी चाहिए। फिर ऐसे व्यक्तियों का देहादि सम्बन्ध क्यों बना रहता है जो जीवन्मुक्त कहे जाते हैं?

इसका कारण है प्रारब्ध-कर्मों का भोग के बिना नष्ट न होना। जिस देह में रहते आत्मसाक्षात्कार हुआ है, वह देह जिन कर्मों के अनुसार प्रारम्भ हुआ, प्राप्त हुआ, वे कर्म भोगे जाकर जब तक समाप्त नहीं हो जाते, तब तक आत्मसाक्षात्कार हो जाने पर भी देह बना रहता है। यह ऐसा ही है, जैसे कुम्हार का चाक एक बार चला देने पर, चलाना छूट जाने पर भी कुछ समय तक अवशिष्ट वेगसंस्कार के अनुसार चलता रहता है। यहाँ पर भी प्रारब्ध शेष संस्कार भोगे जाने तक देह को चलाते रहते हैं। सांख्यसूत्र (३.८४) तथा सांख्यसप्तति (६८) में इसका उल्लेख हुआ है॥५२॥

दस मौलिक अर्थों का विवरण प्रस्तुत करने के अनन्तर सन्दर्भकार आप्त का स्वरूप बताता है—

स्वकर्मण्यभियुक्तो[1] यो रागद्वेषविवर्जितः।
ज्ञानवान्[2] शीलसम्पन्न आप्तो [3]ज्ञेयस्तु तादृशः॥ ५३॥

पद्य-सन्दर्भ में प्रयुक्त 'अभियुक्त' पद के अर्थ को भाषा के समानार्थक अनेक पदों द्वारा प्रकट किया जा सकता है, जैसे व्यस्त, लीन, लगा हुआ, जुटा हुआ, दत्तचित्त आदि। अर्थ हुआ—जो व्यक्ति अपने अनुष्ठेय कार्य में दत्तचित्त होकर लगा रहता है, अपने कार्यों में व्यस्त व लीन रहता है। इस सबका भाव निकलता है कि जो व्यक्ति अपने कार्य में प्रामाणिक है, अर्थात् उस विषय को उसने साक्षात् कर लिया

---

१. '०र्मभिर्विनिमुक्तो', सांख्यसंग्रह, सूत्र २१ (पृ० २४)।
२. 'पूजितस्तद्विधैर्नित्यम्', माठर, आर्या ५। 'निर्वैरः पूजितः सद्भिः', जयमंगला, आर्या ५।
३. 'ज्ञेयः स', माठर, जयमंगला, आर्या ५। 'सोऽपि ज्ञेयश्च' सांख्यसंग्रह, सूत्र २१ (पृ० २४)।

Scanned with CamScanner

है, उस अर्थ का वह साक्षात्कृतधर्मा है। तत्त्वसमाससूत्र की षिमानन्दकृत व्याख्या में सूत्र २१ पर पद्य के इस अंश का पाठ 'स्वकर्मभिर्विनिर्मुक्तः' दिया है। इसका अर्थ होगा, जो अपने कर्मों—सांसारिक खुराफाती झंझटों से मुक्त हो चुका है, अर्थात् पूर्णयोगी आत्मज्ञानी। इन दोनों के भाव में विशेष अन्तर नहीं है। दोनों का भाव यही है—अपने विषय का साक्षात्कृतधर्मा। ऐसा व्यक्ति भी यदि राग-द्वेष आदि में डूबा हुआ है, तो अपने यथार्थ ज्ञात विषय का कथन अन्यथा भी कर सकता है। इसलिए कहा गया—आप्त व्यक्ति राग-द्वेष आदि दोषों से सर्वथा रहित होना चाहिए।

अन्य विशेषतायें बताईं—वह ज्ञानी हो, अपने ज्ञात अर्थ के कथन करने में अभिरुचि रखता हो। शीलसम्पन्न सदाचारी हो। उस विषय के जिज्ञासु व्यक्तियों के प्रति उसका आचरण सरल स्नेहपूर्ण हो। अनेक बार ऐसे व्यक्ति जिज्ञासु के प्रति झुँझलाहट प्रकट करने लगते हैं, ऐसा नहीं होना चाहिए। पद्य के इस अंश के स्थान पर पाठान्तर है—'निर्वैरः पूजितः सद्भिः' प्रथम पद में भाव यही है, अन्य को यथार्थ का उपदेश देते समय उपेक्षा या झुँझलाहट की भावना उपदेष्टा में नहीं आनी चाहिए, क्योंकि इन भावनाओं के पीछे छिपा वैर झाँका करता है। इसी को स्पष्ट करने के लिए अगले पद हैं—वह व्यक्ति सज्जनों से पूजित—सत्कृत होना चाहिए। इसमें तात्पर्य यही है कि अपने विषय का यथार्थ ज्ञाता भी व्यक्ति यदि उस ज्ञान का अन्य जिज्ञासुओं के प्रति उचित अवसरों पर सौम्य रीति से उपयोग नहीं करता, उसमें उपेक्षा व झुँझलाहट आदि दिखाता है तो सज्जन-समाज के उन्नत स्तर के लोग उसका आदर नहीं करते। तात्पर्य है—ऐसा व्यक्ति समाज में आप्त के स्तर से गिर जाता है।

पद्य का संक्षिप्त सम्मिलित (सम्पिण्डित) अर्थ हुआ—राग-द्वेष आदि से रहित जो व्यक्ति अपने यथार्थ ज्ञान में प्रामाणिक है, तथा इस स्तर पर समाज के सम्भ्रांत जन उस सरल शीलसम्पन्न सदाचारी व्यक्ति का सम्मान करते हैं, ऐसे व्यक्ति को 'आप्त' जानना चाहिए।

भारतीय प्राचीन वाङ्मय में जो सन्दर्भ पंचशिख के नाम से उद्धृत हुए उपलब्ध हैं, तथा अन्य कुछ सन्दर्भ जिनको हमने अपनी भावना से पंचशिख का समझा, उन सबका यथाज्ञात विवरण प्रस्तुत किया गया ॥५३॥

इति पंचशिखसन्दर्भव्याख्या विद्योदयाख्या सम्पूर्णा।

(८) सनन्द (सनन्दन)—३

सांख्य वाङ्मय में उक्त नाम से कतिपय सन्दर्भ उद्धृत उपलब्ध होते हैं। नामों में एक वर्ण का न्यूनाधिक्य होने पर भी प्राचीन भारतीय साहित्य में इस व्यक्ति का दोनों नामों से उल्लेख हुआ है। यह भी कहा जाता है, इन नामों के दो भिन्न व्यक्ति थे। इसका इतिहास-सम्बन्धी यथोपलब्ध विवरण इतिहास[1]-ग्रन्थ में दिया जा चुका है।

सांख्यदर्शन के एक सूत्र (६.६९) में परमर्षि कपिल ने नाम लेकर इसके विचार का उल्लेख किया है। सूत्र है—

लिङ्गशरीरनिमित्तक इति सनन्दनाचार्यः।

शास्त्र में प्रसंग है—प्रकृति और पुरुष के भोग्य-भोक्तृभाव का निमित्त क्या है? पहले सूत्र में कपिल ने अपना अभिमत अपने प्रशिष्य पंचशिख के नाम से अंकित किया है। अनन्तर सनन्दन आचार्य का उक्त विषयक विचार इस सूत्र से प्रस्तुत किया।

प्रकृति भोग्या है, पुरुष भोक्ता है, इस प्रकार के प्रकृति-पुरुष के सम्बन्ध का कारण लिंगशरीर है। भोग्य-भोक्तृभाव को स्पष्ट करनेवाले कर्मों का अनुष्ठान उस समय तक असम्भव है, जब तक आत्मा लिंगशरीर से आबद्ध नहीं हो जाता। यह स्थिति सर्ग के आदिकाल से ही प्रारम्भ हो जाती है। अन्वय-व्यतिरेक से यह सिद्ध है कि प्रकृति-पुरुष का परस्पर भोग्य-भोक्तृभाव लिंगशरीर की उपस्थिति में सम्भव हो जाता है, अनुपस्थिति में असम्भव। इसलिए उसे निमित्त माना जाना चाहिए।

सूक्ष्मशरीर का अन्य नाम लिंगशरीर है। अठारह घटक अवयवों से बने सूक्ष्मशरीर को दो भागों में विभक्त किया जाता है—एक आधार, दूसरा आधेय। इसमें आधारभूत भाग तन्मात्र तत्त्वों से बना सूक्ष्मशरीर है। इसमें आधेयभूत भाग है—तेरह करण। तेरह करणों में पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय—ये दस बाह्य-करण, तीन अन्त:करण—आन्तर इन्द्रिय मन तथा अहंकार और बुद्धि। इन तेरह करणों को 'लिंग' नाम से भी कहा जाता है, क्योंकि इनके द्वारा अन्तर्हित अतीन्द्रिय आत्मतत्त्व का बोध या अनुमान होता है, जैसे धूम-लिंग से अग्नि का अनुमान।

---

१. देखें 'सांख्यदर्शन का इतिहास' द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ५९८।

तन्मात्र-उपादान-तत्त्वों से बने—सूक्ष्मशरीर के—आधारभूत भाग की प्रधानता का जब कथन या विचार किया जाता है, तब इसी शरीर को 'कारण-शरीर' कहा जाता है, क्योंकि तन्मात्र-तत्त्व इस शरीर के आधारभूत उपादानकारण हैं तथा अन्य समस्त सूक्ष्म-स्थूल जगत् के उपादानकारण भी। जब आधेयतत्त्व तेरह करणों को प्रधानता दी जाती है तो ऐसे विचार या कथन के अवसर पर उसी सूक्ष्म-शरीर को 'लिंगशरीर' कह दिया जाता है। इस शरीर के आधार पर—स्थूलशरीर के सहयोग से—आत्मा के समस्त भोग और अपवर्ग की प्राप्ति अवलम्बित हैं।

वस्तुतः प्रकृति-पुरुष के भोग्य-भोक्तृभाव के प्रति लिंगशरीर आदि की निमित्तता अनन्तर-कालिक भूमिका में आती है। इस स्थिति का मुख्य मूलभूत निमित्त अविवेक समझना चाहिए। परन्तु लिंगशरीर आदि अन्य निमित्त भी अपने-अपने स्थान पर आवश्यक महत्त्व रखते हैं, क्योंकि आत्मसाक्षात्कार से पूर्व अविवेक के विद्यमान रहने पर भी आत्मा के समस्त भोग व अपवर्ग—आत्मा के साथ लिंगशरीर का सम्बन्ध हुए बिना—सम्पन्न नहीं हो सकते। इनमें परस्पर किसी प्रकार के विरोध की कल्पना नहीं करनी चाहिए।

मनुस्मृति के श्लोक (१.५६) की कुल्लूक भट्ट रचित व्याख्या में 'तदुक्तं सनन्देन' कहकर निम्नलिखित श्लोक उद्धृत है—

भूतेन्द्रियमनोबुद्धिवासनाकर्मवायवः।
अविद्या चाष्टकं प्रोक्तं पुर्यष्टमृषिसत्तमैः॥

भूत, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, वासना, कर्म, वायु, अविद्या इन आठ का सम्पिण्डित समुदाय श्रेष्ठ ऋषियों ने 'पुर्यष्टक' कहा है। जिस श्लोक[1] की व्याख्या में यह उद्धृत है, उसका तात्पर्य है—जब अणुमात्राओं में आवेष्टित आत्मा स्थावर अथवा संचरणशील बीज (स्थावर, मानव आदि योनियों) को प्राप्त होनेवाला होता है, तब पुर्यष्टक से आवेष्टित हुआ पूर्वदेह को छोड़कर कर्मानुसार देहान्तर को प्राप्त कर लेता है। पुर्यष्टक के घटक तत्त्व निम्न प्रकार हैं—

भूत—भूतों के उपादानतत्त्व तन्मात्र। इनसे पाँच प्रकार के भूतों की उत्पत्ति होने के कारण इनको पाँच संख्या में परिगणित किया जाता है; यद्यपि प्रत्येक भूत के उत्पादक तन्मात्र-तत्त्वों की संख्या सम्भवतः विभिन्न रूप में पर्याप्त अधिक रहती है। पाँच प्रकार के कार्यों के आधार पर उन्हें वर्गीकृत कर पाँच संख्या में व्यवहार के लिए सीमित कर दिया है।[2]

---

१. श्लोक है—यदाणुमात्रिको भूत्वा बीजं स्थास्नु चरिष्णु च।
समाविशति संसृष्टस्तदा मूर्तिं विमुञ्चति॥

२. इसके विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य है—'सांख्यसिद्धान्त' पृष्ठ ३०१। तथा वैशेषिक दर्शन के विद्योदयभाष्य का परिशिष्ट-संख्या २।

Scanned with CamScanner

इन्द्रिय—दस, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, ये दस बाह्य करण हैं।

मन—एक, आन्तर इन्द्रिय।

बुद्धि—एक, आन्तर करण। कतिपय आचार्यों ने अहंकार अन्तःकरण की अलग गणना न कर बुद्धि में समावेश मान लिया है। यहाँ भी ऐसा ही है। इनके विचार से सूक्ष्मशरीर अथवा लिंगशरीर के सत्रह घटक गिने जाते हैं।

पुर्यष्टक के इन चार घटकों में—लिंगशरीर के समस्त अठारह घटकों को वर्गीकृत कर—समाविष्ट कर लिया गया है। सांख्य सूत्र (३.६) में सूक्ष्मशरीर के घटक बताते हुए उसके लिए 'लिंग' पद का प्रयोग किया है।

वासना—यह पद यद्यपि पूर्व-कर्मजनित 'संस्कार' के लिए प्रयुक्त होता है, पर इस प्रसंग में यह 'अभिलाषा, इच्छा, रुचि, आदर' आदि अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए प्रयुक्त हुआ है। स्थूलशरीर के साथ रहते हुए जीवन में शुभ-अशुभ कर्म करने के लिए जो अभिलाषा, रुचि आदि के रूप में भावनाएँ उभरती हैं, यहाँ वासना पद का उन्हीं से तात्पर्य है।

कर्म—वासनारूप उक्त भावनाओं से प्रेरित होकर व्यक्ति जीवन में जो शुभ-अशुभ कार्य करता है, उसी के लिए यह पद है। ये कार्य स्थूलशरीर के साथ ही हो सकते हैं। स्थूल देहरूप में प्रत्येक जीवन नियत प्रारब्ध-कर्मों के अनुसार प्रारम्भ होता अथवा प्राप्त होता है। इसके अनुसार 'कर्म'-पद से प्रारब्ध-कर्मों का निर्देश मानना भी अनुचित न होगा।

वायु—इस पद से यहाँ प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान का ग्रहण किया जाना समंजस प्रतीत होता है। प्राण आदि को बुद्धि आदि तेरह करणों का सामान्य व्यापार माना जाता है। यह केवल स्थूलदेह के साथ सम्पन्न होता है। जब आत्मा स्थूलदेह को छोड़ जाता है, तो यह करण-व्यापार समाप्त हो जाता है।

अविद्या—इसका तात्पर्य अविवेक अथवा मोह है। यद्यपि आत्मसाक्षात्कार होने से पहले अविद्या का अस्तित्व बराबर आत्मा के साथ बना रहता है, परन्तु इसके द्वारा आत्मा के लिए क्रियमाण समस्त कार्यकलाप स्थूलशरीर की विद्यमानता में सम्पन्न होते हैं। इस रूप में पुर्यष्टक के अन्तिम चार घटक पुर्यष्टक में स्थूलशरीर का संग्रह करते हैं। पहले चार घटक सूक्ष्मशरीर के संग्राहक हैं। इस प्रकार पुर्यष्टक में सूक्ष्म-स्थूलशरीर दोनों का संग्रह हो जाता है। इस पद का अर्थ है—आठ के समूह की पुरी अर्थात् नगरी। पुर्यष्टक में आवेष्टित आत्मा—अथवा इस नगरी में निवास करता हुआ आत्मा—अपने भोग और अपवर्ग को सम्पन्न करने में समर्थ होता है। कुल्लूक भट्ट ने इसी प्रसंग में ब्रह्मपुराण का एक श्लोक उद्धृत किया है, जो उक्त अर्थ को पुष्ट करता है। श्लोक है—

पुर्यष्टकेन लिङ्गेन प्राणाद्येन स युज्यते।
तेन बद्धस्य वै बन्धो मोक्षो मुक्तस्य तेन तु॥

Scanned with CamScanner

पुर्यष्टक—लिंगशरीर (लिङ्गेन) एवं स्थूलशरीर (प्राणाद्येन) के साथ वह आत्मा युक्त हो जाता है, सम्बद्ध हो जाता है। जब वह इससे बद्ध-आवेष्टित रहता है, तब उसकी यह बन्ध अवस्था है। जब आत्मसाक्षात्कार हो जाने पर पुर्यष्टक से छुटकारा हो जाता है, तब उसकी मोक्ष अवस्था है।

कापिल सूत्र में जो विचार सनन्दन के दिए हैं, कुल्लूक भट्ट द्वारा उद्धृत सन्दर्भ के साथ उनका पूर्ण सन्तुलन है। इससे सनन्दन के उक्त विचारों की पुष्टि होती है।

इति सनन्दसन्दर्भव्याख्या विद्योदयाख्या सम्पूर्णा।

(२६) जैगीषव्य—४

जैगीषव्य ऋषि का इतिहास-सम्बन्धी विवरण 'सांख्यदर्शन का इतिहास' नामक रचना में दे दिया गया है। उसका एक सन्दर्भ पातञ्जल योगसूत्र (२.५५) के व्यासभाष्य में उद्धृत हुआ उपलब्ध है—

चित्तैकाग्र्यादप्रतिपत्तिरेवेति जैगीषव्यः।

योगदर्शन के मूलसूत्रों में यहाँ इन्द्रियों के वश में होने का प्रसंग है। इन्द्रियाँ अन्तिम स्तर तक वश में हो चुकी हैं, इसका स्वरूप क्या है? इन्द्रियों की परमा-वश्यता किस अवस्था में मानी जाती है, यह बताना सूत्रकार का अभिप्राय है। व्याख्या करते हुए भाष्यकार ने अनेक विचार प्रथम प्रस्तुत कर अन्त में जैगीषव्य का मत उक्त सन्दर्भ द्वारा बताया है, जो सूत्रकार का अभिमत है। सन्दर्भ का अर्थ है—

चित्त की एकाग्रता से श्रोत्र आदि इन्द्रियों का शब्द आदि विषयों में प्रवृत्त न होना इन्द्रियों की परमा वश्यता है। इन्द्रियों का अन्तिम कोटि तक वश में होना, चित्त की एकाग्रता पर अवलम्बित है। चित्त के एकाग्र हो जाने पर समस्त इन्द्रियाँ अपने विषयों में प्रवृत्त होने से रुक जाती हैं, यही स्थिति इन्द्रियों की परमा वश्यता है।

जैगीषव्य के अपने अन्य मन्तव्यों का संकेत[1] 'महाभारत' के देवल-जैगीषव्य-संवाद से प्राप्त होता है। उन्नीस श्लोकों के द्वारा वहाँ उसके विचारों का निर्देश है। यद्यपि इन श्लोकों को लक्ष्मीधर भट्ट ने अपनी रचना 'कृत्यकल्पतरु' के मोक्ष-काण्ड (पृष्ठ २२८-२९) में जैगीषव्य के नाम से उद्धृत किया है, पर इन श्लोकों को जैगीषव्य की मूल रचना न समझकर हमने यहाँ उनका उल्लेख करने की उपेक्षा की है। 'महाभारत' में ये श्लोक उद्धृतरूप प्रतीत नहीं होते। जैगीषव्य के विचारों को शेष रचना के समान महाभारतकार ने अपने शब्दों में बाँधा है। ये विचार उच्च कोटि के सबके लिए प्रेरणाप्रद हैं, अतः उनका सार यहाँ प्रस्तुत है—

अन्य किसी के द्वारा अपने लिए कितना भी बुरा किए जाने पर उसके लिए स्वयं सदा भला करो और भला ही सोचो।

---

१. शान्ति पर्व, अध्याय २३६। श्लोक ८—२६। कुम्भघोष संस्करण। गीता प्रेस, गोरखपुर संस्करण में अध्याय २२९। श्लोक ७—२५ द्रष्टव्य है।

आशाओं से दूर रहो, अतीत की चिन्ता न करो, जो प्राप्त हो वही करो।

इन्द्रियों को वश में करो, क्रोध को जीतो, ज्ञानप्राप्ति के लिए प्रयत्न करो, मन-वाणी-कर्म से कभी किसी के प्रति अपराध न करो।

जो व्यक्ति मेरी निन्दा करते हैं, अथवा प्रशंसा करते हैं, मैं उससे न घटता हूँ, न बढ़ता, प्रत्युत यह समझना कि वे लोग अपना ही वर्णन करते हैं।

इस रूप में जो अपना जीवन बिताते हैं, वे अपने सुख को बढ़ाते हैं।

इन्हीं उपायों से ब्रह्म की प्राप्ति होती है, जो निश्चित ही प्रकृति से परे है, उत्कृष्ट है।

(२८) देवल—५

याज्ञवल्क्य-स्मृति की अपरादित्य-विरचित 'अपरार्का' नामक टीका (प्राय-श्चित्ताध्याय, श्लोक १०६) में देवल के नाम से एक लम्बा सन्दर्भ उद्धृत है। इस विषय का ऐतिहासिक विवरण 'सांख्यदर्शन का इतिहास' नामक रचना में देखना चाहिए। सांख्यसिद्धान्तों व मान्यताओं का ऊहापोहपूर्वक विवेचन व विवरण सांख्यविषयक रचनाओं में विस्तार के साथ उपयुक्त स्थानों पर दिया गया है। यहाँ सन्दर्भ के वाक्यांशों का उपयुक्त अर्थमात्र प्रस्तुत किया जाता है। सन्दर्भ 'तत्र देवलः' कहकर प्रारम्भ होता है—इस विषय में देवल कहता है—

अथातो धर्मवर्जितत्वान्न तिर्यग्योन्यां पुरुषार्थोपदेशः।

पूर्व-वर्णन के अनन्तर अब यहाँ से धर्मशास्त्र का उपदेश वर्जित होने से तिर्यग् योनियों के विषय में पुरुषार्थ का उपदेश नहीं किया जाता। सभी शास्त्रीय उपदेश मानव के लिए होते हैं, पशु-पक्षियों के लिए नहीं। इसलिए यहाँ भी पुरुषार्थ का उपदेश पशु-पक्षियों के लिए नहीं है। तब किनके लिए है? सुनिए—

देवमानुषयोर्द्विविधः पुरुषार्थः अभ्युदयो निःश्रेयसमिति।

देव और मनुष्यों का दो प्रकार का पुरुषार्थ है– अभ्युदय और निःश्रेयस। मानव-समाज का उत्कृष्ट अध्यात्मप्रधान भाग अथवा विशिष्ट देशों में निवास करनेवाला मानव-समाज प्राचीन भारतीय वाङ्मय में 'देव' नाम से व्यवहृत होता रहा है।[1] प्रस्तुत वाक्य में 'मानुष' पद के प्रयोग से ही अभीष्ट अर्थ अभिव्यक्त

---

१. भारतीय वाङ्मय में 'देव' पद का प्रयोग देवता, दिव्य पदार्थ, वर्षा का देवता, माता, पिता, आचार्य, अतिथि, राजा, अन्य सामान्य व्यक्ति आदि अनेक अर्थों में हुआ है, पर कहीं पर भी इस पद ने अपने मूलभूत अर्थ को छोड़ा नहीं। सर्व-प्रथम मानव-प्राणी का प्रादुर्भाव हिमालय के कैलास-मानसरोवर प्रदेश में हुआ। दूर तक फैला यह प्रदेश भारतीय वाङ्मय में 'देवलोक' नाम से याद किया गया है। वे आदिमानव 'देव' कहे गए हैं। इस नामकरण का आधार —सम्भवतः विविध प्रकार की दिव्य शक्तियों से—उन आदिमानवों का सम्पन्न होना रहा हो। उसी आदर व सम्मान को अन्यत्र अभिव्यक्त करने के लिए विशेषण रूप में इस पद का प्रयोग सर्वत्र स्वीकार्य है।

कालान्तर में देवों का वह समाज दक्षिण, दक्षिण-पश्चिम उपदिशा का

हो सकता था, फिर भी 'ब्राह्मण वसिष्ठ न्याय' में 'देव' पद का प्रयोग कर दिया गया है। इससे मानवमात्र के लिए अभ्युदय और निःश्रेयस का मार्ग खुलता रहता है। वह अभ्युदय-निःश्रेयस क्या है ? अगले वाक्य में बताया—

तयोरभ्युदयः पूर्वोक्तः। द्विविधं निःश्रेयसं सांख्य-योगाविति।

उन दोनों (अभ्युदय और निःश्रेयस) में से अभ्युदय का वर्णन पहले किया जा चुका है। निःश्रेयस के दो मार्ग हैं—सांख्य और योग। वाक्य के प्रथम भाग से

नाम तथा पश्चिम की ओर अधिक फैला। विभिन्न कार्यों तथा प्रदेशों के कारण वह समाज भी अनेक भागों में विभक्त हो गया, पर सांस्कृतिक व सामाजिक मूलतत्त्व सर्वत्र समान बने रहे। अब से लगभग दो सहस्र वर्ष पहले तक यह परम्परा अक्षुण्ण रही; जिस आधार पर कोषकार अमरसिंह ने अपनी रचना में इनका उल्लेख किया है, इसके लिए प्रारम्भिक ८ से ११ तक श्लोक साधारण रूप से तथा ग्यारहवाँ श्लोक विशेष द्रष्टव्य है।

आदिकालिक मानव-समाज को 'देव' और उसके प्रादुर्भाव-प्रदेश को 'देवलोक' पद से भारतीय वाङ्मय में स्मरण किया गया है। इसके संकेत 'आचार-शिक्षण प्रसंग' से मनुस्मृति (२.१७–२२) में भी उपलब्ध हैं। वहाँ 'ब्रह्मावर्त्त' प्रदेश की सीमा बताते हुए लिखा है कि यह प्रदेश 'देवनिर्मित' है। 'सरस्वती' और 'दृषद्वती' दो देवनदियों के अन्तराल का यह प्रदेश है। कैलास-मानसरोवर प्रदेश से इन नदियों की घाटियों द्वारा बढ़ते व फैलते हुए देव-परिवार दक्षिण व दक्षिण-पश्चिम की ओर प्रदेश पर बस गए, उसका नाम 'ब्रह्मावर्त्त' रक्खा। इसी कारण श्लोक में उसे देवनिर्मित बताया है। इस उल्लेख के आधार पर 'ब्रह्मावर्त्त' का चित्र स्पष्टरूप में समझा जा सकता है।

सरस्वती और दृषद्वती नदियों को 'देवनदी' इस आधार पर कहा गया कि उनका उद्‌गम-स्थान देवलोक की सीमा में रहा। इस आधार पर 'देवलोक' की सीमा का निर्धारण भी कल्पना किया जा सकता है। मनु के अनुसार 'ब्रह्मावर्त्त' देश के अनन्तर 'ब्रह्मर्षि' देश का उल्लेख है, जिसमें कुरुक्षेत्र, मत्स्य, शूरसेनक, पंचाल नामक चार प्रदेशों का समावेश है। इनकी सीमा-रेखा आज भी सुविधापूर्वक पहचानी जा सकती है। सरस्वती नदी पर्याप्त प्राचीन काल में हुए प्रबल भूकम्प तथा राजस्थानीय समुद्र के ज्वार-भाटा के प्रभाव से ध्वस्तप्राय हो गई। कालान्तर में वर्षाकालीन जलप्रवाहों से पुरानी खातें कहीं-कहीं पुनः जाग उठीं। उनके आधार पर सरस्वती के पुराने प्रवाह का अनुमान किया जा सकता है। 'दृषद्वती' गंगा का अपर नाम है, पुराणों में 'देव' और 'देवलोक'-विषयक उल्लेख पर्याप्त हैं। इस विषय में हमारी रचना 'सांख्यदर्शन का इतिहास' का प्रथम अध्याय द्रष्टव्य है।

ज्ञात होता है, देवल की रचना के—प्रस्तुत सन्दर्भ से—पहले भाग में अभ्युदय-सम्बन्धी विवरण प्रस्तुत हो चुका था। सांख्य-योग के आधार पर निःश्रेयस का मार्ग बताने के लिए प्रस्तुत अंश यहाँ उद्धृत किया। सांख्य-योग क्या हैं ? बताया—

पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानं सांख्यम्, विषयेभ्यो निवर्त्याऽभिप्रेतेऽर्थे मनसोऽवस्थानं योगः।

पच्चीस तत्त्वों का साक्षात् ज्ञान सांख्य है; विषयों से हटाकर अभिलषित अर्थ (आत्मतत्त्व) में मन का अवस्थित होना योग है। सांख्यमार्ग से मुक्तिप्राप्ति के विषय में पंचशिख का एक सन्दर्भ प्रथम व्याख्यात हुआ है—

पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे रतः।
जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र सशयः॥

व्यक्ति किसी भी आश्रम या वर्ण में हो, चाहे जटा रखता हो, सिरमुंडा हो, या केवल चोटी रखता हो, यदि उसने सांख्य-प्रतिपादित पच्चीस तत्त्वों के रहस्य को यथायथ जान लिया है, तो वह निःसन्देह मुक्त हो जाता है। योग अथवा समाधि-लाभ से मोक्षप्राप्ति सर्वजन-विदित है। इसी भावना से सन्दर्भकार ने अग्रिम वाक्य से—सांख्ययोग मार्ग पर चलने का—फल और उसका स्वरूप बताया—

उभयत्राऽपवर्गः फलम्। जन्ममरणदुःखयोरत्यन्ताऽभावोऽपवर्गः।

सांख्य और योग दोनों मार्गों पर चलने का फल अपवर्ग-समान है। गीता (५.५) में लिखा है—'यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।' जो स्थान सांख्यमार्ग से प्राप्त होता है, वही योगमार्ग से भी। उस अपवर्ग का स्वरूप बताया—जन्म और मरण के दुःख का अत्यन्त अभाव। अपवर्ग प्राप्त हो जाने पर आत्मा फिर चिरकाल जन्म-मरण के दुःखमय बन्धन में नहीं आता। सांख्ययोग वाङ्मय के विषय में देवल कहता है—

एतौ सांख्ययोगौ चाधिकृत्य यैर्युक्तितः समयतश्च पूर्वप्रणीतानि विशालानि गम्भीराणि तन्त्राणीह संक्षिप्योद्देशतो वक्ष्यन्ते।

इन सांख्य और योग को लक्ष्य कर जिन साक्षात्कृतधर्मा लोककर्त्ता आचार्यों ने युक्ति-प्रमाणपूर्वक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने की भावना से विशाल—अति-विस्तृत और गम्भीर शास्त्रों का प्रथम प्रणयन=निर्माण किया हुआ है; यहाँ उन्हीं का संक्षेप से उद्देश्यमात्र कथन किया जाएगा।

प्राचीन आचार्यों ने सांख्य-योग विषय पर युक्ति-प्रमाणपूर्वक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने के तात्पर्य की भावना से गम्भीर, अत्यन्त कठिन, विस्तृत शास्त्रों का निर्माण किया हुआ है। यहाँ हम उन सिद्धान्तों व युक्ति-प्रमाण आदि का केवल नाम-निर्देश कर उल्लेख करेंगे। ऊहापोहपूर्वक उन सिद्धान्त आदि पर कोई विवेचन नहीं किया जाएगा।

तत्र सांख्यानाम्—एका प्रकृतिः।

उनमें पहले सांख्यों का—सांख्याचार्यों द्वारा प्रतिपादित सांख्य-सिद्धान्तों का उल्लेख किया जाता है—समस्त कार्यजगत् का मूल उपादान-कारण एकमात्र प्रकृति है। उस तत्त्व का नाम 'प्रकृति' है। वह तत्त्व समस्त जगत् का उपादान-कारण है, यह भाव उसी नाम-पद में अन्तर्निहित है, जो पद के निर्वचन के आधार पर अभिव्यक्त होता है। इसी कारण उस मूल तत्त्व का यह नाम है। 'प्रकर्षेण—साकल्येन क्रियते—अभिव्यज्यते कार्यात्मना परिणम्यते जगद् यया सा प्रकृतिः।'

प्रकृति नामक एकमात्र उपादान-कारण मूल तत्त्व से अभिव्यक्त हुआ कार्य बताया—

सप्त प्रकृतिविकृतयः।

सात प्रकृति-विकृति हैं। मूल उपादान-तत्त्व प्रकृति से यथाक्रम सात विकार-कार्य अभिव्यक्त होते हैं। पर ये सातों विकार आगे अन्य तत्त्वरूप विकारों को अभिव्यक्त करते हैं, इस कारण उनके 'प्रकृति' भी हैं, अर्थात् उन विकारों के उपादान-कारण भी हैं। इसलिए ये सात 'प्रकृति-विकृति' कहे जाते हैं। वे सात कौन-से हैं? बताया—

[1]महदहङ्कारौ, पञ्च तन्मात्राणि।

महत्, अहंकार, दो ये हैं, और पाँच तन्मात्र-तत्त्व, ये मिलकर सात प्रकृति के कार्य-विकार हैं; तथा आगे अन्य तत्त्वों के उपादान-कारण होने से ये प्रकृति हैं, अतः इन्हें 'प्रकृति-विकृति' नाम दिया गया है। ये किन विकारों की प्रकृति हैं? बताया—

षोडश विकाराः—पञ्च-पञ्चेन्द्रियाणि, अर्थाश्च[2]।

सोलह विकार हैं—पाँच-पाँच इन्द्रियाँ और अर्थ-विषय पाँच सूक्ष्मभूत। यहाँ मन का उल्लेख रह गया है। मन आन्तर इन्द्रिय है। 'इन्द्रिय'-पद को समस्त इन्द्रियों का उपलक्षण मानकर मन का भी ग्रहण कर लेना चाहिए। पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय=दस, एक मन और पाँच तन्मात्र। यहाँ 'अर्थ'-पद से तन्मात्र द्वारा परिणत पाँच सूक्ष्मभूत अभिप्रेत हैं, क्योंकि आगे अर्थ=विषय के रूप में इन्हीं का विस्तार है, जिनके मध्य प्राणी अपना जीवन व्यतीत करता है।

प्रकृति-विकृति सात और सोलह विकारमात्र का क्रम इस प्रकार समझना चाहिए—मूल प्रकृति का पहला विकार 'महत्तत्त्व' है। महत् का अन्य नाम 'बुद्धि' है, जिसका प्रयोग शास्त्र में प्रायः किया जाता है। महत् से अहंकार अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार महत् प्रकृति का विकार तथा अहंकार का प्रकृति (उपादान-कारण) है, इसलिए 'प्रकृति-विकृति' नाम का अधिकारी है। अहंकार से दो प्रकार

---

१. कृत्यकल्पतरु में देवल के उद्धृत सन्दर्भ से।

२. कृत्यकल्पतरु में देवल के उद्धृत सन्दर्भ से।

Scanned with CamScanner

के विकार होते हैं—एक सत्त्वप्रधान, दूसरा तमःप्रधान। अहंकार का सत्त्वप्रधान विकार ग्यारह इन्द्रियाँ हैं। तमःप्रधान विकार 'तन्मात्र' हैं। इसलिए अहंकार महत् का कार्य होने से 'विकृति' तथा ग्यारह इन्द्रिय और 'तन्मात्र' का उपादान-कारण होने से प्रकृति है। अतः वह 'प्रकृति-विकृति' नाम की श्रेणी में आता है। इसी प्रकार आगे 'तन्मात्र' अहंकार का विकृति, और सूक्ष्मभूतों का उपादान-कारण होने से प्रकृति है। अतः तन्मात्र भी 'प्रकृति-विकृति' नाम की श्रेणी में आते हैं। आगे तन्मात्र क्योंकि पाँच प्रकार के सूक्ष्मभूतों को उत्पन्न करते हैं, अतः इनके साथ 'पाँच' विशेषण-पद लगा रहता है। इस प्रकार सात—महत्, अहंकार, तन्मात्र पाँच, सब मिलाकर—'प्रकृति-विकृति' हैं। इनके आगे सोलह केवल विकार हैं। ये किसी तत्त्वान्तर के उपादान-कारण नहीं होते, अतः विकारमात्र हैं—ग्यारह इन्द्रियाँ और पाँच सूक्ष्मभूत=सोलह।

आगे इनका विस्तार व विभाजन बताया—

पञ्च भूतविशेषाः। त्रयोदश करणानि। तेषां त्रीण्यन्तःकरणानि। दश बहिः करणानि।

सूक्ष्मभूतों का विस्तार स्थूलभूत हैं। सूक्ष्म-स्थूलभूतों में गुणों का वैशिष्ट्य समान रहता है। जो गुण सूक्ष्मभूतों में, वे ही गुण स्थूलभूतों में रहते हैं, अतः सूक्ष्म से स्थूल होना तत्त्वान्तर नहीं है, यह विस्तारमात्र है। व्यवहार्य जगत् में ये पाँच स्थूलभूतों के रूप में विभक्त हैं। तेरह करण हैं—महत्, अहंकार, ग्यारह इन्द्रियाँ। 'करण' पद का अर्थ है—साधन। आत्मा को बाह्य विषयों का भोग कराने तथा अपवर्ग-प्राप्ति के ये साधन हैं। इनमें तीन—महत्, अहंकार, मन—अन्तःकरण हैं, और दस—पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय—बाह्यकरण हैं।

इस सर्गरचना के क्रम में मानव-देह की रचना सर्वोच्च मान्य रचना है। उसमें कौन भाव माता से और कौन पिता से आता है, यह बताया—

चतस्रश्चतस्रो मातृजाः पितृजाश्च कोशाः।

चार-चार मातृज और पितृज कोश होते हैं। शरीर की रचना में मातृज चार कोश हैं—रुधिर, मांस, त्वक्, लोम—शरीर के ये अंश माता के उक्त अंशों के समान सन्तान के शरीर में बनते हैं। इसी प्रकार पिता के शरीरांशों से सन्तान के शरीर में चार कोश—स्नायु, अस्थि, मज्जा और शुक्र बनते हैं। शास्त्रीय परिभाषा में इनको कोशाष्टक अथवा धात्वष्टक कहा जाता है।

सांख्यकारिका की ३९वीं आर्या के व्याख्याकारों में से माठर ने मातृज कोशों में से लोम को छोड़कर केवल शेष तीन का उल्लेख किया है और पितृज कोशों में से शुक्र को छोड़कर शेष तीन का उल्लेख किया है। युक्तिदीपिका-व्याख्या में त्वक् की जगह लोम का और मज्जा की जगह शुक्र का निर्देश उपलब्ध होता है। इस प्रकार व्याख्याकारों ने देह को छः कोशों से बना होने के कारण षाट्कौशिक रूप

में वर्णन किया है।

कोश पद का प्रयोग पुंल्लिग में देखा जाता है। ऐसी स्थिति में मूल सन्दर्भ में चतस्रः स्त्रीलिंग-प्रयोग चिंतनीय प्रतीत होता है। सन्दर्भ में अन्तिम पद 'कोशाः' बहुवचनांत है जो स्त्रीलिंग, पुंल्लिग दोनों में समान रहता है। पर 'कोशा' स्त्रीलिंग पद प्रायः देखने में नहीं आया; यदि स्त्रीलिंग में सम्भावित हो तो ठीक है, अन्यथा चतस्रः प्रयोग चिन्त्य समझना चाहिए।

आगे कतिपय तत्त्वों व सिद्धान्तों का नाम-निर्देशमात्र है, वह पाठ इस प्रकार है—

पञ्च वायुविशेषाः। त्रयो गुणाः। त्रिविधो बन्धः। त्रयो बन्धहेतवः। द्वौ बन्धरागौ[1]। त्रीणि प्रमाणानि। त्रिविधं दुःखम्। चतुर्विधः प्रत्ययसर्गः। तथा विपर्ययः पञ्चविधः। अशक्तिरष्टाविंशतिधा। तुष्टिर्नवविधा। सिद्धिरष्ट-विधेति प्रत्ययभेदाः पञ्चाशत्।

पाँच वायु विशेष हैं – प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान। तीन गुण हैं— सत्त्व, रजस्, तमस्। तीन प्रकार का बन्ध है—प्राकृत अथवा प्रकृतिबन्ध, वैकारिक और दक्षिणाबन्ध। पञ्चशिख-प्रसंग के ३९ सन्दर्भ पर इनकी विस्तृत व्याख्या कर दी गई है। तीन बन्ध के कारण हैं। दो बन्ध राग हैं। तीन प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द। तीन प्रकार के दुःख हैं—आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक। चार प्रकार का प्रत्ययसर्ग है, उनमें पहला—विपर्यय पाँच प्रकार का, दूसरा— अशक्ति अट्ठाइस प्रकार का, तीसरा—तुष्टि नौ प्रकार का, चौथा—सिद्धि आठ प्रकार का। ये सब मिलाकर पचास भेद प्रत्ययसर्ग अथवा बुद्धिसर्ग के कहे जाते हैं।[2]

इनके अतिरिक्त दस मूलिक अर्थ पद्य-सन्दर्भ द्वारा बताए—

अस्तित्वमेकत्वमथार्थवत्वं परार्थमन्यत्वमथो निवृत्तिः।
योगो वियोगो बहवः पुमांसः स्थितिः शरीरस्य च शेषवृत्तिः॥
इतिमूलिकार्थाः[3]।

---

१. यहाँ पाठ कुछ भ्रष्ट हुआ प्रतीत होता है। प्रकृत पाठ में अर्थ अस्पष्ट है। कदाचित् 'बन्धविरागौ' ऐसा पाठ हो, ये दो स्थितियाँ हैं—एक बन्ध की, दूसरी विराग=वैराग्य की, जो बन्ध से छुड़ानेवाली है।

२. इनका विवरण इसी रचना में पंचशिख के प्रसंग में संख्या २५ के अवतरण और विवरण में देखें।

३. 'चतस्रश्चतस्रो मातृजाः' से लगाकर 'मूलिकार्थाः' तक का पाठ कृत्यकल्पतरु के उद्धरण में नहीं है।
इस सन्दर्भ का विस्तृत विवरण पंचशिख-प्रसंग में ५२ संख्या के सन्दर्भ पर देखना चाहिए।

अस्तित्व, एकत्व, अर्थवत्व, परार्थता, अन्यत्व, निवृत्ति (अकर्तृत्व), योग, वियोग, पुरुषबहुत्व और शरीर की शेषवृत्ति, ये दस मूलिक अथवा मौलिक अर्थ हैं। मूलभूत पदार्थ प्रकृति और पुरुष हैं। इनसे सम्बद्ध जो विशेष धर्म हैं, उन्हें मौलिक अर्थ कहा जाता है। इनमें तीन—एकत्व, अर्थवत्व, परार्थता—केवल प्रकृति से सम्बन्ध रखते हैं, तथा अन्य तीन—अन्यत्व, अकर्तृता (निवृत्ति), बहुत्व—केवल पुरुष से सम्बद्ध हैं। योग, वियोग, अस्तित्व, ये तीन धर्म प्रकृति और पुरुष दोनों से सम्बद्ध रहते हैं। आत्मसाक्षात्कार हो जाने पर जीवन्मुक्त का शरीर—शेष बचे प्रारब्ध-कर्मों के भोगने के व्यापार में लगा रहता है, जब तक वे कर्म भोगे जाकर समाप्त न हो जाएँ। जीवनन्मुक्त का शरीर-सम्बन्ध 'शरीर-शेषवृत्ति' नामक दसवाँ मौलिक अर्थ है। इस पद्य के द्वितीय चरण के अन्तिम पद का 'अथो निवृत्तिः' पाठ देवल के सन्दर्भ और माठरवृत्ति में उपलब्ध है। इसके स्थान पर अन्यत्र 'अकर्तृता' अथवा 'अकर्तृत्वम्' पाठ है। 'निवृत्ति' पद का अर्थ—कर्त्तृत्व की निवृत्ति अर्थात् अभाव है। अतः दोनों पाठों में अर्थगत कोई भेद नहीं।

अथ मूल प्रकृतिरव्यक्तम्। महानहङ्कारः पञ्च तन्मात्राणीति प्रकृति-विकृतयः।

साठ पदार्थों का निर्देश करने के अनन्तर अब मूल प्रकृति के विषय में सन्दर्भ-कार कहता है कि वह अव्यक्त है, अनुत्पाद्य है, वह अन्य किन्हीं कारणों से व्यक्त =उत्पन्न नहीं होती। तात्पर्य है—उसके कोई उपादानकारण नहीं हैं, प्रत्युत वही अन्य सब कार्यजगत् का मूल उपादान-कारण है। प्रकृति से उत्पन्न महान्, महत् से उत्पन्न अहंकार, अहंकार से उत्पन्न पाँच प्रकार की सृष्टि (रचना) करनेवाले तन्मात्र-तत्त्व प्रकृति हैं और विकृति भी। इनके प्रकृति-विकृति उभयात्मक होने का विवरण अभी गत पंक्तियों में दिया जा चुका है।

अपने उत्पाद्य कार्यों के आधार पर तन्मात्र-तत्त्वों का नामनिर्देश किया—

शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं गन्धतन्मात्रमिति तन्मात्राणि।

कतिपय तन्मात्र-तत्त्व शब्दप्रधान आकाश को, कतिपय तन्मात्र स्पर्शप्रधान वायु को, कतिपय तन्मात्र रूपप्रधान तेजस् को, कतिपय तन्मात्र-तत्त्व रसप्रधान आपस् को, कतिपय तन्मात्र-तत्त्व गन्धप्रधान पृथिवी को उत्पन्न व परिणत करने में सक्रिय होते हैं; ये सब तन्मात्र-तत्त्व हैं। विभिन्न तन्मात्र-तत्त्व परस्पर मिथुनी-भूत होकर आकाश आदि भूतसंज्ञक पदार्थों के रूप में परिणत हो जाते हैं। विभिन्न तन्मात्र-तत्त्वों का अन्योन्यमिथुनीभाव गन्ध-रस-रूप-स्पर्श-शब्द इन विशेषताओं के साथ पृथिवी आदि पदार्थों को अभिव्यक्त करने में समर्थ होता है।

सर्गप्रक्रिया में तन्मात्र-तत्त्व के स्तर पर गन्ध आदि विशेष धर्मों के अभि-व्यक्त न होने के कारण तन्मात्र-तत्त्व 'अविशेष' नाम से कहे जाते हैं। सर्ग के अगले

स्तर पर जहाँ गन्ध आदि विशेष धर्मों की अभिव्यक्ति हो जाती है, उन सूक्ष्म परमाणुरूप पृथिव्यादि को सांख्य-योग में 'विशेष' संज्ञा से अभिहित किया गया है।

अहंकार और तन्मात्र से होनेवाली सृष्टि बताई—

द्विविधानीन्द्रियाणि। भूतविशेषाश्च विकाराः।

अहंकार से उत्पन्न इन्द्रियाँ दो प्रकार की हैं—आन्तर और बाह्य। इनका विवरण सन्दर्भ के अगले वाक्यों से स्पष्ट हो जायगा। तन्मात्र-तत्त्वों के विकार पृथिवी आदि भूतविशेष हैं।

इन्द्रिय और उनके ग्राह्य विषयों का विवरण प्रस्तुत है—

चक्षुःश्रोत्रघ्राणजिह्वात्वचोबुद्धीन्द्रियाणि। रूपशब्दगन्धरसस्पर्शास्तेषामर्थाः। वाक्पाणिपादपायूपस्थाः कर्मेन्द्रियाणि। भाषणं क्रिया गमनमुत्सर्ग आनन्द एषां कर्माणि। वाय्वग्न्यबाकाशपृथिव्यो भूतविशेषाः। दशेन्द्रियाणि बुद्ध्य-हङ्कारमनांसि च करणानि। तेषु मनोबुद्ध्यहङ्काराश्चान्तःकरणानि। दश बहिष्करणानीन्द्रियाणि च।

ज्ञानेन्द्रिय पाँच हैं—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसन (जिह्वा), त्वक्। उनके ग्राह्य विषय यथाक्रम पाँच हैं—रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श। वाक्, पाणि (हाथ), पाद (पैर), पायु (गुदा), उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय) ये पाँच कर्मेन्द्रिय हैं। इनके निम्नलिखित यथाक्रम पाँच कार्य हैं—भाषण, क्रिया, गमन, उत्सर्ग (मल का बाहर निकालना), आनन्द—भिन्नलिंग-संसर्ग से वैषयिक सुखानुभूति। पाँच भूतविशेष हैं—वायु, अग्नि, अप् (जल), आकाश, पृथिवी। दस इन्द्रियाँ और बुद्धि, अहंकार, मन, ये तेरह 'करण' हैं। इन तेरहों की शास्त्रीय पारिभाषिकी संज्ञा 'करण' है। इन तेरह करणों में मन, बुद्धि, अहंकार तीन अन्तःकरण हैं। दस इन्द्रियाँ बाह्यकरण हैं।

प्रकृति आदि के स्वरूपलक्षण व उनके पर्याय अग्रिम वाक्यों से सन्दर्भकार बताता है—

गुणसाम्यलक्षणमव्यक्तं प्रधानं प्रकृतिर्विधानमित्यनर्थान्तरम्। अध्यवसाय-लक्षणो महान् बुद्धिर्मतिरुपलब्धिरित्यनर्थान्तरम्। अभिमानलक्षणोऽहङ्कारो वैकारिकोऽभिमान इत्यनर्थान्तरम्।

सत्त्व-रजस्-तमस् इन तीन गुणों की साम्य अवस्था-स्वरूप अव्यक्त—अनादि मूलतत्त्व प्रधान प्रकृति, विधान इत्यादि पर्याय—समानार्थवाचक पदों से व्यवहृत होता है। अव्यक्त प्रकृति से व्यक्त अवस्था में आया प्रथम तत्त्व महान् अध्यवसाय-स्वरूप होता है। अध्यवसाय का अर्थ है—निश्चयात्मक वृत्ति। निश्चयात्मिका वृत्ति, महत्तत्त्व अथवा बुद्धितत्त्व का लक्षण है, उसका स्वरूप अथवा चिह्न है। वह तत्त्व महान्, बुद्धि, मति, उपलब्धि इत्यादि पर्याय—समानार्थक पदों से व्यवहृत किया जाता है। अहंकार-तत्त्व अभिमान-वृत्तिवाला होता है। अभिमान-वृत्ति, अहंकार का लक्षण-स्वरूप अथवा चिह्न है। जब 'अहम्' के रूप में अभिमान-वृत्ति

उभरती है, तब वह अहंकार-तत्त्व का व्यापार है। वह वैकारिक, अभिमान इत्यादि पर्याय पदों से व्यवहृत होता है।

अग्रिम वाक्यसमुदाय से सन्दर्भकार सर्ग-प्रलय-क्रम का निर्देश करता है—

न पूर्वपूर्विका प्रकृतिः, प्रकृतेर्महानुत्पद्यते। ततोऽहङ्कारः। अहङ्कारात् तन्मात्राणीन्द्रियाणि च। तन्मात्रेभ्यो विशेषा इत्युत्पत्तिक्रमः। यो यस्मादुत्पद्यते स तस्मिल्लीयत इति वा[1]ऽप्ययक्रमः।

जिसके पूर्व अन्य कोई कारणतत्त्व नहीं है, ऐसी प्रकृति है, अर्थात् प्रकृति का अन्य कोई उपादानकारण नहीं है। प्रकृति किसी से उत्पन्न नहीं होती, वह अव्यक्त अनादि मूल तत्त्व है। प्रकृति का पहला कार्य महत्तत्त्व उत्पन्न होता है। महत् से अहंकार, अहंकार से तन्मात्र और इन्द्रियाँ उत्पन्न होते हैं। तन्मात्र-तत्त्वों से आकाश आदि भूतविशेषों की उत्पत्ति होती है। यह उत्पत्ति अर्थात् सर्ग का क्रम है। जब सर्ग का प्रतिसर्ग अर्थात् सर्ग का उलट=कार्यजगत् का प्रलय प्रारम्भ होता है, तब जो कार्य जिस उपादनतत्त्व से उत्पन्न हुआ है, उसी में लीन होता जाता है। पृथिव्यादि भूत तन्मात्र-तत्त्वों में, तन्मात्र और इन्द्रियाँ अहंकार में, अहंकार महत्तत्त्व में, महत्तत्त्व मूल प्रकृति में लीन-अन्तर्हित हो जाता है। यह प्रतिसर्ग-प्रलय का क्रम है।

देवल का एक ऐसा सन्दर्भ कृत्यकल्पतरु में उद्धृत है, जो याज्ञवल्क्य-स्मृति की टीका 'अपरार्का' में उद्धृत सन्दर्भ के साथ पूर्ण समानता रखता है। केवल दोनों के सन्तुलन की भावना से कृत्यकल्पतरु का पाठ प्रस्तुत है—

तत्र सांख्यानामेका मूलप्रकृतिः। सप्त प्रकृतिविकृतयः। महदहंकारौ। पञ्च तन्मात्राणि। षोडश विकाराः। पञ्च पञ्चेन्द्रियाणि। अर्थाश्च। पञ्च भूतविशेषाश्च। त्रयोदश करणानि। तेषां त्रीण्यन्तःकरणानि। दश बहिःकरणानि।

अथ मूलप्रकृतिरव्यक्तम्। महानहंकारः पञ्च तन्मात्राणीति प्रकृतिविकृतयः। शब्दतन्मात्रं, स्पर्शतन्मात्रं, रूपतन्मात्रं, रसतन्मात्रं, गन्धतन्मात्रमिति तन्मात्राणि। द्विविधानि इन्द्रियाणि, मनो भूतविशेषाश्च विकाराः। चक्षुःश्रोत्रघ्राणजिह्वात्वचो बुद्धीन्द्रियाणि। रूपशब्दगन्धरसस्पर्शास्तेषामर्थाः। वाक्पाणिपादपायूपस्थाः कर्मेन्द्रियाणि। भाषणं क्रिया गमनमुत्सर्गः प्रीतिरिति कर्मेन्द्रियार्थाः। वाय्वग्न्यबाकाशपृथिव्यो भूतविशेषाः। दशेन्द्रियाणि बुद्ध्यहंकारमनांसि च करणानि। तेषां मनोबुद्ध्यहंकाराश्चान्तःकरणानि। दश बहिःकरणानि इन्द्रियाणि च।

---

१. 'वा' के स्थान पर 'च' पाठ अधिक स्पष्ट है। 'वा' पद को भी भिन्नार्थक माना गया है। किसी भी पाठ में अर्थ का कोई भेद नहीं है। 'यो यस्मात्' इत्यारभ्य 'अप्ययक्रमः' इत्यन्तः पाठोऽत्र प्रसंगे कृत्यकल्पतरुग्रन्थे नास्ति।

Scanned with CamScanner

गुणसाम्यलक्षणमव्यक्तं प्रधानं प्रकृतिः विधानमित्यनर्थान्तरम्। अध्यवसायलक्षणो महान् बुद्धिर्मतिरुपलब्धिरित्यनर्थान्तरम्। अभिमानलक्षणोऽहंकारो वैकारिकोऽहंकारोऽभिमान इत्यनर्थान्तरम्।

सत्तामात्रलक्षणानि तन्मात्राणि। स्वानुग्रहलक्षणानीन्द्रियाणि। अक्षाणीन्द्रियाणीत्युच्यन्ते। संकल्पलक्षणं मनः। इन्द्रियार्थलक्षणा विषयविशेषा भूतानीत्यनर्थान्तरमिति।

सर्वपूर्विका प्रकृतिः। प्रकृतेर्महानुत्पद्यते। महतोऽहंकारः। अहंकारात् तन्मात्राणि इन्द्रियाणि च। तन्मात्रेभ्यो विशेषा इत्युत्पत्तिक्रमः।

(मोक्षकाण्ड, पृष्ठ १००-१०१)

इसकी व्याख्या गत पृष्ठों में आ गई है। अब देवल के उन सन्दर्भों की व्याख्या प्रस्तुत है, जो कृत्यकल्पतरु ग्रन्थ में विभिन्न स्थलों पर देवल के नाम से उद्धृत हैं, तथा सांख्य-योग के साथ आंशिक भी सम्बन्ध है। सन्दर्भ का प्रारम्भ इस प्रकार है—

तत्र देवमानुषतिर्यगनुवृत्तौ देवलः—

अब वहाँ प्रसंगप्राप्त देव, मनुष्य और तिर्यक् (पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि) प्राणियों की शरीर-रचना के अनुक्रम (सिलसिले) में देवल कहता है—

तेषां त्रिविधो मूर्तिविशेषः—द्युतिमत्, सुगन्धि, अनिष्पाद्यम्, अनाविलम्, अनिमिषम्, अस्वेदम्, क्षुत्पिपासानिद्रालस्यवर्जितम्, यथेष्टाकृतिबलसन्नहनम्, ऊर्जस्वि, निर्मलम्, परमपुष्कलम्, सुकृतनिमित्तं देवताशरीरम्।

देव आदि प्राणियों के शरीर विशेष रचनाओं से युक्त तीन प्रकार के होते हैं। उनमें देवों का शरीर कान्तियुक्त, सुगन्धित, उनके शरीर की यह कान्ति व शोभन गन्ध बनावटी नहीं होते, स्वाभाविक होते हैं—(अनिष्पाद्यम्), देह और चरित्र की मलिनता से रहित, पलक न झपकनेवाला (सतर्क), पसीने से रहित, भूख-प्यास-निद्रा-आलस्य आदि से रहित, इच्छानुसार आकृति शक्ति आदि से संघटित अर्थात् दृढ़, प्रभावशाली अर्थात् रोबदाबवाला, स्वच्छ, अन्तिम स्तर तक पूर्ण अर्थात् जिसमें किसी तरह की कोई कमी नहीं, धर्मकार्यों से प्राप्त किया होता है।

देवशरीरों के इस वर्णन में कुछ ऐसी बातें हैं, जो चमत्कारपूर्ण मालूम होती हैं। जैसे—शरीर में से सुगन्ध आना, पलक न झपकना, पसीना न आना, भूख-प्यास आदि का न होना, इच्छानुसार आकृति व बल आदि का होना प्रभृति। पर इनमें चमत्कार की कोई बात नहीं है। ये विशेषण उनके रहन-सहन, सामाजिक स्तर, उनकी कर्मठता, सतर्कता आदि का ही संकेत करते हैं। इनसे यह भी स्पष्ट होता है कि उनके शरीर भौतिक हैं, जिनमें कान्ति-ओज आदि झलकता है, शरीर में यथास्थान इन्द्रियाँ हैं, सोना-जागना है, खाना-पीना है। यहाँ यह नहीं बताया ऐसे शरीरवाले देव भूभाग को छोड़कर किसी लोकान्तर में रहते हैं। यदि ऐसा हो,

तो भूमिवासियों के साथ उनका वर्णन व सन्तुलन व्यर्थ है, हमारे किसी प्रयोजन का नहीं, क्योंकि हम उसके विषय में कुछ नहीं जानते। फलतः ऐसा स्वीकार किया जाना चाहिए कि जिन देवशरीरों का यह वर्णन है, वे देव इस पृथिवी पर ही निवास करते हैं।

अब तथाकथित चमत्कारों के विषय में कहा जा सकता है—शरीर में से सुगन्ध आने का तात्पर्य यही है कि उन शरीरों से अच्छाई का ही गन्ध आता है, यह उनकी दैहिक और चारित्रिक स्वच्छता का द्योतक है, जो एक अन्य विशेषण से स्पष्ट होता है। पलक न झपकने का तात्पर्य यही है कि वे अपना प्रत्येक कार्य आँख खोलकर सतर्कता के साथ करते हैं, अन्धाधुन्ध या अविचारपूर्वक कभी नहीं करते। पसीना न आने का उल्लेख अनेक कारणों से सम्भव है। यह हो सकता है, उनका निवास किसी शीत कटिवन्ध-प्रदेश में प्रायः रहता है। यह भी सम्भव है, वे शक्ति से अधिक श्रम न करते हों। यह अधिक सम्भव है, पसीना आदि आने पर तत्काल अपने देह व वस्त्र आदि को स्नान व प्रक्षालन से स्वच्छ कर लिया जाता हो, और यह उनके रहन-सहन का स्वभाव हो। पसीने से तर-ब-तर देह व उसमें भीगे-सने कपड़ों को पहनते रहने पर ही अन्य व्यक्तियों को पसीने का आना व उसकी मलिनता का पता लगता है। यदि ऐसी स्थिति को कभी न आने दिया जाय, तो देखने-जाननेवाले यही कहेंगे कि ये तो ऐसे रहते हैं, जैसे इन्हें कभी पसीना आता ही न हो।

आधिभौतिक शरीर के रहते भूख-प्यास न हो, यह असम्भव है। भूख-प्यास से कष्ट न उठाना, भूख-प्यास न लगने के बराबर है। देवों का समाज प्रायः साधन-सम्पन्न रहता है। अपेक्षित साधनों की उनके पास कमी नहीं रहती। समझना चाहिए, अभाव से वे कभी उत्पीड़ित नहीं होते। निद्रा या आलस्यरहित होना उनकी सक्रियता का द्योतक है। इच्छानुसार आकृति का होना यह तात्पर्य नहीं है कि वे बहुरूपियों की तरह या उनसे भी बढ़-चढ़कर अपनी शक्लें बदलते रहते हैं। देवों का जो अपना स्तर है, उसमें ऐसी निम्नकोटि की बातों के लिए कोई अवसर नहीं होता। सम्भव है, वे सन्तति-प्रजनन के विषय में बहुत सतर्क रहते हैं। उन्होंने उन पद्धतियों को जाना-समझा होता है, जिनके प्रयोग से सन्तान सुडौल, स्वस्थ, नीरोग, आकर्षक आकृतियुक्त हों। वस्तुतः मानव-समाज के उन विशिष्ट व्यक्तियों को देव माना गया है, जो उक्त गुणों से युक्त रहते हैं। न इनका अन्य कोई विशेष देश है, न कोई विचित्र समाज, न आकृति आदि।

मानुष्यशरीर-वर्णन

अनित्यमशुभम्, सर्वरोगायतनम्, दुःखभाजनम्, अनेकबाधम्, अस्थिसंघात-शिरास्नायुनद्धम्, मांसावलिप्तम्, त्वक् प्रतिच्छन्नम्, अन्नरसनानाशोणितमेदो

Scanned with CamScanner

मांसमज्जारेतः पित्तानिलश्लेष्मान्त्रगुद बस्तियकृत्प्लीहाक्लेदस्वेदमूत्रपुरीषक्रमिपूर्णम्, नवच्छिद्रम्, क्षन्ततास्रवम्, केशरोमनखपर्यन्तम्, दुर्गन्धि, नित्यसंस्कार्यम्, जरामरणवशमिति मानुषशरीरम्।

साधारण मनुष्यों का शरीर नश्वर, क्षणभंगुर, अशुभ, सब प्रकार के रोगों का घर, दुःख का देनेवाला, अनेक बाधाओं से भरा, हड्डियों का ढेर, नस-नाड़ियों से जकड़ा हुआ, मांस से लपेटा हुआ, खाल से ढका हुआ, अन्नपान आदि रसों से बने विविध रक्त, मेदस, मांस, मज्जा, रज, वीर्य, पित्त, वात, श्लेष्मा, आंत, गुदा, बस्ति, जिगर, प्लीहा, नमी, पसीना, मूत्र, पुरीष, कृमि-कीट आदि से भरा हुआ, नौ छेदोंवाला, सदा बहाववाला, केश, लोम, नख पर अन्तवाला, दुर्गन्ध से युक्त, सदा संस्कार (सफाई-शुद्धता) की अपेक्षा रखनेवाला, बुढ़ापा और मौत के वश में आनेवाला होता है।

तिर्यग्योनिशरीर-वर्णन

सन्ततोद्विग्नम्, असंस्कारम्, विधृतनिष्पदम्, क्षुत्पिपासावशम्, मूढेन्द्रियगोचरम्, दुष्कृतायनम्, अज्ञानम्, अकर्मण्यम्, इति तिर्यग्योनिशरीरम्।[1]

निरन्तर बेचैन रहनेवाला, जिनका कभी संस्कार = सफाई-शुद्धता आदि स्वयं नहीं किया जाता, ऐसी स्थिति में रहना जिसका कोई नियत आश्रय—निश्चित ठिकाना न हो, भूख-प्यास आदि से सदा चिन्तित रहना, इन्द्रिय तथा इन्द्रियों के विषय सदा जहाँ मोह से, घोर अज्ञान से अभिभूत रहते हैं, घोर कुकर्मों का फलस्वरूप घर अथवा मार्ग, गहन अज्ञान में दबा हुआ, कर्महीन, जहाँ अपने अभ्युदय के लिए कोई कर्म न किया जा सके, केवल भोगयोनिरूप,—इस प्रकार का होता है पशु, पक्षी, कृमि, कीट, पतंग आदि योनियों का शरीर।

तीन प्रकार के बन्ध और बन्धहेतु

प्रकृतिबन्धो वैकारिकबन्धो दक्षिणाबन्ध इति बन्धत्रयी तत्राऽव्यक्तादिभिरष्टभिर्बन्धः प्रकृतिबन्धः। इन्द्रियैरिन्द्रियार्थेषु बन्धो वैकारिकबन्धः। इष्टापूर्त्तादिभिर्बन्धो दक्षिणाबन्धः। तत्र प्रकृतिषु बन्धो देवानाम्, दक्षिणाभिराश्रमिणाम्, वैकारैरन्येषाम्। धर्मोऽज्ञानानि च बन्धहेतवः।

प्रकृतिबन्ध, वैकारिकबन्ध, दक्षिणाबन्ध, ये तीन प्रकार के बन्ध हैं। इनमें अव्यक्त आदि आठ प्रकृति-तत्त्वों से होनेवाला बन्ध प्रकृतिबन्ध कहा जाता है।

सत्त्व-रजस्-तमस् अव्यक्त प्रकृति एक, महत्, अहंकार तथा पाँच तन्मात्र, ये

---

१. देवादि शरीर-वर्णन के तीनों सन्दर्भ द्रष्टव्य—कृत्यकल्पतरु, मोक्षकाण्ड, पृष्ठ १०९।

सात प्रकृति-विकृतिरूप में मिलकर आठ प्रकृति-तत्त्व हैं। इनके अन्वेषण-विवेचन में फँसे रहना प्रकृतिबन्ध है। गन्ध, रस, रूप आदि इन्द्रिय-विषयों में इन्द्रियों के द्वारा आकर्षण बना रहना वैकारिकबन्ध है। इष्टापूर्त्त आदि धर्मकार्यों में प्रचुर दक्षिणा-दान आदि पुण्य कार्यों को जीवन का सर्वोच्च ध्येय समझकर उन्हीं में फँसे रहना दक्षिणाबन्ध कहा जाता है। प्रकृतिबन्ध देवों का, दक्षिणाबन्ध आश्रम (गृहाश्रम) धर्म पालन करनेवालों का, तथा वैकारिकबन्ध अन्य व्यक्तियों का होता है। धर्म और अज्ञान बन्ध के हेतु हैं। दर्श, पौर्णमास तथा अन्य ऋतु-सम्बन्धी यज्ञ 'इष्टि' कहलाते हैं। धर्मशाला, बावड़ी, कुआँ, प्याऊ आदि बनवाना 'पूर्त्त' है।[1]

पुरुषार्थ के दो प्रकार

देवमनुष्ययोर्द्विविधः पुरुषार्थः—अभ्युदयो निःश्रेयसमिति। तयोरभ्युदयः पूर्वोक्तः। द्विविध[2] निःश्रेयसमिति सांख्ययोगौ। पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानं सांख्यम्। विषयेभ्यो निवृत्य अभिप्रेतेऽर्थे मनसोऽवस्थापनं योगः। उभयत्रापवर्गः फलम्। (पृष्ठ १६५)

देव और मनुष्यों का पुरुषार्थ दो प्रकार का है—अभ्युदय और निःश्रेयस। इन दोनों में अभ्युदय का कथन पहले कर दिया है। निःश्रेयस दो प्रकार का है, अर्थात् निःश्रेयस के दो मार्ग हैं—सांख्य और योग। पच्चीस तत्त्वों का साक्षात्कार=ज्ञान सांख्य हैं। तात्पर्य है—सांख्य-पद्धति से प्रकृति और प्राकृत जड़तत्त्व तथा पुरुष चेतन तत्त्व के विवेक अर्थात् भेद का साक्षात् ज्ञान होना सांख्य है। सांसारिक विषयों से अलग हटकर अभिप्रेत—अभिलषित अर्थ—चेतन आत्मतत्त्व—में मन का लगाना योग है। बाह्यवृत्तियों से मन को अलग रख आन्तरवृत्ति बनाना, अर्थात् आत्मचिन्तन एवं प्रणवजप आदि के द्वारा समाधि-अवस्था को प्राप्त करना योग है। सांख्य-योग दोनों पद्धतियों से आत्मसाक्षात्कार का फल अपवर्ग (मोक्ष) है।

वानप्रस्थ धर्म

सर्वप्राणिष्वनुक्रोशः, हृदयतुष्टिः, अपायचिन्तनम्, सर्वोपभोगवर्जनम्। भूमिशिलातृणसिकताशर्कराणाभव्यतमाधिशयनम्। सदा सत्त्वबोधः। धर्म आर्जवं अनर्दनं चेति।[2]

अब वानप्रस्थ के धर्मों का कथन किया जाता है—सब प्राणियों पर दया करना, अन्तरात्मा में सदा सन्तुष्ट रहना, सम्मुख आनेवाली बाधाओं को दूर हटाने

---

१. तीन बन्धों का विस्तृत विवरण पंचशिख प्रसंग के ३९वें सन्दर्भ की व्याख्या में द्रष्टव्य है। यह सन्दर्भ कृत्यकल्पतरु, मोक्षकाण्ड के पृष्ठ १२४ पर उद्धृत है।

२. यह सन्दर्भ कृत्यकल्पतरु के 'वानप्रस्थधर्म' नामक प्रकरण में उद्धृत है।

के लिए विचार करना—ये बाधाएँ शारीरिक-मानसिक दोनों प्रकार की सम्भव हैं। सब प्रकार के भोगों का परित्याग करना। इन्द्रियों के विषयों का रुचिकर भावना के साथ सेवन करना भोग है। वानप्रस्थ आश्रमी को ऐसे भोग का सर्वथा परित्याग अभीष्ट होना चाहिए। नंगी भूमि पर शयन करने में अनुकूलता का अनुभव करे, कष्ट न माने; चाहे वह भूमिस्थल चपाट पत्थर (शिला) हो, चाहे घास से भरा हो, रेतीला हो या कंकरीला हो। यह शरीर को तपःपूत, द्वन्द्व-सहिष्णु आदि बनाने के लिए प्रयास होता है, जिससे आगे संन्यास आश्रम में व्रतभ्रष्ट न होना पड़े। सदा सात्त्विक भावनाओं में अपनी प्रवृत्ति बनाए रक्खे। धर्म का आचरण करे, सदा सरलता का व्यवहार रक्खे, किसी को कष्ट या त्रास कदापि न पहुँचाए।

यतिधर्म

परिव्राजको दीक्षाप्रभृति सर्वारम्भान् परित्यजेत्। चतुर्मासान्तरं केशश्मश्रूण्यपनयेत्। नाधौतः श्मश्रुरोमाणि। विद्याचारकुलवयोवृत्तानि परेभ्यो न कथयेत्। (पृष्ठ ४६)

संन्यास आश्रम की दीक्षा के समय से परिव्राजक को सब प्रकार की सांसारिक प्रवृत्तियों का परित्याग कर देना चाहिए। चार महीने के अन्तर से दाढ़ी, मूँछ व सिर के बालों को कटवाते (मुँडवाते) रहना चाहिए। दाढ़ी, मूँछ व सिर के बालों को निरन्तर रखता हुआ व्यक्ति पूर्ण पवित्र नहीं रह सकता। कारण यह है कि बड़े बालों की सेवा के लिए उनकी सफाई, तेल, कंघी आदि का प्रयोग आवश्यक होता है, इससे वैषयिक कामना उभरती हैं, जो परिव्राजक को अध्यात्ममार्ग से वंचित कर पतित बना सकती हैं। अपनी विद्या, अपना अध्यात्मविषयक दैनिक आचार (जप, उपासना आदि की प्रक्रिया), कुल तथा अपनी आयु आदि के विषय में अन्य व्यक्तियों से कोई चर्चा नहीं करनी चाहिए।

नित्यं प्रत्यादित्ये निवृत्तमुसलोद्यमे प्रशान्तधूमे काले ग्रामं प्रविश्य, भैक्षार्थं सर्वतः पर्यटन् अग्रतो युगमात्रमवलोक्य संकल्पितानि विवृतद्वाराणि अन्यवचनेऽनासक्तः प्रविशेत्। प्रविष्टः संकल्पप्रणयकुहकचिन्मयविलम्बपरिहासयाचनाप्रेक्षितादि परिहरेत्। गोदोहनमात्रं स्थित्वा व्रजेत्। भिक्षां लब्ध्वा न प्रहृष्येत्। अलब्ध्वा न क्रुध्येत्। अन्त्यवसायि परिपन्थिज्ञातीश्वरप्रेतभूतकभिक्षां नोपलभ्यां प्रतिहतां गृह्णीयात्। आत्मनः संस्कृतां परबाधाकरीं वर्जयेत्। मधुमांसकुबीजविरहितां गृहीत्वा तद्भैक्षमेकान्ततो नैवपात्रेणान्येन वा तूर्णीं भूत्वा मात्रया भुञ्जीत। (पृष्ठ ५६)

परिव्राजक को चाहिए, वह प्रतिदिन सूर्योदय होने पर जब महिलाओं का कूटना-पीसना कार्य समाप्त हो जाता है, हवन और चूल्हों का धुआँ जब कहीं दिखाई नहीं देता, ऐसे समय ग्राम में प्रविष्ट होकर भिक्षा के लिए सब ओर घूमता हुआ,

युगमात्र[1] दूरी तक अथवा चार हाथ दूरी तक देखकर पहले से निर्धारित खुले द्वार-वाले घरों में—अन्य किसी के साथ बातचीत की उपेक्षा करता हुआ प्रवेश करे। प्रविष्ट होकर संकल्प (पहले से सोची हुई ऐसी बात जिसका भिक्षा से कोई सम्बन्ध न हो), प्रणय (प्यार की बात या प्यार का प्रदर्शन), छल कपट या धोखा-धड़ी से भरी बात या चेष्टा, विलम्ब (देर तक खड़े रहना), परिहास, याचना (भिक्षा से अन्य वस्तु का माँगना), इधर-उधर देखने आदि का परिहार करे; अर्थात् भिक्षा के लिए घर में प्रवेश कर इन बातों से सदा अपने-आपको बचाए रक्खे।

गाय दुहने में जितना समय लगता है (लगभग तीन-चार मिनट) उतना समय ठहरकर चल पड़े। भिक्षा प्राप्त कर हर्ष प्रकट न करे। भिक्षा न मिलने पर क्रोध न करे। अधम जाति का व्यक्ति जो मांस आदि विक्रय करता हो, विरोधी—कार्यों में रोड़ा अटकानेवाला, पैतृक सम्बन्धी—पिता, भाई, चाचा, ताऊ आदि जो पहले अपना मालिक रहा हो, ऐसे व्यक्तियों से मिलनेवाली, तथा भूत-प्रेत निमित्त से (भूत-प्रेत उतारने के लिए जो दान किया जाता है, ऐसी) मिलनेवाली घृणित भिक्षा को ग्रहण न करे। स्वयं पकाई हुई तथा दूसरों को बाधा करनेवाली भिक्षा का परित्याग करे। मधु, मांस तथा कुत्सित अन्न से रहित भिक्षा को ग्रहण कर, उस समस्त भिक्षा-सामग्री को कमर में बँधी धोती के पल्ले से अथवा किसी अन्य साधन से एकान्त में ले-जाकर चुपचाप उचित मात्रा में खाये।

स भिक्षुः—अरागानुक्रोशप्रधानः, मुण्डितकषायी, त्रिदण्डकमण्डलुपवित्रपात्र-पादुकासनः, कन्थामात्रः, ज्ञानरतिः, आत्महृष्टः, बन्धुभिरसंपृक्तः, निरपेक्षः, परातिक्रमक्षीणविगतपापः, समसृत्काञ्चनः, स्वमात्रास्वव्यसक्तः, मध्यस्थः, निष्परिग्रहः, ब्रह्मवादी, मङ्गलव्यवहारसंस्कारजीवः, शिखारत्नधनधान्य-विषयोपभोगसंपर्केर्ष्यादर्प-मोहमायाहर्षविरोधविस्मयविवादत्रासवितर्कतन्द्र-श्चेति यतिधर्माः।[1] (पृष्ठ ५०)

वह भिक्षु कैसा हो, यह बताया--उसमें वैराग्य और दया की अधिक मात्रा हो, सिर मुँडा हुआ और वस्त्र गेरुए हों, त्रिदण्ड कमण्डलु, पवित्र (दूब घास का बना छल्ला अंगुलिधारित), अन्य अपेक्षित पात्र, पादुका, आसनसहित, गुदड़ी (ओढ़ने का केवल एक वस्त्र), ज्ञान में आसक्ति रखनेवाला, अपने-आपमें प्रसन्न रहनेवाला, बन्धु-बान्धवों से सम्पर्क न रखनेवाला, किसी की अपेक्षा—चाहना—न करनेवाला, अपनी उत्कृष्ट क्रमिक दिनचर्या से, जिसके पूर्व किये पाप क्षीण हो चुके हैं, मिट्टी और सुवर्ण में समान भावना रखनेवाला, अपनी सीमित सामग्री—दण्ड, कमण्डलु, कन्था आदि परिच्छद में भी आसक्ति न रखनेवाला, उदासीन भाव से रहनेवाला

१. ये तीन सन्दर्भ कृत्यकल्पतरु ग्रन्थ के 'यतिधर्म' प्रकरण में देवल नाम से उद्धृत हैं।

अर्थात् किसी से लग-लगाव न रखनेवाला, वस्तु-संग्रह की भावना से रहित, ब्रह्म में विश्वास रखनेवाला अथवा केवल ब्रह्म-विषयक प्रवचन व चर्चा करनेवाला, कल्याणकारी व्यवहार व अपने उच्च संस्कार बनाने में जीवन लगानेवाला, शिखा, रत्न, धन, धान्य, विषयों का उपभोग, विषयों के साथ सम्पर्क, ईर्ष्या, दर्प, मोह, माया, हर्ष, विरोध, विस्मय, विवाद, त्रास (अन्य को सताना), वितर्क (साधारण बातचीत में झंझट खड़ा करना), तन्द्रा आदि परिस्थितियों तथा भावनाओं से सदा बचकर रहनेवाला हो, ये यति—परिव्राजक—संन्यासी के धर्म ऋषियों ने बताये हैं।

अन्तिम पंक्ति में सब बातें परिहार्य बताई गई हैं। परन्तु इस अर्थ को अभिव्यक्त करनेवाला कोई पद वहाँ नहीं है। यदि पंक्ति के प्रारम्भ में 'वि' उपसर्ग लगा दिया जाय, तो उक्त अर्थ अभिव्यक्त हो जाता है। अथवा पंक्ति के अन्त में 'तन्द्रश्चेति' पाठ के स्थान पर 'तन्द्राविहीनश्चेति' या 'तन्द्रादिरहितश्चेति' पाठ मानने पर अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

अथातः पापदोषान् मनोवाक्यशरीरजान् व्याख्यास्यामः। तत्र मोहरागद्वेषमानलोभमदशोकममत्वाऽहंकारभयहर्षमोघचिन्ताश्चेति[1] द्वादश मानसाः।
(पृष्ठ ८४)

अब यहाँ से आगे मन-वाणी-शरीर द्वारा किये जानेवाले पापरूप दोषों का व्याख्यान करेंगे। इनमें मन द्वारा किये जानेवाले दोष निम्नलिखित हैं—मोह, राग, द्वेष, मान, लोभ, मद, शोक, ममता, अहंकार, भय, हर्ष, व्यर्थ की चिन्ता करना। ये दोष सर्वविदित हैं। अध्यात्म-मार्ग पर चलनेवाले व्यक्ति के लिए ये दोष हैं। संसारी व्यक्ति के लिए ये साधारण व्यवहार की स्थिति हैं। वह भी इनमें से किन्हीं दोषों से बच सके तो बहुत अच्छी बात है। दोष कहीं पर हो, उसका परित्याग कल्याणकारी होता है।

रागद्वेषमोहाः कषाया उच्यन्ते। तेषां यमनियमलक्षणेन तपसा पञ्चविधेन तत्त्वज्ञानेन चापकर्षणम्, कषायपाचनम्। (पृष्ठ १६८)

अध्यात्मशास्त्र में राग, द्वेष और मोह को 'कषाय' नाम से कहा जाता है। तात्पर्य है—अध्यात्मशास्त्र में यदि कहीं 'कषाय' पद का प्रयोग हो, तो उससे राग, द्वेष, मोह का ग्रहण करना चाहिए।

लोक-व्यवहार में इस पद का प्रयोग अनेक अर्थों में होता है। जब इसका प्रयोग विशेषणरूप में किया जाता है, तब इसका अर्थ होता है—कसैला, सुगन्धित, गहरा लाल, अथवा मधुर स्वरवाला इत्यादि। विशेष्य पद के रूप में इसका प्रयोग पुंल्लिग, नपुंसकलिंग दोनों में होता है। तब अर्थ होगा—कसैला स्वाद या कसैला

---

१. मूल के 'मोघवित्ताश्चेति' पाठ को 'मोघचिन्ताश्चेति' हमने बना दिया है। यह कृत्यकल्पतरु ग्रन्थ के 'कामादिवर्जन' नामक प्रकरण में देवल नाम से उद्धृत है।

Scanned with CamScanner

रस ; तथा मलिन, मैला, उपयोग में न आने योग्य, विषयों में आसक्ति आदि। दर्शन अथवा अध्यात्मशास्त्र में इस पद का यही अर्थ अभिप्रेत रहता है। गौतम के न्यायशास्त्र[1] में इन्हीं (राग, द्वेष, मोह) के लिए 'दोष' नाम दिया गया है। गीता में 'कषाय' पद का प्रयोग तो नहीं हुआ, पर लगभग इसी अर्थवाले 'कल्मष' पद का प्रयोग है। चित्त की ऐसी स्थिति में राग-द्वेष का उभार प्रबल रहता है, जिसका कारण मोह अर्थात् अज्ञान है। जो भाव गौतम ने उक्त सूत्रों में अभिव्यक्त किया है, उसीका उपयुक्त विस्तार गीता के तीन-चार-पाँच अध्यायों में हुआ है। संन्यासी का स्वरूप बताते हुए गीता (५।३) कहती है—राग-द्वेष का न रहना ही वास्तविक संन्यास है। इस कषाय को—मैल को—धो डालने के लिए ही अध्यात्मशास्त्र उपाय बताने में प्रवृत्त होता है।

सन्दर्भ का अगला भाग वही उपाय बताता है—'तेषां यमनियमलक्षणेन'—इत्यादि। उन राग-द्वेष-मोह कषायों को—पाँच प्रकार के 'यम' तथा पाँच प्रकार के 'नियम'-रूप तप के द्वारा तथा अनन्तर होनेवाले तत्त्वज्ञान के द्वारा—दूर करे, उनका अपकर्षण = विनाश करे। सन्दर्भ का अन्तिम पद 'कषायपाचनम्' अपकर्षण का ही अर्थ है। किसी वस्तु का अन्त होना, उसका पक जाना है। कषाय—यम, नियम के अनुष्ठानरूप तप और आगे शास्त्रबोधित उपायों के फलस्वरूप तत्त्वज्ञान से—दूर हट जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं। तत्त्वज्ञान अर्थात् आत्मसाक्षात्कार अज्ञान को—मोह को दूर करता है; मोह के हट जाने पर—उसी के बल से कूदने-उछलनेवाले राग-द्वेष स्वतः दम तोड़ बैठते हैं। यम, नियम तथा आत्मज्ञान के अन्य उपायों का विस्तृत विवरण योगशास्त्र[2] में उपलब्ध है।

आगे लम्बे सन्दर्भ द्वारा प्राणायाम का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है। सन्दर्भ है—

त्रिविधः प्राणायामः—कुम्भो रेचनं पूरणमिति। निश्वासनिरोधः कुम्भः। अजस्रनिश्वासो रेचनम्। निश्वासाध्मानं पूरणमिति।

प्राणायाम तीन प्रकार का है—कुम्भ, रेचन, पूरण। इन नामों के लिए यथाक्रम कुम्भक, रेचक, पूरक पदों का भी प्रयोग होता है। इनमें श्वास को एक जगह रोके रखना 'कुम्भक' नाम प्राणायाम कहा जाता है। निश्वास का वेग से बाहर निकालना 'रेचक' तथा निश्वास का बाहर से भीतर को भरना 'पूरक' प्राणायाम है। इसका विस्तृत विधान व विवरण योगदर्शन में देखना चाहिए।

सन्दर्भकार उक्त प्राणायाम के अन्य भेद बताता है—

स पुनरेकद्वित्रिभिरुद्घातैर्मृदुर्मन्दस्तीक्ष्णो वा भवति। प्राणापानव्यानोदान-

---

१. द्रष्टव्य—१।१।१८॥ तथा ४।१।२-९।

२. द्रष्टव्य—योगदर्शन, साधनपाद, सूत्र ३० से ४५ तक।

समानानां सकृदुद्गमनं मूर्द्धानमाहृत्य निवृत्तिश्चोद्वातः। तत्र ऊर्ध्वं नाभेर्गतो रेचनोच्छ्वासक्षरणोद्गारकर्मा प्राणः। अधोनाभेरुत्सर्गानन्दकर्माऽपानः। शाखासम्बन्धिस्कन्धाविष्टः प्रसारणावक्षेपणाकुञ्चनभ्रमणरेचनवमनगमन-कर्मा व्यानः। बाहूरुग्रीवावक्षुःपार्श्वगतः चेष्टाविक्रमबलाधानकर्मा उदानः। श्रोत्रहृदयनाभिगतः सर्वकर्मा स्यन्दनावबोधनानां समायतन इति समानः।

वह तीन प्रकार का प्राणायाम पुनः एक-दो-तीन उद्वातों के साथ किया गया यथाक्रम मृदु-मन्द-तीक्ष्ण नामवाला होता है। एक उद्वात के साथ किया गया प्राणायाम मृदु, दो के साथ मन्द और तीन उद्वात के साथ तीक्ष्ण होता है। उद्वात क्या है? सन्दर्भकार ने स्वयं बताया—'प्राणापान०—निवृत्तिश्चोद्वातः।' प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान नामक सभी प्राणभेदों का एक-साथ नाभिप्रदेश से ऊपर को उठना तथा मूर्द्धा-स्थान में टक्कर खाकर नासिका-द्वार से बाहर होकर निवृत्त हो जाना 'उद्वात' कहा जाता है। यह प्राणायाम की विधि है। एक उद्वात के अनन्तर पूरक, कुम्भक, रेचक करने पर एक मृदु प्राणायाम है; दो उद्वात के अनन्तर उक्त प्राणायाम करना मन्द ; तथा तीन उद्वात के अनन्तर करना तीक्ष्ण-संज्ञक प्राणायाम है।

उद्वात के अनन्तर थोड़ा कुम्भक कर पुनः पूरक होता है, तदनन्तर पूर्ण कुम्भक, पुनः रेचक ; यह ध्यान रखना चाहिए। इतनी क्रिया पर एक प्राणायाम होता है। 'उद्वात' को पुनः समझना चाहिए—शरीर के अन्दर के समस्त वायु को एक-साथ नाभि-प्रदेश से ऊपर मूर्द्धा तक खींचकर झटके के साथ नासिका-द्वार से बाहर फेंक देना, एक 'उद्वात' है। इसी के बाद थोड़ा कुम्भक कर पूरक आदि प्राणायाम करना 'मृदु' प्राणायाम है। लगातार दो उद्वात के अनन्तर प्राणायाम-क्रिया प्रारम्भ करने पर यह प्राणायाम 'मन्द' तथा तीन उद्वात के अनन्तर प्राणायाम करना 'तीक्ष्ण' होता है। उद्वात से शरीरान्तर्वर्ती वायु अधिकाधिक बाहर हो जाने से कुम्भक के अधिक समय तक चलने में अनुकूलता हो जाती है। एक, दो, तीन उद्वात की यही विशेषता है।

प्राण, अपान आदि सब प्राणों के—शरीर में—विशिष्ट स्थान और उनके कार्य सन्दर्भकार बताता है—'तत्र ऊर्ध्वम्०—' इत्यादि। शरीर में विभिन्न प्राणों के स्थान और कार्यों को निम्न प्रकार समझना चाहिए। नाभि के ऊपरी भाग में 'प्राण' विद्यमान रहता है। उसका कार्य है—श्वास, प्रश्वास, मुख व नासिका से तरल द्रव्य का भीतर व बाहर को बहाव तथा डकार व उबासी आदि का आना। नाभि के अधोभाग में 'अपान' का स्थान है। उसका कार्य है—मल, मूत्र का परित्याग, तथा पुं-नारी-सम्पर्क से आनन्दानुभव में साधन होना। रज, वीर्य के क्षरण में, अर्थात् अपने स्थान से छूटकर विशिष्ट स्थानों में गति करते हुए रज-वीर्य के सम्मिलन में यह अपानसंज्ञक प्राण निमित्त रहता है। इसी कारण स्त्री-प्रसंग के

Scanned with CamScanner

अवसर पर गुदा को अँगुली से दबाते रहने पर वीर्य-क्षरण शीघ्र नहीं हो पाता; ऐसे संकेत कामशास्त्र में मिलते हैं। व्यानसंज्ञक प्राण शरीर के उन सन्धि-स्थलों (जोड़ों) में विद्यमान (आविष्ट) रहता है, जहाँ बाँह, टाँग, घोंटू आदि शरीर के मुख्य मध्य भाग से जुड़ते हैं। इसका कार्य है—बाहों, टाँगों को फैलाना, सिकोड़ना, घुमाना, झटके के साथ कोई वस्तु हाथ या पैर से फेंकना, रेचन, वमन व साधारण चलना-फिरना आदि। 'उदान'-संज्ञक प्राण का स्थान बाहु, ऊरु (जाँघ), ग्रीवा और चक्षु के पार्श्वभाग में रहता है। इन स्थानों से विभिन्न प्रकार की चेष्टा करना, साहस व बल का प्रदर्शन करना इस प्राण का कार्य है। 'समान'-नामक प्राण का स्थान श्रोत्र, हृदय व नाभि माना गया है। यह शरीर की सब प्रकार की क्रियाओं में सन्तुलित योगदान करता है; रक्तवहा व ज्ञानवहा नाड़ियों का समंजस आयतन है, उपयुक्त आधार है। सर्वत्र सन्तुलन व सामंजस्य का नियामक होने से इसने 'समान' नाम पाया है।

प्राणायाम का निरूपण कर सन्दर्भकार ने बताया, प्राणायाम किन अवस्थाओं में नहीं करना चाहिए—

ग्लानो विविस्यः सुषुप्सुः उद्विग्नः क्षुधितो व्याधितः शीतोष्णार्दितः संप्राप्त-वेगो वा प्राणायामं न युञ्जीत। (पृष्ठ १७०)

ग्लानि हो, उदर में अपाचन आदि की स्थिति हो, विक्षुब्ध अवस्था हो, निद्रा आ रही हो, किन्हीं वाह्य निमित्तों से बेचैनी हो, भूख-प्यास की तीव्रता हो, शरीर में कोई रोग उभर रहा हो, सरदी या गरमी के आधिक्य से क्लेश का अनुभव हो रहा हो, मल-मूत्र का वेग हो, इन अवस्थाओं में प्राणायाम न करे।

प्राणायाम के अनन्तर सन्दर्भकार ने प्रत्याहार योगांग का स्वरूप बताया—

अणुत्वाच्चापल्याल्लाघवाद् बलवत्त्वाद्वा योगभ्रष्टस्य मनसः पुनः प्रत्यानीयार्थे योजनं प्रत्याहारः। (पृष्ठ १७३)

अणु होने से, चंचल होने से, त्वरितगति होने से अथवा अतिशय बलशाली होने के कारण योगमार्ग से विचलित हुए मन का—पुनः उधर से मोड़कर उपयुक्त योग-सम्बन्धी कार्य में लगाना 'प्रत्याहार' नामक योगांग है।

देवल ने सन्दर्भ के प्रथम पद से मन को 'अणु' कहा है। कपिल मन को अणु मानता है (सां० सू० ३.१४)। इसके विपरीत पातंजल योगदर्शन के भाष्यकार व्यासदेव ने योगसूत्र (४.१०) के भाष्य में मन को विभु माना है। परन्तु भाष्यकार का यह लेख चिन्त्य है; क्योंकि स्वयं भाष्यकार ने योगसूत्र (३.३८) के भाष्य में मन के—परशरीर में—प्रवेश का वर्णन करते हुए लिखा है—'स्वशरीरान्निष्कृष्य शरीरान्तरेषु निक्षिपति'—अपने शरीर से बाहर खींच निकालकर अन्य शरीरों में फेंक देता है, या पहुँचा देता है। मन के विषय का यह लेख मन की विभुता को ठुकरा देता है। अतः भाष्यकार का (४.१०) सूत्र का भाष्य चिन्तनीय है।

योगदर्शन के सूत्र (२.५४) में जो प्रत्याहार का स्वरूप बताया है, उसमें मन के योगभ्रष्ट होने की अवस्था का कोई संकेत नहीं है। इन्द्रियों की मनोऽनुकारिता ही प्रत्याहार का स्वरूप है। वह अनुकारिता योगयुक्त मन के साथ मानी गई है। योगभ्रष्ट मन में यह सम्भव नहीं। इस प्रसंग में इतने अन्तर की उपेक्षा करनी चाहिए; क्योंकि योगभ्रष्ट अवस्था से मोड़कर मन को पुनः युक्त अवस्था में लाकर प्रत्याहार के स्वरूप को स्पष्ट किया है।

प्रत्याहार के अनन्तर सन्दर्भकार 'धारणा' योगांग का स्वरूप बताता है—

शरीरेन्द्रियमनोबुद्ध्यात्मनां धरणाद्धारणा। (पृष्ठ १७४)

शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि-तत्त्वों का धरण अर्थात् नियन्त्रण होने से प्राप्त अवस्था 'धारणा' नामक योगांग है। सन्दर्भ में 'आत्मन्'-पद स्वरूप का वाचक है, चेतन तत्त्व आत्मा का नहीं। 'शरीर' आदि प्रत्येक पद के साथ उसका सम्बन्ध होगा—शरीरस्वरूप, इन्द्रियस्वरूप, मनःस्वरूप, बुद्धिस्वरूप जो तत्त्व हैं, उनके नियन्त्रित होने की अवस्था धारणा है। योगांगों से आत्मा—चेतनतत्त्व का नियन्त्रण नहीं होता; जिनको नियन्त्रित किया जाता है, वे शरीर-इन्द्रिय आदि प्राकृत पदार्थ हैं। 'धरण' पद का—धात्वर्थ के आधार पर—अर्थ है—सँभालना, कब्जे में करना, वश में लाना आदि। विषयों में उछल-कूद मचाती इन्द्रियों आदि को उधर से हटाकर सँभाल रखना, विषयों की ओर दौड़-धूप न करने देना 'धारणा' योगांग है। यह सब आत्म-तत्त्व में घटित नहीं होता।

योगदर्शन (३.१) में धारणा का स्वरूप बताया—किसी एक देशविशेष या लक्ष्यविशेष में चित्त का बाँध देना, टिका देना। इन दोनों विवरणों में प्रयुक्त पदों के आधार पर आपाततः कदाचित् कुछ भेद प्रतीत हो, पर दोनों के तात्पर्य में कोई अन्तर नहीं है। पहले विवरण में सभी करणों (इन्द्रिय, मन, बुद्धि) का नाम ले दिया है, जबकि द्वितीय विवरण में केवल चित्त (बुद्धि) का नाम है। सभी करणों में चित्त प्रधान है; उसके टिक जाने, स्थिर हो जाने पर शेष समस्त करण स्वतः स्थिर हो जाते हैं, अवांछनीय बाह्य विषयों में प्रवृत्त नहीं होते। अतः इस विवरण में उनका उल्लेख न किए जाने पर भी कोई अन्तर नहीं आता।

धारणा के स्वरूप का निर्देश कर सन्दर्भकार ध्यान का विवरण प्रस्तुत करता है—

देवतायतनं शून्यागार गिरिकन्दर नदीपुलिन गुहारण्यानामन्यतमे शुचौ निराबाधे विभक्ते समुपस्तीर्णमासनं[1] कृत्वा, तस्मिन् लघ्वाहारो निरामयः शुचिः शिरो ग्रीवा पाणिपादौ च समास्थाप्य, शरीरमृजुं समाधाय, शिश्नवृषणावपीडयन्, यत्किञ्चिदपाश्रित्य स्वस्तिकं भद्रकं मण्डलं वाऽधिष्ठाय, उदङ्-

१. मूल में यहाँ '०र्णमानसं कृत्वा' पाठ है। ऊपर का पाठ हमने बना दिया है।

मुखः प्राणमुखो वा दन्तैर्दन्तानसंस्पृश्य, अक्षिभ्यामव्यक्तमनुन्मील्य च मुख-नासिकाभ्यामैक्यावसन्नः[1], अग्रस्थितदृष्टिः, सवन्द्रियाणि संहृत्य, ऊर्ध्वं प्राणानुदीर्य मनसा तच्चिन्तनं ध्यानम् । (पृष्ठ १८१)

इस लम्बे सन्दर्भ में सन्दर्भकार ने ध्यान करने के स्थान, आसन बिछाकर उस पर बैठने की मुद्रा, किस आसन में बैठा जाय, किधर को मुख किया जाय, दाँत, आँख, मुख, नासिका आदि किस स्थिति में रहें, इन्द्रियों का संयम तथा शुद्ध मन से चिन्तन आदि का उल्लेख किया है ।

पहले स्थान का निर्देश है—देवालय, पूजा के लिए निर्धारित पवित्र स्थान, सूना मकान, पहाड़ की कन्दरा, नदी का पुलिन-प्रदेश—नदी के बहाव के साथ सटा हुआ प्रदेश 'पुलिन' कहा जाता है, जहाँ वर्षा ऋतु में पानी बहकर शरद् ऋतु में नहीं रहता। नदी-प्रदेश के समीपवासी उसे 'रुहाड़ा' कहते हैं। गुहा, कोई एकान्त स्थान; ऐसा स्थान लोग अपने घरों में भी जमीन खोदकर बना लेते हैं। अरण्य – एकान्त जंगल। इन स्थानों में से कोई एक स्थान—जो अपने अनुकूल हो—ध्यान के लिए चुनें। परन्तु वह स्थान पवित्र-स्वच्छ हो, हर तरह की गन्दगी से रहित, किसी तरह की बाधा वहाँ न हो, नगर या बस्ती आदि से अलग दूर हो। नगर या बस्ती के समीप होने से नदी के पुलिन तथा जंगल के भाग भी गन्दगी से भरे रहते हैं, ऐसे स्थान ध्यान के लिए परित्याज्य हैं। सदा शुद्ध-स्वच्छ स्थान पर आसन विछाकर बैठें। उस समय बैठने की मुद्रा कैसी होनी चाहिए, सन्दर्भकार बताता है—

उस समय आहार लघु-हल्का-सुपाच्य होना चाहिए, शरीर में कोई रोग न हो, स्नान आदि द्वारा शरीर शुद्ध-स्वच्छ हो, सिर, गर्दन, हाथ-पैर ठीक सन्तुलित अवस्था में हों; शरीर को स्वाभाविक सरल स्थिति में रक्खा जाय, अर्थात् शरीर की अधिक तोड़-मरोड़ न हो, इस रीति पर रक्खा जाय कि उसमें कहीं कष्ट का अनुभव न हो, विशेषकर उपस्थ इन्द्रिय व अण्डकोषों को पीड़ा न हो; किसी अन्य वस्तु का सहारा न लेकर स्वस्तिक, भद्रक अथवा मण्डल (पद्मासन) नामक किसी अनुकूल आसन से अधिष्ठित होकर उत्तर अथवा पूर्व की ओर मुख रक्खे। दाँतों से दाँतों को कटकटाये नहीं; आँखों को अपलक बन्द रक्खे, आँखों के झपकने में भी ध्यानभंग का भय बना रहता है; मुख और नासिका के प्रयोग से नितान्त उदासीन रहे, यह स्थिति मुँह से कुछ बोलने तथा नासिका से सिनकने या उसे खुजाने आदि का ही अवरोध करती है, श्वास आदि का नहीं। दृष्टि अर्थात् चेहरे की स्थिति सीधी आगे को रहनी चाहिए, चेहरा न ऊपर को उठा रहे न नीचे को झुका रहे। सब इन्द्रियों को विषयों से हटाकर, प्राणों की ऊर्ध्वगति कर अर्थात् प्राणायाम द्वारा

१. मूल में '०वसन्नाग्र०' पाठ है। कदाचित् यहाँ '०वसन्नोग्र०' पाठ रहा हो। सन्धिच्छेद हमने कर दिया है।

प्राणों को संयत कर उनका संचार नाभि से मस्तिष्क (मूर्द्धा) तक होता हुआ नासा-द्वार से बाहर जाय, इस प्रकार शुद्ध एकाग्र मन से आत्मतत्त्व का चिन्तन करना 'ध्यान' नामक योगांग है।

ध्यान का विवरण प्रस्तुत कर सन्दर्भकार ने योगमार्ग में आनेवाले विघ्नों को गिनाया—

निष्ठाभिभवो, निद्राबाधा, भयानकोत्पत्तिः, ज्ञानपीडा, भोगातिशयः, कोपनैपुण्यम्, ऐश्वर्यविशेषः, धर्ममहत्त्वं, विद्यास्थानानि, यशोदीप्तिः, इति योगिनां दशोपसर्गाः। (पृष्ठ २१२)

निष्ठाभिभव—निष्ठा—श्रद्धा का तिरस्कार। यदि योगमार्ग अथवा अध्यात्म-ज्ञान के प्रति श्रद्धा ही नहीं है, तो ऐसा नाममात्र का योगी आगे मार्ग पर पग कैसे बढ़ायेगा? यह योगी के लिए मूलभूत विघ्न है।

निद्राबाधा—नींद जैसी स्थिति से सदा बाधित रहना, योग के लिए कोई प्रयत्न न करना; जो होना होगा, आप होता रहेगा, इस भावना के साथ आलस्य से अभिभूत होकर निरीह पड़े रहना।

भयानकोत्पत्ति—भयानक अथवा भयावह परिस्थितियों को सामने आया देखकर उनसे घबराते हुए योगमार्ग को छोड़ बैठना। योगी के सामने—योगाभ्यास करते हुए प्रारम्भिक स्तर पर कभी-कभी—भयावह दृश्य उपस्थित हो जाते हैं। जैसे—वीभत्स मुखाकृतियों का दीखना, उनमें तीव्रता के साथ परिवर्तन होते दिखाई देना, योगी को डराने की मुद्रा में आकृति का अचानक सामने प्रकट होना इत्यादि। वस्तुतः ये सब विकृत मानसिक चिन्तन का परिणाम होते हैं। इनसे भीत होकर योगी अपना मार्ग छोड़ बैठता है। पर कालान्तर में श्रद्धा व धैर्य के साथ सतत अभ्यास में लगे रहने पर ये विकृतियाँ स्वतः तिरोहित हो जाती हैं।

ज्ञानपीडा—तत्त्वज्ञान या आत्मज्ञान प्राप्त करने में बड़ी पीड़ा, बड़े कष्टों का सामना करना पड़ता है। कौन इस मुसीबत में पड़े? जैसा चल रहा है, वैसे ही चलते रहना चाहिए। इसमें ही क्या कमी है?—यह भावना योग-जिज्ञासु को योगमार्ग पर जाने से रुद्ध कर देती है।

भोगातिशय—भोगों में अत्यधिक प्रवृत्ति भी व्यक्ति को योगमार्ग पर जाने से रोकती है।

कोपनैपुण्यम्—इसका अर्थ है क्रोध करने में निपुण होना। यह नैपुण्य या चातुर्य कदाचित् इस आधार पर हो कि क्रोध किया तो जाय अन्य भावना से, पर समझने-सुननेवाला उसे विपरीत भावना में समझे। प्रायः ऐसे सन्त एवं तथाकथित योगी देखे-सुने जाते हैं, जो अपने समीप आगन्तुकों को दुत्कारते व उनके साथ गाली-गलौज करते हैं। उनका यह व्यवहार असंग व अलूफ रहने की भावना से होता हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता; क्योंकि उनका निवास ऐसे स्थानों में रहता है,

जहाँ जन-सम्पर्क अनिवार्य है। पर इसका दूसरा पहलू भी सम्भव है—जहाँ सचाई के साथ असंग रहने की भावना हो, और ऐसे योगाभिलाषी व्यक्ति का निवास-स्थान भी निसर्गतः एकान्त में हो, वहाँ भी जन-सम्पर्क बढ़ जाने की सम्भावना होने पर योगमार्गी क्रोध का प्रयोग जन-सम्पर्क से बचने के लिए करता है। यद्यपि योगाभिलाषी के लिए क्रोध करना वांछनीय नहीं, पर वह अभी योग के उस स्तर पर पहुँचा नहीं होता, जहाँ क्रोध की वृत्तियाँ शान्त हो चुकी होती हैं। योगी के लिए यह स्थिति भी योगमार्ग पर आगे बढ़ने के लिए विघ्नकारक हो जाती है। क्रोध प्रकट करने पर भी भावुक भक्तों की भीड़ बढ़ती ही जाती है, तथा वह एकान्त का शान्त वातावरण विपरीत दिशा में बदल जाता है, और विविध व्यवहारपूर्ण सांसारिक वातावरण महत्त्व पा जाता है। आजकल जहाँ-तहाँ जो ऐसे पुराने मठ व आश्रम पाये जाते हैं, वे ऐसी ही परिस्थितियों के परिणाम हैं।

ऐश्वर्यविशेष—योगाभ्यास द्वारा किसी स्तर पर आंशिक सिद्धि का प्राप्त होना ऐश्वर्यविशेष है। ऐसे स्तर को प्राप्त होकर कभी योगी आगे के स्तरों को प्राप्त करने के प्रयास को छोड़ बैठता है। ऐसे ऐश्वर्य का प्राप्त होना भी कभी योगी के लिए विघ्नरूप में उपस्थित हो जाता है।

धर्ममहत्त्वम्—योगपथ का पथिक बनना धर्म के उच्चकोटि के महत्त्वपूर्ण मार्ग पर कदम रखना है। कभी-कभी ऐसा देखने में आता है, इस मार्ग पर चलने-वाले व्यक्ति को धर्म के महत्त्व का अभिमान चित्त में जागृत हो जाता है। यह स्थिति उसके आगे बढ़ने में बाधक हो जाती है। वह उतने ही महत्त्व की भावना-तरंगों में अपने-आपको डुबा मारता है।

विद्यास्थानानि—कौटलीय अर्थशास्त्र (१।२।१–८) में चार विद्यास्थान बताये हैं—आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्त्ता, दण्डनीति। याज्ञवल्क्यस्मृति में चौदह विद्यास्थान बताये हैं—

पुराणन्यायमीमांसा धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥

मनुस्मृति में चौदह विद्यास्थानों को इस प्रकार बताया है—

अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः।
धर्मशास्त्रं पुराणं च विद्यास्त्वेता[1]श्चतुर्दश॥

पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, छह अंग (वेदों के छह अंग—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष) तथा चार वेद, ये चौदह विद्या और धर्म

---

१. 'विद्या ह्येता०' पाठ क्वचित् देखा जाता है। यह श्लोक अनेकत्र मनु के नाम से उद्धृत पाया जाता है, परन्तु निर्णयसागर बम्बई से सन् १९४६ में प्रकाशित कुल्लूक भट्ट टीकासहित संस्करण में उपलब्ध नहीं है।

Scanned with CamScanner

के स्थान हैं। मनु के नाम से उद्धृत श्लोक में भी इन्हीं को गिनाया है—छह अंग, चार वेद, मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र और पुराण। जो व्यक्ति जीवन-भर इन विद्याओं का अभ्यास करते रहते हैं, वे योगमार्ग पर प्रवृत्त होकर भी इन्हीं में उलझे रहते हैं। उस अवस्था में ये विद्यास्थान ही योगी के योगमार्ग में विघ्न बन जाते हैं। इनमें उलझा योगी योगाभ्यास के लिए समय नहीं निकाल पाता।

यशोदीप्ति—यश का प्रकाश हो जाना। योगी को कोई सिद्धि व विभूति प्राप्त हो जाने पर योगी या परमयोगी के नाम से उसका यश इधर-उधर फैलने लगता है। इससे आकृष्ट होकर लोगों का जमघट धीरे-धीरे उसे घेरने लगता है; योग के लिए एकान्त आध्यात्मिक वातावरण तिरोहित हो जाता है। युञ्जान योगी भी यश के प्रताप से प्राप्त प्रतिष्ठा, आदर व लौकिक ऐश्वर्य के लोभ में पड़कर योग के उच्च-स्तरों की प्राप्ति के लिए प्रयास का परित्याग कर अधर में डूब जाता है। यह यश भी योगी के लिए विघ्न बन जाता है।

योगी के मार्ग में उक्त दस प्रकार के विघ्नों (उपसर्गों) का विवरण प्रस्तुत कर सन्दर्भकार अणिमा, महिमा आदि सिद्धियों, ऐश्वर्यों की गणना व उनका स्वरूप बताता है—

अणिमा महिमा लघिमा प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं यत्रकामावसायित्वं चाष्टावैश्वर्यगुणाः। तेषामणिमामहिमालघिमास्त्रयः शरीराः। प्राप्त्यादयः पञ्चैन्द्रियाः।

अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व, और यत्रकामावसायित्व, ये आठ ऐश्वर्यगुण हैं। योग के फलस्वरूप प्राप्त आठ ऐश्वर्य-विशेषता हैं। ये लोक व वाङ्मय में 'आठ सिद्धि' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें पहले तीन अणिमा, महिमा, लघिमा शरीर-सम्बन्धी ऐश्वर्य है। प्राप्ति आदि शेष पाँच इन्द्रिय-सम्बन्धी हैं।

अब सन्दर्भकार यथाक्रम अणिमा आदि ऐश्वर्यगुणों का स्वरूप बताता है—

अणिमा—तत्र स्वशरीराणुत्वमणिमा, अणुभावात् सूक्ष्माण्यप्याविशति।

उन आठ ऐश्वर्यों में अणिमा ऐश्वर्य वह है, जब योगी अपने शरीर को अणु-परिमाण बना लेता है; अणु होने से वह सूक्ष्म तत्त्वों में प्रवेश कर जाता है।

महिमा—शरीरमहत्त्वं महिमा। महत्त्वात् सर्वशरीराण्यावृणोति।

योगी जब अपने शरीर को महापरिमाण में परिवर्तित कर लेता है, वह महिमा ऐश्वर्य है। महापरिमाण होने के कारण वह अपने शरीर से अन्य अनेक शरीरों को आच्छादित कर लेता है।

लघिमा—शरीराशुगामित्वं लघिमा। तेनाऽतिदूरस्थानपि क्षणेनाऽऽसादयति।

शरीर का आशुगामी होगा लघिमा ऐश्वर्य है। योगी अपने शरीर को रुई के

समान इतना हल्का (लघु, भारहीन) बना लेता है कि मकड़ी के जाले पर चल सकता है। सूर्यकिरणों के सहारे क्षण में कहीं-से-कहीं पहुँच जाता है। इस ऐश्वर्य के द्वारा अतिदूर-स्थित पदार्थों को भी क्षण में प्राप्त हो जाता है।

प्राप्ति—विश्वविषयावाप्तिः प्राप्तिः। प्राप्त्या सर्वप्रत्यक्षदर्शी भवति।

संसार के विविध विषयों के सम्पर्क में आना 'प्राप्ति' नामक ऐश्वर्य है। इस ऐश्वर्य के बल से योगी एक स्थान पर अवस्थित ही सूक्ष्म व्यवहित तथा दूरस्थित पदार्थों का प्रत्यक्ष कर लेता है।

प्राकाम्य—यथेष्टचारित्वं प्राकाम्यम्। प्राकाम्येन सर्वभोगवरानाप्नोति।

अपनी अभिलाषा के अनुरूप आचरण में होना 'प्राकाम्य' नामक ऐश्वर्य है। जब योगी अपनी इच्छा को मूर्त्तरूप देने में सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है, सामर्थ्य की वह अवस्था 'प्राकाम्य' नामक ऐश्वर्य है। इस ऐश्वर्य की शक्ति के द्वारा योगी सब प्रकार के श्रेष्ठ भोगों को प्राप्त कर लेता है। ऐसे प्रसंग कभी-कभी सुनने में आते हैं कि योगी दूरस्थित भोग्य वस्तुओं को अपने सान्निध्य में आहृत कर लेता है। कहीं जंगल में बैठा अपने भक्तों को दिल्ली की मिठाई खिला देता है, बे-मौसमी फल खिला देता है। सम्भवतः योगी की अपनी कोई ऐसी कामना नहीं रहती, जो भोगों की ओर उसे आकृष्ट करे; भले ही वैसा करने का सामर्थ्य उसमें हो। कदाचित् ऐसे प्रसंगों में यह रहस्य सम्भव है—भक्त की इच्छा का आदर करते हुए, उसके अनुसार शक्तिपात से भक्त के चित्त को प्रभावित कर उसे यह प्रतीत करा देता है कि वह अमुक मिठाई व फल खा रहा है, जबकि वस्तुतः वह और ही कुछ खा रहा होता है।

ईशित्व—अप्रतिहतैश्वर्यमीशित्वम्। ईशित्वेन दैवतान्यप्यतिशेते।

योगी का ऐश्वर्य अप्रतिकृत—अबाधित अवस्था में पहुँचने पर 'ईशित्व' नामक ऐश्वर्य कहा जाता है। यह योगी की वह अवस्था है, जब प्रतियोगिता में उसे कोई चुनौती देनेवाला नहीं है। इस ऐश्वर्य के प्राप्त हो जाने पर योगी दिव्य घटनाओं पर भी प्रभावी हो जाता है। स्वामी रामतीर्थ के जीवन की पूर्वपठित एक घटना स्मरण हो रही है—टिहरी के पास जहाँ कहीं हिमालय में वे रहते थे, कोई व्यक्ति उनके पास पहुँचे। वहाँ जब बर्फ पड़नी शुरू हुई, तो आगन्तुकों ने कष्ट का अनुभव किया। यह जान रामतीर्थ उठे, और बाहर जाकर उच्च स्वर में दो-तीन बार 'स्टॉप' इंगलिश शब्द का उच्चारण किया। शब्द का अर्थ है—'रुक जाओ' या 'रुको'। कहते हैं, तभी देखते-देखते बर्फ पड़ना बन्द हो गया। प्रत्यक्षदर्शी महान् आत्माओं ने बताया है, योगी 'द्वन्द्वातीत' होता है। जहाँ अन्य द्वन्द्व—सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि से योगी प्रभावित नहीं होता, वहाँ शीत व ऊष्ण ऋतुओं का भी उन पर प्रभाव नहीं होता। तात्पर्य है—उनके सामर्थ्य के सम्मुख ऋतु का सामर्थ्य दम

तोड़ बैठता है। यही भाव सन्दर्भ के 'दैवतान्यप्यतिशेते' वाक्य में निहित है।

वशित्व—आत्मवश्यता वशित्वम्। वशित्वेनाऽपरिमितायुर्वश्यजन्मा च भवति।

अपने-आप का अपने वश में होना 'वशित्व' नामक ऐश्वर्य है। तात्पर्य है, इस सामर्थ्य को प्राप्त कर योगी शरीर-इन्द्रिय, मन आदि बाह्य-आन्तर साधनों के वशीभूत कभी नहीं होता, वह अपने ही वश में अपने-आपको रखता है। इस ऐश्वर्य के द्वारा योगी अपरिमित आयुवाला तथा इच्छानुरूप जन्म-मरणवाला हो जाता है। अपरिमित आयु का तात्पर्य है, आयु की किसी नियत सीमा में बँधे न रहना। इससे ज्ञात होता है, वह आयु को न्यूनाधिक कर सकता है। जीवन-मरण भी उसके इच्छानुरूप होते हैं, भीष्म की इच्छानुरूप मृत्यु इसका उदाहरण कही जा सकती है।

यत्रकामावसायित्व—यत्रकामावसायित्वं त्रिविधम्—छायावेशः, अवध्यानावेशः, अङ्गप्रवेश इति।

यह आठवाँ ऐश्वर्य है। इस ऐश्वर्य के प्राप्त हो जाने पर योगी कामना के अनुसार जहाँ चाहता है, अधिष्ठित हो जाता है। अपने-आपको इच्छानुरूप स्थान में अवसायी, उपसंहृत कर लेता है। ध्यान रखना चाहिए, यह शरीर ऐश्वर्य नहीं; ऐन्द्रिय अथवा आन्तर ऐश्वर्य है। करणों द्वारा अभिमत स्थान में अधिष्ठित होना इस ऐश्वर्य का स्वरूप है। यह तीन प्रकार का है—छायावेश, अवध्यानावेश, अंग-प्रवेश।

सन्दर्भकार इन तीनों भेदों का स्वरूप बताता है—

यत् परस्य छायाप्रवेशमात्रेण चित्तं वशीकरोति स छायावेशः। यद् दूरस्थानमपि अनुध्यानेन चित्ताधिष्ठानं सोऽवध्यानावेशः। यत् सजीवस्योत्क्रान्त[1] जीवस्य वा शरीरानुप्रवेशनं सोऽङ्गप्रवेशः।

अपने चित्त की छाया-प्रवेशमात्र से जो सामने उपस्थित अन्य के चित्त को वश में करना है, वह छायावेश नामक यत्रकामावसयित्व ऐश्वर्य है। तात्पर्य है—अपने शक्ति-सम्पन्न चित्त से अन्य के चित्त को स्वेच्छानुरूप प्रभावित करना। अपने सामने उपस्थित अन्य व्यक्ति को जब प्रभावित किया जाय, तब छायावेश नामक प्रथम भेद, और जब दूरस्थित व्यक्ति को ध्यानमात्र से प्रभावित किया जाय, तब 'अवध्यानावेश' नामक आठवाँ ऐश्वर्य का दूसरा भेद होता है। आठवें ऐश्वर्य का तीसरा भेद 'अंगप्रवेश' वह है—जब सजीव या निर्जीव अन्य देह में किसी आत्मा का प्रवेश हो।

आठवें ऐश्वर्य के पहले दो भेद आजकल 'सम्मोहिनी विद्या' के नाम से जाने जाते हैं।

---

१. मूल में यहाँ '०स्योभिस्तेजी०' पाठ है। ऊपर का पाठ हमने बना दिया है।

पर्याप्त वर्षों तक ऐसे व्यक्ति के साथ मेरा सम्पर्क रहा, जो इस विद्या के विशेषज्ञ व प्रयोगात्मक रूप में शक्तिसम्पन्न थे। यह पंजाब प्रान्तीय 'मुकेरियाँ' नगर के निवासी प्रोफेसर जगदीशमित्र के नाम से प्रसिद्ध रहे। सन् १९१७ से १९२१ तक के प्रत्येक वर्ष में गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर के वार्षिक महोत्सव पर पधारते रहे। उन दिनों अपना अध्ययनकाल सम्पन्न कर उसी संस्था में अध्यापन-कार्यरत रहते हुए मुझे उनके अनेक प्रदर्शन देखने का अवसर मिलता रहा, इन्हीं अवसरों पर उनके साथ घनिष्ठ परिचय हुआ। विभिन्न प्रान्तों से आगत एकत्रित जनता के लिए—उनके प्रदर्शन—मनोरंजन का एक मुख्य साधन रहता था। अपने जीवन में उनके द्वारा प्रस्तुत बीसों प्रदर्शन देखने का मुझे अवसर मिला, पर यहाँ कतिपय प्रसंगों का उल्लेख पर्याप्त होगा।

१. यह सम्भवतः सन् १९१९ या २० के वार्षिकोत्सव की घटना है। बाग के घने पेड़ों की छाया में खुले आकाश के नीचे गुरुकुल का उत्सव चल रहा था। जनता की संख्या लगभग पाँच-छः हजार से कम न होगी। दिन का तीसरा पहर था। जगदीशमित्र मंच पर आए, बोले—कोई नवयुवक जनता में से आए, उसे अपनी सम्मोहिनी शक्ति के द्वारा प्रभावित करूँगा। कुछ क्षण जनता में हलचल-सी रही, तब एक नवयुवक अपने समीप बैठे व्यक्तियों द्वारा प्रेरित किया हुआ तीव्रता के साथ मंच पर आया और साहसपूर्वक बोला—मुझे प्रभावित कीजिए।

प्रोफेसर ने उसे जनता की ओर मुँह करके कुर्सी पर बैठाया, और एक ओर खड़े होकर कहा—मेरी ओर देखो! युवक ने थोड़ा सिर घुमाकर उधर देखा। प्रयोक्ता ने आँख मिलाई, सहसा खुली तीव्र दृष्टि से उधर देखा, और दाहिना खुला हाथ युवक के माथे के सामने तक ले-जाकर साधारण रूप से नीचे नाभि तक झुकाया, दूसरी बार, फिर तीसरी बार हाथ को इसी तरह ऊपर से नीचे तक झुकाया। इस क्रिया में लगभग दस-बारह सेकण्ड लगे होंगे। जनता ने आश्चर्य के साथ देखा—युवक का सिर कुर्सी के पिछले भाग के साथ लगा हुआ था, आँखें बिल्कुल बन्द थीं, शरीर पूरा निश्चेष्ट। देखनेवालों को प्रतीत हो रहा था—युवक गहरी निद्रा में जैसे सो रहा हो। प्रयोक्ता ने मंच पर समीप बैठे सम्भ्रान्त व्यक्तियों से कहा—'आप इसे जगाइए, कुछ बात कीजिए।' दो-एक सज्जनों ने उठकर उसे हिलाया, ऊँची आवाज दी; पर सब व्यर्थ। युवक न बोला, न कोई चेष्टा की। इतने में मंच पर से एक सज्जन उठे, जो डॉक्टर थे। उन्होंने युवक की नाड़ी देखी, हृदय-धड़कन की जाँच की; सब ठीक था। युवक अपनी मुद्रा से ऐसा मालूम हो रहा था, जैसे वह गहरी बेहोशी की हालत में हो। यह सब जाँच-परीक्षा होने में तीन मिनट से अधिक नहीं लगे होंगे। तब प्रयोक्ता ने युवक के सिर को स्पर्श करते हुए कहा—आँखें तो खोलो!

युवक ने तत्काल आँखें खोलीं, आँखों को दोनों हाथों से मला। युवक की मुद्रा

से द्रष्टा जनसमुदाय को ऐसा प्रतीत हो रहा था, जैसे गहरी निद्रा के बाद वह जागा हो। प्रयोक्ता ने पूछा—तुम्हारी तबीयत ठीक है ? उत्तर था—बिल्कुल ठीक है। अच्छा, अपना नाम तो बताओ ? मेरा नाम कुमारी सरला है। यह सुनते ही जनसमूह की ओर से कुछ हँसी की आवाजें आईं। प्रयोक्ता का अगला प्रश्न था—बेटी ! तुम बड़ी अच्छी हो, ज़रा यह तो बताओ— ये तुम्हारे सामने कौन बैठे हैं ? उत्तर साफ था—ये सब माता-बहनें बैठी हुई हैं। जैसे ही यह सुना, जनता में कह-कहा फूट पड़ा। प्रयोक्ता के संकेत से जनता तत्काल शान्त हो गई। प्रयोक्ता ने आगे कहा—सरला बेटी ! तुम तो भाषण बड़ा अच्छा देती हो, कुछ सुनाओ तो ? युवक ने कहना प्रारम्भ किया—मेरी पूज्य माताओ और बहनो ! आपके बीच आज मुझे कुछ कहने का अवसर मिला, इसे मैं अपना सौभाग्य समझती हूँ, इत्यादि। भाषण लगभग दो मिनट हुआ, इसी मुद्रा व लहजे के साथ। मुद्रा से तात्पर्य है, इस बीच सिर से साड़ी सरकने पर उसे ठीक करने के लिए महिलाएँ जैसे दोनों हाथ का प्रयोग करती हैं, उसी तरह युवक अनेक बार अपने हाथों से अभिनयपूर्ण रीति पर संकेत करता रहा।

प्रयोक्ता ने शाबाश देते हुए कहा—बेटी सरला ! तुम्हारा भाषण बड़ा प्रभावशाली रहा। देखो, तुम्हारा मुँह बड़ा मैला हो रहा है, क्या उठकर तुमने मुँह धोया नहीं था ? देखो, सामने बाल्टी में क्या है ? युवक देखकर बोला—बड़ा साफ पानी भरा हुआ है। (वस्तुतः बाल्टी में सूखा आटा था) अच्छा ! पानी है ! ज़रा अपने दोनों हाथों से पानी लेकर अपना मुँह तो धो डालो। युवक ने बाल्टी से दोनों हाथों में आटा भरा, और मुँह पर छपका मारा। इन हरकतों को देख जनता हँसते-हँसते लोट-पोट हो रही थी। प्रयोक्ता ने तत्काल तौलिया दिया, और कहा—मुँह पोंछ डालो। देखो ! अब कैसा साफ हो गया है। अनन्तर प्रयोक्ता ने युवक को पकड़कर कुर्सी पर बैठा दिया, और जैसे ही प्रयोक्ता ने युवक के सिर को स्पर्श किया, पहले की तरह कुर्सी की पिछली टेक के सहारे उसका सिर था, वह गहरी निद्रा-जैसी मुद्रा में था। तभी प्रयोक्ता ने जनता की ओर अभिमुख हो दो-तीन मिनट सम्मोहिनी विद्या के महत्त्व के विषय में कुछ कहा, और युवक के कन्धे को अपने दाहिने हाथ से जैसे ही स्पर्श किया, वह दोनों हाथों से आँखें मलता हुआ उठ खड़ा हुआ; प्रयोक्ता का निर्देश पाकर अपने स्थान की ओर बढ़ गया।

उस समय जनता में साधारण हलचल-सी दिखाई दी। मालूम हो रहा था जैसे लोग प्रदर्शन पर अपनी प्रतिक्रिया एक-दूसरे पर प्रकट कर रहे हैं। सम्भवतः युवक के साथी तथा अन्य लोग भी उत्सुकतावश उससे पूछ रहे थे—भाई ! तुझे क्या हो गया था ? तू तो वहाँ जाकर लड़की बन गया ! वह उन सबका प्रतीकार करता हुआ बलपूर्वक कह रहा था—मुझे कुछ नहीं हुआ; जैसे गया था, आ गया। कुछ नींद-सी अवश्य आई, पर उस समय क्या हुआ ? मुझे कुछ मालूम नहीं।

कदाचित् लोगों को उसकी बात पर विश्वास न हुआ। कुछ व्यक्ति मंच के समीप आए और उन्होंने प्रयोक्ता को लक्ष्य कर सन्देह प्रकट किया कि यह युवक आपका सिखाया हुआ भी हो सकता है, आपने पहले ही जनता के बीच बैठा दिया हो।

समस्त प्रदर्शन के अवसर पर मैं मंच पर रहा। उन व्यक्तियों द्वारा सन्देह प्रकट करने पर मैंने प्रोफेसर जगदीशमित्र की ओर भावपूर्ण दृष्टि से देखा। वह स्थिति को समझकर मंच पर खड़े हो गए। जनता को शान्त होने और यथास्थान बैठ जाने को कहा। जनता तत्काल व्यवस्थित हो गई। प्रोफेसर ने कहना प्रारम्भ किया—कुछ व्यक्तियों ने सम्मोहिनी शक्ति पर सन्देह प्रकट किया है। मैं सबसे निवेदन करता हूँ, यहाँ जो महिला बैठी हैं, और गुरुकुल के ब्रह्मचारी बैठे हैं, वे मेरी ओर न देखें; जन-समूह में से अन्य जो चाहें, मेरी ओर देखें। प्रोफेसर ने अपने खुले हाथों को ऊपर-नीचे उठाते-झुकाते हुए तीन बार इंग्लिश शब्द स्लीप् (Sleep) का प्रयोग किया। इस प्रयोग में दस-बारह सेकण्ड लगे होंगे। देखा गया—सैकड़ों लोग लुढ़क गए हैं, निद्रा-जैसी स्थिति में पड़े हैं। जिन्होंने उधर देखा, वे प्रभावित हुए। उसके बाद ही प्रोफेसर ने प्रतियोगी प्रयोग किया; बहुत-से लोग जागकर उठ खड़े हुए, कुछ लोग पड़े रह गए। प्रयोक्ता मंच से उतरकर उनके पास गया और उसके द्वारा स्पर्श करते ही वे लोग उठ खड़े हुए।

प्रयोक्ता मंच पर आया। जनता को शान्त व व्यवस्थित कर चार-पाँच मिनट सम्मोहिनी शक्ति के विषय में सम्बोधित किया। अथर्ववेद का एक मन्त्र[१] बोलकर कहा—इस शक्ति का मूल संकेत इस मन्त्र में है। जनता की उत्फुल्ल और प्रहर्षपूर्ण आकृतियों से यह स्पष्ट झलक रहा था कि उनके मन से प्रदर्शन के विषय में सन्देह की मात्रा नितान्त तिरोहित हो चुकी है। यह आठवें ऐश्वर्य के 'छायावेश' नामक प्रथम विभाग का उदाहरण है।

२. **शक्ति का चिकित्सार्थ प्रयोग**—प्रो० जगदीशमित्र का यह शक्तिप्रयोग प्रदर्शन या खेल-तमाशे के लिए न था। यह तो गुरुकुल के अधिकारियों की प्रार्थना पर गुरुकुल के लाभ के लिए करना वह स्वीकार लिया करते थे। अन्य संस्थाओं में भी प्रदर्शन का आमन्त्रण स्वीकार लेते थे, केवल इस भावना से कि इस ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए युवा छात्रों में कामना व प्रोत्साहन जागृत हो सके। इस शक्ति का मुख्य उपयोग वे जीवनपर्यन्त मानसिक रोगों की चिकित्सा के लिए करते रहे।

---

१. मन्त्र हैं—'अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः।
अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः ॥६॥
हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवी।
अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वामि मृशामसि ॥७॥
—अथर्व, ४।१३।६-७

इस निमित्त उन्होंने लाहौर में यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी रोड और अनारकली बाजार के चौराहे (क्रॉसिंग) के समीप नीला गुम्बद की ओर अपना क्लिनिक स्थापित किया हुआ था। सन् १९२१ में संस्कृत-प्राध्यापक रूप में मुझे लाहौर जाने और वहाँ स्थायी रूप से रहने का अवसर प्राप्त हुआ।

कॉलेज से वापस होते हुए मार्ग में उनके क्लिनिक पर प्रायः रुक जाता। क्लिनिक नीला गुम्बद की मुख्य सड़क पर था। सड़क के साथ सटा लम्बा चबूतरा, उसके पीछे उतना ही लम्बा बन्द बरामदा, उसके पीछे दो कमरे थे। एक कमरे में दवा व चिकित्सा-सम्बन्धी अन्य सामान, तथा कमरे के सामने बरामदे में कम्पाउंडर बैठता था। दूसरे कमरे में प्रोफेसर बैठते थे। एक दिन कॉलेज से वापसी पर लगभग साढ़े ग्यारह बजे मैं प्रोफेसर के साथ बैठा बातें कर रहा था। उससे पहले दिन प्रोफेसर ने एफ० सी० कॉलेज (फॉरमन क्रिश्चियन कॉलेज) में प्रदर्शन किया था। मुझे वहाँ बैठे दस-बारह मिनट ही हुए होंगे, इतने में आवाज सुनाई पड़ी—प्रोफेसर कहाँ है? यह बड़ा मक्कार आदमी है, कल इसने सबको बेवकूफ बनाया। कहाँ है? हम इसे समझेंगे! स्वर बड़ा ऊँचा व तीव्र था। हम दोनों यह सुन ही रहे थे। कुछ सेकण्ड में बराण्डे को लाँघते हुए दो नवयुवक धड़-धड़ाते हुए तीव्रता के साथ कमरे के दरवाजे तक पहुँच गए। उनकी आवाज सुनकर मैं तब तक अपने स्थान से उठकर दरवाजे के सामने कमरे के अन्दर ही खड़ा था। दरवाजे में पैर रखते ही प्रोफेसर ने उनकी ओर देखा और सरलतापूर्वक, पर आदेश की मुद्रा में कहा—आप अन्दर नहीं आ सकते। युवकों का जवाब था—हम जरूर अन्दर आएँगे, अन्दर आएँगे। प्रोफेसर के द्वारा दुबारा यह कहते ही कि—आप हर्गिज अन्दर नहीं आ सकते—दोनों युवक धड़ाम से नीचे जमीन पर गिर पड़े। जोर से चिल्लाए—पेन! शूटिंग पेन!! मैंने सामने देखा—वे दोनों पानी के बाहर मछली की तरह तड़प रहे हैं। उनकी इस तड़पन की आवाज पर प्रोफेसर अपने स्थान से उठा। अपने स्वभाव के अनुसार मुस्कराते हुए साधारण गति से उनके पास आया। तब तक युवक तीन-चार बार उसी शब्द को चीखते-तड़पते बोलते रहे थे। पूछा—पेन कहाँ है? स्टमक में प्रोफेसर! शूटिंग पेन! तत्काल प्रोफेसर ने युवक के कन्धों को स्पर्श किया, क्षण भी नहीं लगा, दोनों युवक ऐसे शान्त हो गए, जैसे भयंकर कष्ट के बाद आशातीत राहत पाई हो। कुछ ही सेकण्ड में दोनों युवक उठे और प्रोफेसर के पैरों में पड़कर बड़ी विनम्रता के साथ क्षमा-प्रार्थना करते रहे। प्रोफेसर ने हर प्रकार सान्त्वना देकर उन्हें विदा किया। उनकी बेजा हरकत पर उलाहना आदि के रूप में एक भी शब्द प्रोफेसर ने अपने मुँह से नहीं निकाला।

यह उदाहरण भी यत्रकामावसायित्व ऐश्वर्य के 'छायावेश' नामक प्रथम भेद का समझना चाहिए। उक्त ऐश्वर्य के 'अवध्यानावेश' नामक द्वितीय भेद का एक उदाहरण प्रस्तुत है—

३. एक दिन मैं प्रोफेसर के साथ पूर्ववत् क्लिनिक में बैठा बात कर रहा था। वे अपनी एक महिला मानसिक रोगिणी की सफल चिकित्सा की चर्चा कर रहे थे, जो मेरे वहाँ पहुँचने पर मेरे सामने ही उठकर गई थी। पारिवारिक जन कहते थे कि कोई प्रेतात्मा इसके शरीर में आ जाती है, और तभी यह बक-झक करती और अव्यवस्थित, अनियमित, असाधारण दशा में आकर रोगाक्रान्त हो जाती थी। लगभग तीन सप्ताह तक शक्ति-प्रयोग के बाद पूर्ण आरोग्य प्राप्त कर चुकी थी। महीने से भी अधिक समय तक रोग का आक्रमण न होने पर उस दिन अपने चिकित्सक को धन्यवाद और अपने आरोग्य का हर्ष-समाचार देने आई थी। इसी बीच टेलीफोन की घण्टी बजी। प्रोफेसर ने चोंगा (रिसीवर=Receiver) उठाया। मालूम हुआ, फोन मुगलपुरा से आया है, जो लाहौर के उस स्थान से पाँच छह मील दूर है। फोन परिवार के किसी व्यक्ति ने किया, कहा—सरदार साहब को दर्द बड़े जोर से उठ खड़ा हुआ है। वे कह रहे हैं—सिर फटा जा रहा है, असह्य पीड़ा है। प्रोफेसर ने फोन करनेवाले को कहा—यह फोन-रिसीवर सरदार साहब के बिस्तर पर ले जाओ, उनसे कहो, वे स्वयं रिसीवर ले लें। ऐसा ही किया गया। प्रोफेसर ने फोन पर कहा—सरदार साहब! दर्द कहाँ है? जवाब आया, माथे में और सारे सिर में दर्द है। प्रोफेसर फिर बोला—सरदार साहब! जरा ध्यान करो, सोचकर बोलो, आपके सिर में दर्द कहीं नहीं है। सावधानीपूर्वक ध्यान करके बोलो। सरदार साहब ने कहा—प्रोफेसर साहब! अब दर्द बिल्कुल नहीं है। प्रोफेसर का जवाब था—अब दर्द कतई नहीं होगा, आप बेफिक्र रहें, कल इधर आकर मिल लें।

चाहे आंशिक रूप में ही हो, इसे 'अवध्यानावेश' का उदाहरण माने जाने में अधिक बाधा नहीं है। चिकित्सक और रोगी दोनों का फोन द्वारा सम्पर्क रहते भी इनमें आमने-सामने छाया-सम्पर्क की स्थिति नहीं रही। चिकित्सक ने अपने शक्ति-सम्पन्न ध्यानमात्र से दूरस्थित रोगी के ध्यान को प्रभावित किया, और रोग-प्रतीति की ओर से उसे मोड़कर रोगाभाव अर्थात् आरोग्य-प्रतीति की ओर लगा दिया।

४. अब एक अन्तिम उदाहरण देकर इस प्रसंग को पूरा करना है। यह उदाहरण बड़ा चमत्कारपूर्ण एवं दूरगामी परिणाम तक पहुँचानेवाला है। इससे प्राचीन भारत में घटित अनेक प्रसंगों की पुष्टि होती है।

एक बार मेरे पारिवारिक बड़े भाई महावीर सिंह लाहौर आकर अनारकली आर्यसमाज मन्दिर में ठहरे। मुझसे मिलने घर पर अमृतधारा-भवन पहुँचे। आदर-सत्कार आदि के बाद मालूम किया, आपका समान कहाँ है? बोले—समाज मंदिर में सामान है, वहीं ठहरूँगा, तुम मुझे लाहौर के विशेष स्थलों को दिखाने में सहयोग दो। सब स्थलों को क्रमानुसार देखते हुए एक दिन चिड़ियाघर (ज़ू=Zoo) देखने का अवसर आया। लाहौर चिड़ियाघर के आसपास कुछ कृत्रिम पर्वतनुमा टीले

बनाए हुए हैं। उनके ऊपर हरा घासभरा मखमली मैदान, ढलानों व ऊपर के घुमावों में रंग-बिरंगे फूलों की क्यारियों व पंक्तियों से उन्हें बड़ा मनोहारी आकर्षक रूप दे दिया गया है। ढलानों व ऊपरी गोलाइयों में अनेक जगह बैंच बिछाए गए हैं। सैलानी नर-नारी गाहे-बगाहे उधर आकर बैठते, बच्चे मैदानों में किलोलें करते खेलते, तथा वार्षिक परीक्षाओं से कुछ दिन पहले बड़ी श्रेणियों के छात्र जहाँ-तहाँ बैठकर पढ़ते और दृश्य एवं विविध जन-यातायात की मनोहारी छटाओं का आनन्द लेते दिखाई देते हैं। टीले का दृश्य दिखाने की भावना से भाई साहब को टीले पर ले गया। जब चिड़ियाघर के ढलान की ओर हम ऊपर से उतरने को थे, मैंने देखा, प्रो० जगदीशमित्र एक-दो साथियों सहित नीचे घूम रहे हैं। भाई साहब से कहा—ज़रा लपककर चलिए, एक मित्र नीचे घूम रहे हैं, कहीं बाहर निकल न जाएँ। आपको अद्भुत दृश्य दिखलवाने का प्रयास करूँगा। हम जल्दी ही प्रोफेसर के पास पहुँच गए।

भाई साहब का परिचय कराया और संकेत किया कि यह कुछ देखना चाहते हैं। 'अच्छा ! आइये' कहकर वे एक ओर चल पड़े। हम सब साथ-साथ चलते शेर-टाइगर के कठघरे के सामने आए। ये कठघरे आगे-पीछे प्रायः दो दर के होते हैं। एक कोठरी पीछे, जिसमें शेर प्रायः सोता व विश्राम करता है, उसके सामने कटोरा-नुमा बराण्डा रहता है, जो सामने से कुछ गोलाई के साथ नीचे से ऊपर लोहे के मजबूत सींखचों से घिरा रहता है। उसके आगे सड़क के समान स्तर (Level) पर लगभग तीन फीट जगह छोड़कर लगभग तीन-साढ़े तीन फीट ऊँचा जंगला (Railing) उन कठघरों के सामने के पूरे हिस्से को घेरे रहता है, जिससे दर्शक उस जंगले से बाहर रहकर देख सकें, लोहे के सींखचों के पास तक कोई न जाए; भावी खतरे से बचे रहें।

प्रोफेसर जंगले और सींखचों के बीच की खाली जगह में कूद गया। सामान्य दर्शकों की तरह हम सब जंगले के बाहर खड़े रहे। हमने देखा, टाइगर अन्दर की कोठरी में जमीन पर सिर टेके लेटा हुआ है। उसका मुँह बाहर को दरवाजे की ओर था; हमें साफ दिखाई दे रहा था। प्रोफेसर ने उधर देखा, हाथ उठाकर कुछ संकेत किया, शेर ने सिर उठाया और आँखें खोलीं, धीरे-धीरे अगली-पिछली टाँगें उठाकर वह खड़ा हो गया, अँगड़ाई-सी ली, और खरामा-खरामा सींखचों की ओर चल पड़ा। प्रोफेसर उसी तरह खड़ा था। जैसे ही शेर सींखचों के पास आया, प्रोफेसर अपने बाईं ओर जंगला और सींखचों के बीच की गैलरी में चल पड़ा। शेर भी सींखचों के अन्दर उसी गति से प्रोफेसर के साथ-साथ चल रहा था। कठघरे के कोने तक जाकर प्रोफेसर लौट पड़ा; शेर भी उसी तरह खड़े पाँव लौट पड़ा, और प्रोफेसर के साथ दूसरे कोने तक उसी गति से चलता रहा। उधर से लौटकर प्रोफेसर लपककर चला, शेर भी उसी गति से लपककर दूसरे कोने तक साथ-साथ

गया। उधर से लौटते हुए प्रोफेसर अबकी बार भाग पड़ा; शेर भी उसी गति से भागता हुआ दूसरे कोने तक बराबर साथ-साथ आया। ऐसा मालूम होता था, जूए में बँधे बैलों की जोड़ी की तरह दोनों साथ-साथ चल रहे हों।

इतने में दूर तक वहाँ दर्शकों की भीड़ देखकर प्रोफेसर को मैंने संकेत किया। वह अबकी बार कोने की ओर मुड़कर धीरे-धीरे वहीं आकर खड़ा हो गया, जहाँ प्रारम्भ में खड़ा हुआ था। शेर भी उसी गति से सींखचों के अन्दर वहीं आकर खड़ा हो गया। प्रोफेसर के संकेत पर वह बैठा और लेट गया। इस समय शेर की पीठ सींखचों की ओर थी, मुँह अन्दर की ओर। उसका सिर जमीन पर पूरा लुढ़का हुआ था। प्रोफेसर ने सींखचों के अन्दर अपना हाथ डालकर उसे थपथपाया और प्यार किया। शेर के सिर को स्पर्श न करते हुए दो बार उसके ऊपर अपना हाथ घुमाया, और जंगले से बाहर आ गया। अन्तिम क्रिया से प्रोफेसर ने शक्ति के प्रभाव को निरस्त किया था। प्रोफेसर के बाहर आते ही शेर ने सिर उठाया और प्रोफेसर की ओर गहरी दर्दभरी निगाहों से देखा। उसकी उस करुणापूर्ण मुखमुद्रा को गहराई के साथ अध्ययन करने की भावना से मैंने उस समय यह समझा था कि शेर प्रोफेसर का अनुगामी होकर उसके पीछे-पीछे चलने को उत्सुक है, पर बेचारा अपनी मजबूत जकड़ के कारण मजबूर है। प्रोफेसर ने उसकी इस स्थिति को समझकर चलते हुए दो तीन बार मुड़-मुड़कर उसकी ओर देखा था। वह देखना शेर के लिए पूर्ण सान्त्वना प्रदान करना था। हमने देखा, इसके बाद शेर अन्दर की ओर चल पड़ा है। हम लोगों ने भी इस घटना की चर्चा करते हुए चिड़ियाघर के बाहर आ अपने घरों का रास्ता लिया। यह उदाहरण भी अष्टम ऐश्वर्य के 'छाया-वेश' नामक भाग का समझना चाहिए।

इसके अनुसार यह सम्भावना की ही जा सकती है कि भारतीय साहित्य में प्राचीन ऋषियों के आश्रमों का जो वर्णन आता है, जहाँ के वातावरण व परिसर में वन्य पशु भी अपने नैसर्गिक विरोध-भाव को छोड़कर मानव-समुदाय के साथ मिल-जुलकर रहते थे, कोई किसी को बाधा नहीं पहुँचाता था; इसमें सचाई अवश्य है। वैसे इस सम्भावना में कोई अनिवार्य बाधा दिखाई नहीं देती। मानव की मानस-शक्ति बड़ी प्रबल है, यदि उसको अपने पूर्ण स्तर तक उभार लिया जाय। उसने अपने उपयोग के लिए इसी आधार पर अनेक वन्य प्राणियों को अपना पालतू बना लिया है; जो अभी जंगली हैं, उन्हें भी वश्य करने की क्षमता रखता है। यह साधारण मानव की स्थिति है; योगप्रक्रियाओं से असाधारण स्थिति का प्राप्त होना कोई असमंजस की बात नहीं है।

सम्भवतः सन् १९२६-२७ की बात होगी, गुजरात के निवासी एक संन्यासी लाहौर आए। जूतों के व्यापारी रामनाथ भल्ला की कोठी पर ठहरे। वे अपने साथ एक शेर रखते थे। उसके गले में पट्टा और उसमें जंजीर या सूत की मोटी

रस्सी हाथ में पकड़ने के लिए रहती; ठीक इसी प्रकार जैसे बड़ी नस्ल के कुत्तों के शौकीन रईस लोग रखते और अपने साथ कार में बैठाकर ले जाते हैं। स्वामीजी शेर को इसी प्रकार रखते थे। ला० खुशहालचन्द खुर्सन्द ने स्वामीजी को अपने निवास-स्थान आर्यसमाज अनारकली में आमन्त्रित किया। अपने कतिपय मित्रों को भी उस अवसर पर आमन्त्रित किया। मैं उनमें सम्मिलित था। आर्यसमाज के सामने की ड्यौढ़ी की ऊपरी मंजिल पर उनका निवास था। सीढ़ियों से चढ़कर ऊपर जाना होता था। ऊपर के एक कमरे में हम बीस-बाईस व्यक्ति थे। स्वामीजी अपने शेर के साथ उसी कमरे में हमारे बीच बैठे थे। शेर हमारी तरह सीढ़ियाँ चढ़कर वहाँ आया था। अन्दर का तो पता नहीं, पर कोई व्यक्ति बाहर से भयभीत प्रतीत नहीं हो रहा था। आवश्यकतानुसार साधारण रूप में लोग कमरे से बाहर-भीतर आ-जा भी रहे थे। वातावरण नितान्त भी आतंकपूर्ण प्रतीत नहीं हो रहा था; सबकुछ सामान्य-जैसा था। कहा यह जाता था कि स्वामी जी ने योगशक्ति अथवा यौगिक ऐश्वर्य के बल पर उसे वश किया हुआ है। इस रहस्य की जाँच के लिए एक बार भल्ला की कोठी पर भी मैं स्वामीजी से मिलने गया। उस दिन शेर कोठी के आगे एक पेड़ के तने से बँधा खड़ा था। स्वामी जी से बात करने पर भी इस रहस्य का स्पष्ट पता न लग सका। स्वामीजी के साधारण रहन-सहन व व्यवहार आदि से ऐसा प्रतीत नहीं होता था कि वहाँ कोई अतुल यौगिक शक्ति छिपी है। उन्हीं दिनों बाद में मालूम हुआ कि शेर ने स्वामीजी को जख्मी कर दिया। महीना-बीस दिन लाहौर रहकर स्वामी जी अन्यत्र चले गए।

इसका उल्लेख यहाँ इसी भावना से किया है कि ऐसे प्रसंगों की तुलना प्राचीन ऋषियों के आश्रमीय वातावरण से नहीं की जानी चाहिए। बचपन से एक-आध शेर-शावक को पालकर इस रूप में सधाया जा सकता है। उसकी खुराक में परिवर्तन सम्भव है—मांस आदि न खाए, अन्य पौष्टिक आहार दिया जाय; तथा स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ भी आंशिक रूप में परिवर्तित हो सकती हैं। बहुतेरे मदारी बन्दर, नादिया, भालू आदि लेकर उनके सहारे अपना जीवन-निर्वाह करते देखे जाते हैं। उसी तरह किसी ने शेर पाल लिया। सरकसों में भालू-शेर आदि मानव-सम्पर्क में रहते, और उनके जीवन-निर्वाह में अच्छा सहयोग देते हैं। यहाँ स्थिति प्राचीन ऋषि-आश्रमीय परिसर के वातावरण में नितान्त भी नहीं जानी गई। वहाँ ऋषियों एवं अन्य स्थायी आश्रम-निवासियों के द्वारा निष्ठापूर्वक अहिंसा महाव्रत आदि के पालन और उनकी अलौकिक यौगिक शक्तियों का प्रभाव ऐसा वातावरण बनाने में सक्षम रहा हो, जिसमें विभिन्न स्वभाव के वन्य पशु सामूहिक रूप से उस मानव-सम्पर्क में हिंसा-द्वेष आदि प्रवृत्तियों को छोड़कर रह सकते हों, ऐसा स्वीकार करने में कोई संकोच या बाधा आड़े नहीं आती।

प्रो० जगदीशमित्र द्वारा कतिपय क्षणों में टाइगर को अपना अनुगामी बना

लेना यह प्रमाणित करता है—उन्होंने आठवीं सिद्धि को प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की थी, भले ही वह अभी आंशिक रही हो। यह सिद्धि के 'छायावेश' नामक विभाग का उदाहरण समझा जा सकता है।

अंगप्रवेश—आठवें ऐश्वर्य का तीसरा भाग 'अंगप्रवेश' है, सजीव या निर्जीव देह में किसी अन्य आत्मा का प्रवेश। निर्जीव देह में किसी आत्मा के प्रवेश का एक-मात्र लिखित उदाहरण आचार्य शंकर का पढ़ने में आया है। परन्तु उसमें ऐतिहासिक तथ्य कितना सम्भव है? यह अन्वेष्य है। कहा जाता है—मण्डन मिश्र के साथ शास्त्रार्थ के बाद मिश्र की पत्नी भारती ने उनसे कतिपय प्रश्न किए, जो अभी तक दोनों के शास्त्रार्थ में मध्यस्थता कर रही थी। वे प्रश्न कामशास्त्र-विषयक थे, जिनमें आचार्य शंकर अज्ञानी थे। उस विषय की जानकारी के लिए शंकर ने एक राजा के शरीर में प्रवेश किया, और छह महीने तक वहाँ रहते उस विषय की प्रयोगात्मक रूप से जानकारी प्राप्त की; पुनः अपने शरीर में लौटकर भारती से शास्त्रार्थ किया; उसे निरस्त कर पूर्ण विजय प्राप्त किया।

यह सब तिलिस्म की कहानी-जैसी लगती है। छह महीने तक आचार्य का शरीर किस प्रकार और कहाँ सुरक्षित रहा? इसका उल्लेख शंकर के उक्त प्रसंग में संकेतमात्र से भी कहीं उपलब्ध नहीं है। राजा के शरीर में रहकर कामशास्त्र की शिक्षा किस रूप में प्राप्त की, इसके भी विवरण की उपेक्षा की गई है। प्रतीत होता है, माधवीय 'शंकरदिग्विजय' के लेखक ने आचार्य की सब प्रकार पूर्णविजय प्रसिद्ध करने के लिए यह आधारहीन कल्पना कर डाली है। एक नैष्ठिक विद्वान् ब्रह्मचारी राजा के शरीर में प्रवेश कर विषयों का प्रयोगात्मक रूप में उपभोग करे, यह एक अटपटी-सी बात है। इस प्रकार की प्रवृत्ति का आत्मा पर तदनुकूल प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। शरीर भिन्न होने पर भी आत्मा तो उन शरीरों में एक ही है। लेखक ने आचार्य को इस परिस्थिति से बचाने के लिए शरीरान्तर में प्रवेश की व्यर्थ नीरस कल्पना कर डाली है। स्वयं आचार्य भारती के साथ काम-विषयक चर्चा का उत्तर देने में अपनी अज्ञानता प्रकट करके उसे टाल देने पर भी विजय-लाभ का श्रेय अच्छे रूप में प्राप्त कर सकते थे। आचार्य शंकर जैसा महान् व्यक्तित्व एक साधारण चर्चा के लिए अपने-आपको ऐसे अवाञ्छनीय झंझट में डाले, यह समझ में नहीं आता। पर इससे 'अंगप्रवेश' ऐश्वर्य के विषय में किसी प्रकार की शंका का उद्भावन अनुचित होगा।

लगभग बीस वर्ष से दिल्ली और उसके आसपास के प्रदेश में विख्यात एक व्यक्ति ने इस विषय में प्रसिद्धि प्राप्त की है कि उसके सजीव शरीर में अवसर होने पर कोई सिद्ध आत्मा प्रवेश करती है; उस समय वह उच्चकोटि के गम्भीर शास्त्रीय प्रवचन करने में समर्थ होता है। एक बार अपने आत्मीय जन यज्ञेश्वर भूलियान (दिल्ली, लाजपतनगर-निवासी) की प्रेरणा से मैं स्वयं उस व्यक्ति से

मिला और प्रवचन सुना। यह व्यक्ति मुरादनगर के समीप 'खुर्रमपुर-सलेमगढ़' ग्राम (जि० गाजियाबाद) का निवासी ब्र० कृष्णदत्त 'शिरःकम्पी' है। वह प्रवचन के समय अपना सिर निरन्तर इधर-उधर को हिलाता रहता है, इसलिए यह विशेषण उसके नाम के साथ हमने जोड़ दिया है।

यह नितान्त अनपढ़ व्यक्ति है। एक अत्यन्त साधारण, सर्वथा असंस्कृत परिवार में उसका जन्म हुआ। बाल्यकाल से ही वह अनहोनी चेष्टा किया करता था। ज़रा होश सँभालने पर इन घटनाओं से लोगों का उसकी ओर आकर्षण हुआ; जल्दी ही वह दिल्ली आ पहुँचा। दिल्ली में विनयनगर, मालवीयनगर, लाजपतनगर आदि परिसर में बसनेवाले आर्यसमाज-सदस्य उस ओर अधिक आकृष्ट हुए। ब्रह्मचारी के प्रवचन व्यवस्थित रूप से कराये जाने लगे, उनको बराबर टेप किया गया, बाद में प्रकाशित कर वितरित किया गया। एक अतिसाधारण सर्वथा अनपढ़ व्यक्ति के द्वारा गहन शास्त्रीय विषयों पर प्रवचन चमत्कारपूर्ण रहस्य था। इसी सन्दर्भ में यज्ञेश्वर भूलियान मेरे पास इस भावना से पधारे कि इस रहस्य पर मैं कुछ प्रकाश डालने का प्रयास करूँ। मेरे यह कहने पर कि प्रवचन सुने बिना इस विषय में कहना उपयुक्त न होगा, वे यथावसर आकर मुझे दिल्ली ले गए। जो प्रवचन मैंने सुना, वह मालवीयनगर में रात्रि में आठ-नौ बजे के लगभग हुआ था।

प्रवचन की पद्धति—उपयुक्त स्थान पर एक ऊँचा तख्त बिछा दिया जाता है। समय होने पर ब्र० कृष्णदत्त पैरों से सिर तक सारे शरीर को ढँककर लेट जाता है। दोनों हाथ कोहनी से पीछे की ओर मुड़े होते हैं। लगभग दस-बारह मिनट के बाद सिर पर ओढ़ी हुई चादर को अपने साथ लाते हुए आगे को मुड़कर सीधे शरीर के दोनों ओर सीधे पड़े रहते हैं। सिर इधर-उधर को हिलता हुआ ही चादर से बाहर निकलता है। 'मुनिवरो !' सम्बोधन के साथ प्रवचन प्रारम्भ होता है। पहले कुछ विकृत संस्कृत के सन्दर्भ मन्त्रों की तरह उच्चारण करता है, फिर प्रवचन। जब मैं वहाँ पहुँचा, ब्रह्मचारी एक ओर पड़ी चारपाई पर बैठे थे। मैंने पूछा, जो मन्त्र आप प्रवचन के आरम्भ में बोलते हैं, उनका अर्थ समझ में नहीं आता, क्या आप किसी एक मन्त्र का अर्थ बतलाएँगे? उनका उत्तर था—मैं क्या बोलता हूँ, इसका मुझे कुछ पता नहीं। उन्होंने यह वाक्य अपनी ग्रामीण भाषा के लहजे में बोला था। दो-एक प्रश्न और किए। उनके उत्तर ग्रामीण भाषा में ही नकारात्मक थे।

सब मिलाकर प्रवचन लगभग एक घण्टा चला। प्रवचन की भाषा में ग्रामीण लहजा या शब्द-प्रयोग का कहीं संकेतमात्र भी न था। भाषा परिमार्जित तथा प्रतिपाद्य विषय सुसम्बद्ध एवं शास्त्रीय विचारों से ओतप्रोत था। मुझे आश्चर्य था जो व्यक्ति अभी मेरे साथ बिल्कुल ग्रामीण भाषा में बात कर रहा था, वह भाषा और विषय की दृष्टि से इतना मार्मिक कैसे बोल रहा है? उस समय इस रहस्य के

विषय में कुछ नहीं समझ सका था। प्रवचन के अनन्तर इसका स्पष्ट विवरण करने में भूलियान महोदय को मैंने अपनी असमर्थता प्रकट कर दी थी। पर आगे इसपर विचार करने का संकल्प बना दिया था। यह प्रसंग सन् १९६३-६४ के आसपास का है। पिछली बार जब भूलियान गाजियाबाद आकर मुझे मिले तो मेरे पास उन मन्त्रों का संग्रह छोड़ गए, जो प्रवचन के प्रारम्भ में ब्रह्मचारी बोलते रहे। भूलियान की उस मुलाकात तक भी मैं उस रहस्य को स्पष्ट करने में असमर्थ रहा। अब कुछ सुझाव उभरे हैं, इन्हीं पृष्ठों में आगे स्पष्ट करने का प्रयास किया जाएगा।

मुरादनगर से पूरब की ओर स्थित 'खुर्रमपुर-सलेमगढ़' ग्राम (जिला—गाजियाबाद) के निवासी ब्र० कृष्णदत्त का जन्म एक निर्धन हिन्दू जुलाहे परिवार में हुआ। किशोरावस्था में आने पर यह कुछ ऊलजलूल-से वाक्य बोलता रहता था और बेहोश-सा हो जाता था। गाँव के लोगों का यह खयाल था कि इस बच्चे को कोई भूत-प्रेत की व्याधा है। उनका यह विचार स्वाभाविक था। भूत-प्रेत उतारने-वाले सयाना और ओझाओं की झाड़-फूँक भी कराई गई, पर उसका कोई अनुकूल परिणाम नहीं निकला। धीरे-धीरे यह बात फैलते-फैलते गाजियाबाद और दिल्ली तक आ पहुँची। तब तक ब्र० कृष्णदत्त किशोर अवस्था पार कर चुका था और युवावस्था में पदार्पण कर रहा था।

गाजियाबाद में कुछ लोगों ने उसके प्रवचन कराए, उसका विवरण समाचार-पत्रों द्वारा प्रसारित किया गया। इसके सहारे ब्र० कृष्णदत्त दिल्ली जा पहुँचा। वहाँ के कुछ आर्यसमाज-विचार के महानुभावों ने उसके प्रवचन सुने और उसकी ओर आकृष्ट हुए। उन लोगों ने देखा कि ब्र० कृष्णदत्त प्रवचन में जिन बातों को बोलता है उनका सीधे या परम्परा से आर्यसमाज के सिद्धान्तों के साथ सामंजस्य सम्भव है। तब समान विचार के कतिपय व्यक्तियों ने मिलकर एक सोसायटी की स्थापना की और उसे रजिस्टर्ड करवाया और इस सोसायटी की देखरेख में नियमित व व्यस्थित रूप से ब्र० कृष्णदत्त के प्रवचन समय-समय पर कराये जाते रहे और उन्हें टेप करवाया जाता रहा। उनका इस प्रकार प्रवचन-संग्रह मासिक पुस्तक के रूप में प्रकाशित होता रहा; मेरे पास वह सब साहित्य आता रहा। मैं यथासमय उनको पढ़ता रहा; अनेक स्थलों पर मुझे कुछ ऐसे संकेत मिले जिनसे इस समस्या को समझने-सुलझाने में बहुत सहयोग प्राप्त हुआ। उन संकेतों में ऐसी भावना अभिव्यक्त होती है कि प्रवक्ता यहाँ कुछ विचार प्रकट करने आया है।

प्रस्तुत प्रसंग में देवल आचार्य के उपलब्ध सन्दर्भों की व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है; इसमें योगाभ्यास से प्राप्त आठ सिद्धियों का उल्लेख और उनका विवरण दिया गया है। इसमें आठवीं सिद्धि 'यत्रकामावसायित्व' है। इसके तीन भेद हैं—छायावेश, अवध्यानावेश और अंगप्रवेश। आचार्य देवल ने अंगप्रवेश में दोनों का

Scanned with CamScanner

समावेश किया है—जीवित अंग में प्रवेश और मृत अंग में प्रवेश।

मृत देह में अन्य आत्मा के प्रवेश का मुझे एक ही प्रसंग स्मरण है—आद्य शंकराचार्य का। माधवीय 'शंकरदिग्विजय' में इसका जिस प्रकार उल्लेख हुआ है उससे उसकी यथार्थता में सन्देह उत्पन्न होता है। जब आचार्य शंकर ने मंडन मिश्र को शास्त्रार्थ में पराजित किया तब मिश्र की विदुषी पत्नी भारती ने आचार्य से कहा—आपकी पूर्ण विजय उस समय मानी जाएगी जब आप मुझे भी पराजित कर दें, क्योंकि भार्या पति की अर्द्धांगिनी मानी जाती है। उसने कामशास्त्र-सम्बन्धी कतिपय रहस्यपूर्ण प्रश्न किए। आचार्य शंकर नैष्ठिक ब्रह्मचारी होने से उन प्रश्नों के सम्बन्ध में कोई भी जानकारी न रखने के कारण उनका उत्तर देने में सर्वथा असमर्थ थे। 'शंकरदिग्विजय' के लेखक ने तब आचार्य की आत्मा को किसी मृत राजा के शरीर में प्रवेश कराकर वहाँ काम-कला-सम्बन्धी रहस्यों की जानकारी आचार्य को कराई। उसके अनन्तर छः महीने या एक वर्ष में आचार्य की आत्मा अपने शरीर में आई और भारती के पास आकर उसके प्रश्नों का समाधान किया।

'शंकरदिग्विजय' का आद्य आचार्य शंकर-विषयक यह विवरण नितांत कल्पना-मूलक एवं अविश्वसनीय ज्ञात होता है। इसमें अनेक ऐसे सन्देहात्मक स्थल हैं जो समाधान-सापेक्ष हैं तथा जिनका उपयुक्त समाधान दिखाई नहीं देता—

(क) ६ महीने या वर्ष-भर तक शंकर का अपना शरीर सुरक्षित और निर्बाध बना रहने का कोई समुचित आधार दिग्विजय-लेखक ने प्रस्तुत नहीं किया।

(ख) राजा के शरीर में जाकर आचार्य की आत्मा ने काम-कला की समस्त जानकारी कैसे प्राप्त कर ली, जबकि वह आत्मा अपने शरीर में पूर्ण नैष्ठिक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता रहा।

(ग) भारती के काम-कला-विषयक प्रश्नों के उत्तर को यह कहकर टाला जा सकता था कि आचार्य नैष्ठिक ब्रह्मचारी व संन्यासी है, ऐसे प्रश्नों के उत्तर उससे प्राप्त करना औचित्य की सीमा से बाहर है।

(घ) इसके विपरीत दिग्विजय के लेखक ने शंकर की आत्मा को राजा के शरीर में भेजकर और वहाँ काम-कला-नैपुण्य को प्राप्त कराकर उनकी नैष्ठिकता को धूल में मिला दिया है, क्योंकि अपने शरीर में आकर गार्हस्थ्य जीवन के सब संस्कार उनमें विद्यमान रहे।

(ङ) 'शंकरदिग्विजय' के लेखक ने आचार्य की सर्वत्र विजय की भावना से प्रेरित होकर इस कल्पना-प्रसूत विवरण को नितांत अविश्वसनीय बना दिया है।

देवल के द्वारा बताए गए आठवीं सिद्धि के तीन विभागों के विवरण को जब मैंने पढ़ा, तब मेरा ध्यान ब्रह्मचारी कृष्णदत्त की घटना की ओर गया। मुझे यह स्पष्ट हो गया कि यह घटना तीसरे विभाग 'अंगप्रवेश' का उदाहरण है। किसी अन्य आत्मा के जीवित शरीर में, कोई योगभ्रष्ट पर सिद्धयोगी असंतृप्त आत्मा

Scanned with CamScanner

अपनी तृप्ति और संतुष्टि के लिए, प्रवेश करता है। छायावेश और अवध्यानावेश के कतिपय उदाहरण प्रो० जगदीशमित्र द्वारा प्रयोग किए गए गत पंक्तियों में लिखे हैं, उसी तरह यह अर्थात् ब्र० कृष्णदत्त की घटना उसके शरीर में किसी अन्य योगभ्रष्ट आत्मा के प्रवेश का उदाहरण है। उस आत्मा के प्रवचनों में भी अनेकत्र ऐसी भावना झलकती है कि वह अपनी कामनाओं की पूर्ति-हेतु इस शरीर में आता है।

उसने अपनी इच्छापूर्ति-हेतु ऐसे शरीर को माध्यम बनाया है जहाँ नितांत मूर्ख, अज्ञानी आत्मा का निवास है। यदि वह किसी विद्वान्, ज्ञानी आत्मा के शरीर को माध्यम बनाता तो वहाँ ऐसे प्रवचनों को सुनकर श्रोता लोग यही समझते कि यह विद्वान् स्वयं ये बातें कह रहा है। इससे अंगप्रवेश करनेवाले आत्मा को तृप्ति व संतुष्टि न होती, क्योंकि उस द्वारा किए गए प्रवचन उस शरीर की अपनी अभिमानी आत्मा पर आरोपित कर दिए जाते।

जब कृष्णदत्त ब्रह्मचारी चादर से ढके शरीर पर सिर को उघाड़ता है तब सिर इधर-उधर को हिलता हुआ ही दिखाई देता है, और जब तक वह प्रवचन करता है सिर दोनों तरफ को लगातार हिलता ही रहता है। प्रतीत होता है कि वह प्रवचन सुननेवालों की ओर अपना साम्मुख्य बनाए रखने के लिए ऐसा करता है। इस अवस्था में उस शरीर का अभिमानी आत्मा नितांत सुप्त पड़ा रहता है। उसके मस्तिष्क और वाणी का उपयोग उस शरीर में प्रविष्ट योगभ्रष्ट आत्मा अपनी इच्छानुसार करता है।

ब्र० कृष्णदत्त के प्रवचनों का प्रबन्ध आदि करनेवाली सोसायटी इस बात का प्रचार करती है कि ब्रह्मचारी जब प्रवचन करता है तब वह समाधि-अवस्था में स्वयं पहुँचकर प्रवचन करता है। जब तक समाधि-अवस्था चालू रहती है तब तक प्रवचन चलता रहता है, अथवा जब तक प्रवचन चलता है समाधि-अवस्था बनी रहती है।

मेरे विचार से सोसायटी का ऐसा समझना और कहना सर्वथा असंगत है। ब्र० कृष्णदत्त के महत्त्व को उजागर करने के लिए और श्रोताओं में उसके प्रति श्रद्धा और आकर्षण पैदा करने के लिए उनका कथन भले ही ठीक कहा जाए, परन्तु शास्त्रीय दृष्टि से यह किसी भी प्रकार संगत नहीं है। यह कहना ही अपने-आप में पूर्णतया विरुद्ध है कि कोई व्यक्ति समाधि-अवस्था में भी रहे और प्रवचन भी करता रहे। यही कारण है कि प्रवचन के समय कही गई कोई भी बात आंशिक रूप से भी अन्य अवस्था में ब्रह्मचारी को मालूम नहीं होती। कोई भी वास्तविक योगी समाधि-अवस्था में होनेवाली अनुभूति को नितांत भूल जाए, ऐसा एक भी उदाहरण संसार में उपलब्ध नहीं है। इससे स्पष्ट है कि उस शरीर में प्रवचन करने वाला आत्मा अन्य है। उसके प्रवचन की बातें ब्र० कृष्णदत्त के आत्मा को मालूम

Scanned with CamScanner

ही नहीं हो सकतीं।

ब्र० कृष्णदत्त प्रवचन से पूर्व मंत्रों की तरह जो सन्दर्भ बोलता है उसके नमूने यहाँ देने हैं, पर दिए नहीं जा सके। विनयनगर दिल्ली में ब्रह्मचारी के नाम पर बनी संस्था के द्वारा उन मन्त्रों के नमूने मालूम किए जा सकते हैं।

लोक में 'अष्टसिद्धि' नाम से प्रसिद्ध अणिमा आदि आठ ऐश्वर्यों का निरूपण कर आठवें ऐश्वर्य का सन्दर्भकार प्रभावक्षेत्र बताता है—

यत्रकामावसायित्वेन मूर्त्तद्रव्यं चाधितिष्ठतीति ऐश्वर्यावस्थानम्।

'यत्रकामावसायित्व' नामक ऐश्वर्य के द्वारा सिद्धिप्राप्त योगी[1] मूर्त्तद्रव्य पर अधिष्ठित होता है, प्रभावी होता है, अर्थात् अपनी शक्ति का प्रभाव मूर्त्तद्रव्य पर डाल सकता है, अमूर्त्त पर नहीं। इस ऐश्वर्य के प्रभाव का मूर्त्तद्रव्य ही आश्रय है, आवासस्थान है। यह तथ्य प्रथम दिए गए ऐश्वर्य के उदाहरणों से स्पष्ट है। जैसे ब्र० कृष्णदत्त के उदाहरण में प्रविष्ट आत्मा का प्रभाव कृष्णदत्त के मूर्त्त शरीर पर ही रहता है, अमूर्त्त आत्मा पर नहीं।

सन्दर्भकार ने उक्त ऐश्वर्यों की प्राप्ति का हेतु बताया—

तच्च प्रकृति-पुरुषोत्तरहेतोर्धर्मतेजोज्ञानविशेषात्।

वह ऐश्वर्य - प्रकृति-पुरुष-सम्पर्क से ऊपर उठकर—धर्म, तेज और ज्ञानविशेष हेतु से होता है। 'विशेष' पद का धर्म, तेज, ज्ञान—तीनों के साथ सम्बन्ध है। प्रकृति-पुरुष के सम्पर्क की स्थिति से ऊपर उठकर जब योगी-विशेषज्ञ अनुभवी पूर्वाचार्यों, उपदेष्टाओं द्वारा बोधित प्रक्रियाओं का अनुष्ठान करते हुए धर्मविशेष, तेजोविशेष एवं ज्ञानविशेष का सम्पादन कर लेता है, तब उक्त ऐश्वर्यों को प्राप्त हो जाता है। तात्पर्य है, पूर्वाचार्यों द्वारा निर्दिष्ट—ऐश्वर्य-प्राप्ति के—साधनों का निष्ठापूर्वक अनुष्ठान करना ऐश्वर्य-प्राप्ति का हेतु बताया गया है।

ऐश्वर्य-प्राप्ति से योगी की स्थिति क्या होती है, बताया—

सातिशयेन संभूतं चैश्वर्याद् भवतीति।

प्राप्त ऐश्वर्य के कारण योगी अतिशय—लोकातिशय स्थिति से सम्पन्न हो जाता है।

सन्दर्भकार ने ऐश्वर्य-प्राप्ति का फल बताया—

एवमेतानैश्वर्यगुणानधिगम्योद्धृतकल्मषः च्छिन्नसंशयः प्रत्यक्षदर्शी धर्मपरा-

---

१. सावयव द्रव्य—जो इन्द्रियग्राह्य हो—मूर्त्त कहा जाता है। वे अवयव परस्पर शिथिल संयोग वाले न हों। संघट्टित—अतिशय संश्लिस्ट हों।
(द्रष्टव्य—न्याय-सूत्र, २।२।६९ तथा उसका वात्स्यायन-भाष्य)

वरज्ञः कूटस्थः सर्वमिदं असदनित्यमिति ज्ञात्वा स्वयमेव शान्तिमधिगच्छती-त्यैश्वर्यावाप्तिः[१]। (पृष्ठ २१६)

इस प्रकार अणिमा आदि इन ऐश्वर्य-गुणों—सिद्धिविषयक विशेषताओं—को प्राप्त कर, अन्तःकरण के सब मैल धोकर, संशय की दशा को पार कर, आत्मा का साक्षात् करनेवाला, धर्मविषयक—इस लोक-परलोकसम्बन्धी—तत्त्वों का पूर्ण ज्ञाता, केवल आत्मतत्त्व में निष्ठा रखनेवाला योगी 'यह सब जगत् परिणामी, परिवर्तनशील, अनित्य है' ऐसा जानकर स्वयं आत्मतत्त्व में अवस्थित होकर अतुल शान्तिलाभ करता है, यही ऐश्वर्य-प्राप्ति का फल है।

वह फल क्या है ? सन्दर्भकार ने विभागपूर्वक बताया—

सायुज्यं सालोक्यं प्रकृतिलयो मोक्षश्चेति चतुर्विधं प्रयोजनम्। तेषामैश्वर्या-वाप्तियुक्त्या हिरण्यगर्भनारायणशिवमहेन्द्रसोमसूर्यस्कन्द - ज्येष्ठोमादेवी-प्रभृतीनां देवतानामैकजल्पं (?) सायुज्यम्। (पृष्ठ ८)

सायुज्य, सालोक्य, प्रकृतिलय और मोक्ष, यह चार प्रकार का प्रयोजन है। ऐश्वर्य-प्राप्ति के अनन्तर उनके फलस्वरूप चार प्रकार की गतियाँ हैं, उनमें अन्तिम मोक्ष है। प्रथम गति सायुज्य का स्वरूप 'तेषाम्' इत्यादि अग्रिम सन्दर्भ से स्पष्ट किया—उन चारों प्रकार की गतियों में—ऐश्वर्यप्राप्ति के यथायथ क्रम से अथवा उत्तरोत्तर क्रम से—हिरण्यगर्भ, नारायण, शिव, महेन्द्र, सोम, सूर्य, स्कन्द, ज्येष्ठा, उमा देवी आदि देवों के साथ योगी (ऐश्वर्यप्राप्त व्यक्ति) का ऐकरूप्य हो जाना 'सायुज्य' नामक गति है। ऐश्वर्य के अनुसार विशेष सुखप्रद लोक में प्राप्त हो जाना 'सालोक्य' नामक गति है। यह गति इसी पृथिवीलोक में अथवा अन्यत्र भी सम्भव है। ये दोनों गतियाँ अवैदिक परम्परा के अनुसार कही गई समझनी चाहिएँ, यदि इन्हें मोक्ष का स्वरूप समझा जाता है; अन्यथा ऐश्वर्यविशेष के फलस्वरूप गति-विशेष मानने में कोई आपत्ति नहीं।

'प्रकृतिलय' नामक गति के लिए योगसूत्र (१.१९) तथा उसके व्याख्या-ग्रन्थों को देखना अभीष्ट होगा। ऐश्वर्यविशेष की चौथी गति मोक्ष है, जिसका स्वरूप सर्वत्र शास्त्रों में विस्तार के साथ वर्णित है।

देवल का जो सन्दर्भ प्रस्तुत प्रसंग में उद्धृत किया गया है, उसमें केवल 'सायुज्य' गति का वर्णन है। सम्भव है, आगे अनुद्धृत सन्दर्भ में अन्य गतियों का विवरण अवश्य प्रस्तुत किया गया होगा।

चालू प्रसंग में कृत्यकल्पतरु से उद्धृत देवल के सन्दर्भों में यह अन्तिम है—

स तथा निवृत्तो निर्गुणश्छिन्नबन्धो जन्मजरामरणदुःखविनिर्मुक्तः सुप्तवत्

---

१. मूल में '०र्याव्याप्तिः' पाठ है। यहाँ पृष्ठ-संख्या 'कृत्यकल्पतरु' ग्रन्थ की 'अणिमा महिमा' से यहाँ तक के पाठ की है।

मत्तवत् विषधूमपानवत् सत्त्वादिहीनः तन्मात्रावस्थितः परमसुखमैकान्तिक-मधिगच्छतीति सांख्यम् । (पृष्ठ ७)[1]

वह ऐश्वर्यप्राप्त योगी सांसारिक झंझटों से अलग हुआ, प्रकृति-सम्पर्क में न रहता हुआ, सब प्राकृत बन्धनों को काटकर, जन्म, बुढ़ापा और मृत्यु के दुःखों से छूटकर, सुषुप्त के समान, मत्त के समान, विषपान या धूमपान करनेवाले के समान सत्त्वादि प्रकृतिरूप गुणों के सम्पर्क से रहित एकमात्र परमात्मतत्त्व में अवस्थित हुआ ऐकान्तिक (कभी विकृत न होनेवाले) परमसुख—मोक्ष—को प्राप्त कर लेता है, यह सब सांख्य बतलाता है।

इस सन्दर्भ से सुप्त, मत्त, विषपान, धूमपान करनेवाले का जो उदाहरण दिया है, उसका केवल इतना तात्पर्य है कि इस प्रकार का व्यक्ति उक्त अवस्थाओं में सामाजिक अच्छाइयों-बुराइयों आदि की ओर से निरपेक्ष—उदासीन रहता है; उस व्यक्ति का सामाजिक व्यवस्थाओं की ओर कोई ध्यान नहीं होता। वह इस प्रकार के बन्धनों से अलूफ़-सा रहता है। इसी प्रकार योगी, आत्मदर्शी प्राकृतिक व्यवस्थाओं व बन्धनों से सर्वथा रहित हो जाता है,—इतने अंश में समानता के आधार पर उक्त उदाहरण हैं।

महाभारत, सभापर्व (७२.५, कुम्भघोष संस्करण) में देवल का निम्न प्रकार उल्लेख है—

त्रीणि ज्योतींषि पुरुष इति वै देवलोऽब्रवीत् ।
अपत्यं कर्म विद्या च यतः सृष्टाः प्रजास्ततः ।।

देवल ने कहा—तीन मूलभूत ज्योति हैं, सत्त्व-रजस्-तमोरूप तीन मूलतत्त्व और पुरुष। प्रकृति और पुरुष, जड़ और चेतन दो प्रकार के तत्त्व हैं। इनको ज्योतिः क्यों कहा गया ? तमस् जैसे तत्त्व को ज्योति कहना क्या उपयुक्त होगा ? संहिता[2] व ब्राह्मणग्रन्थों में एक वाक्य आता है—'अयं वै लोको ज्योतिः'—यह विस्तृत लोकसमुदाय ज्योतिः है। अप्रकाशमय पृथिवी के लिए 'ज्योतिः' पद का प्रयोग है—'इयं (पृथिवी) वै ज्योतिः'[3]। इस रूप में इन सब लोक-लोकान्तरों के कारण भूत तत्त्व—सत्त्व, रजस्, तमस् को 'ज्योतिः' पद से कहना अनुपयुक्त नहीं है।

प्राणिवर्ग में इनका व्यावहारिक रूप—अपत्य, कर्म और विद्या, ये तीन ज्योति

---

१. यह पृष्ठसंख्या ७, तथा पूर्व-सन्दर्भ की संख्या ८, कृत्यकल्पतरु ग्रन्थ के 'मोक्ष-स्वरूप' प्रसंग की है।

२. द्रष्टव्य—काठ० सं० ३३।३।। ऐ० ब्रा० ४।१५।। जै० उ० ब्रा० २।३।१७।। तुलना करें, तां० ब्रा० ४।१।७।।

३. तै० सं०, २।४।२ तां० ब्रा० १६।१।७।।

हैं। पहला पद साजात्यप्रजनन का द्योतक है। प्राणिवर्ग में नैसर्गिक रूप से चालू रहता है। द्वितीय पद प्रत्येक वस्तु (प्राणी-अप्राणी) की सक्रियता का द्योतक है। संसार में कोई तत्त्व क्रियाहीन, अकर्मण्य या निष्प्रयोजन नहीं है। प्रत्येक का अपना-अपना कर्म—कार्य है और वह किसी प्रयोजन को निष्पन्न करना है। तृतीय पद साधारण ज्ञान से लगाकर आत्मसाक्षात्कार-पर्यन्त का बोधक है। कोई पदार्थ ज्ञान का कर्त्ता है, कोई ज्ञान का विषय। इसकी लपेट में सभी तत्त्व आते हैं। इन्हीं तीन (अपत्य, कर्म, विद्या) पर समस्त प्रजाओं का सर्जन व संचालन होता है।[1]

यजुर्वेद में 'त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी' वाक्य दो स्थलों[2] पर आया है। परमात्मा का वर्णन है। वह षोडशी है, सोलह[3] कलाओं का निर्माता है। तीन ज्योतियों में वह समवेत—व्याप्त रहता है। वह तीन ज्योति अग्नि, वायु, सूर्य हैं। अग्नि पृथिवी का, वायु अन्तरिक्ष का, सूर्य द्युलोक का प्रतीक है। महीधर व्याख्याकार ने इस सन्दर्भ के दूसरे स्थल (३२.५) पर वायु के स्थान पर तीसरी ज्योति इन्दु—चन्द्रमा को बताया है। आधुनिक व्याख्याकार वायु या चन्द्रमा के स्थान पर

---

१. इस विचार के लिए तुलना करें—शांखा० आ० ७।४॥

२. यजु० ८।३६, ३२।५॥

३. प्रश्न उपनिषद् के छठे अध्याय में सोलह कला वाले पुरुष के विषय में प्रश्न किया गया है—'षोडशकलं पुरुषं वेत्थ ?' उस प्रसंग में निम्नलिखित सोलह कलाओं का निर्देश है—प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, ज्योतिः, आपस् (जल), पृथिवी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक, नाम। इनका विशद विवेचन उपनिषदों के व्याख्यानों में द्रष्टव्य है। उपनिषत्कार ने वैदिक 'षोडशी' पद का विवरण उक्त रूप में प्रकट किया प्रतीत होता है।

चन्द्रमा की सोलह कला लोकप्रसिद्ध हैं। उनके नाम निम्न प्रकार बताए जाते हैं—अमृता, मानदा, पूषा, तुष्टि, पुष्टि, रति, धृति, शशिनी, चन्द्रिका, कान्ति, ज्योत्स्ना, श्री, प्रीति, अंगदा, पूर्णा, अमृता। शुक्ल पक्ष में चन्द्रमा एक-एक कला बढ़ता है। पन्द्रह संख्या पर 'पूर्णा' कला है। मूलभूत कला 'अमृता' है, जिसको स्थायी मानकर पन्द्रह की वृद्धि होती है। इसी कारण उसे आदि-अन्त में दोनों ओर गिनकर सोलह संख्या का सामंजस्य होता है। कृष्णपक्ष में एक-एक कला का ह्रास होता जाता है। अमावास्या को केवल एक स्थायी कला (अमृता) शेष रह जाती है, जो शुक्ल प्रतिपदा से पुनः बढ़ने लगती है। पृथिवी के चारों ओर चन्द्रमा की परिक्रमा की स्थिति में पृथिवी से आच्छादित चन्द्रमा के भागों पर सूर्य का प्रकाश न पड़ने, तथा अनाच्छादित भागों पर पड़ने से कृष्ण-शुक्ल पक्ष बनते हैं। साहित्य इनका 'कला' रूप में वर्णन करता है। कला पद का अर्थ 'अंश' व भाग है।

विद्युत् का ग्रहण करते हैं। प्रतिदिन सायंकाल होम के अवसर पर 'ज्योतिः' के उद्देश्य से तीन मन्त्र बोलकर आहुति देते हैं—

अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा,
इन्द्रो ज्योतिर्ज्योतिरिन्द्रः स्वाहा,
सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा।

यहाँ मध्य मन्त्र में पठित 'इन्द्र' पद विद्युत् का प्रतीक है; अतः वेदव्याख्या में तीन ज्योति के अन्तर्गत अग्नि, विद्युत्, सूर्य का ग्रहण करना अधिक उपयुक्त है। अग्नि पृथिवीस्थान, विद्युत् अन्तरिक्षस्थान, सूर्य द्युस्थान माने जाते हैं। इन तीन पदों से तीनों लोकों का ग्रहण होकर समस्त विश्व का इनमें अन्तर्भाव हो जाता है। महीधर ने 'ज्योतींषि' पद का अर्थ करते हुए लिखा है—'तेजांसि विषयज्ञापकानि' विषयज्ञापकता अर्थ, अग्नि-विद्युत्-सूर्य को तीन ज्योति मानने पर संगत होता है।

वायुपुराण (अ० ६६, श्लो० १५१-५२) में उत्तम योगी के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए दो श्लोक उद्धृत हैं—

इमौ चोदाहरन्त्यत्र श्लोकौ योगेश्वरं प्रति।

वे श्लोक निम्न प्रकार हैं—

आत्मनः प्रतिरूपाणि परेषां च सहस्रशः।
कुर्याद्योगबलं प्राप्य तैश्च सर्वैः सहाऽऽचरेत्॥
प्राप्नुयाद् विषयाँश्चैव तथैवोग्रं तपश्चरन्।
संहरेच्च पुनः सर्वान् सूर्यतेजो गुणानिव॥

योग से सम्पादित बल को प्राप्त कर, अपने समान समझकर अन्यों के अनेक उपेक्षित स्वानुरूप सामाजिक कार्यों को सम्पन्न करे, और उन सभी अन्यों के साथ मिल-जुलकर या हिलमिलकर रहता हुआ आचरण करे। पहले के समान अर्थात् निरन्तर कठोर तपश्चरण का अनुष्ठान करता हुआ सर्व-साधारण के सामाजिक कार्यों में सम्मिलित होता रहे। समय आने पर—जैसे सूर्य अपनी किरणों का उपसंहार कर लेता है, उन्हें समेट लेता है, इसी प्रकार—अपनी समस्त प्रवृत्तियों का उपसंहार कर ले।

उत्तम योगी वही है, जो अपने योग-सम्बन्धी आवश्यक अनुष्ठानों को सम्पन्न करता हुआ, सर्व-साधारण सामाजिक कार्यों के लिए समय लगाने में अभिरुचि रखता है। इससे अन्य सामाजिक जनों को भी श्रेयोमार्ग को समझने और उसमें प्रवृत्ति के लिए अवसर मिल जाता है। सर्व-साधारण में उन्हीं के स्तर पर कार्य करता हुआ भी योगी उसमें कभी आसक्त नहीं होता; समय आने पर अपनी प्रवृत्तियों को हँसते-खेलते समेट लेता है। महान् पुरुष लोक में ऐसी ही परि-स्थितियों के उदाहरण होते हैं।

Scanned with CamScanner

योगी की इन्हीं भावनाओं और प्रवृत्तियों के अनुरूप गीता के तीसरे अध्याय (२१–२६) में भगवान् कृष्ण ने अपने विषय में कहा है—श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करते हैं, लोक उन्हीं का अनुसरण किया करता है। यद्यपि मुझे कोई कर्त्तव्यकर्म शेष नहीं है, न मेरे लिए कुछ अप्राप्त वस्तु प्राप्तव्य है, फिर भी नियमित रूप से मैं कर्मानुष्ठान में लगा रहता हूँ। यदि मैं सतर्क होकर यह न करूँ, तो सर्वसाधारण जन भी कर्मविमुख होकर सन्मार्ग से विचलित हो उच्छिन्न हो जाएँ। कृष्ण ने अपने जीवन से योगी के दैनिक कर्त्तव्यों को स्पष्ट किया है। योगी की इस प्रकार की प्रवृत्तियों का गीता के चौथे-पाँचवें अध्याय में विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है।

वायुपुराण में उद्धृत ये दोनों श्लोक 'कृत्यकल्पतरु' नामक ग्रन्थ के मोक्षकाण्ड प्रकरण में पृष्ठ २१८ पर देवल के नाम से उद्धृत हैं। इसी कारण यहाँ संग्रह कर लिया है। देवल के नाम से उद्धृत अनेक पद्य कृत्यकल्पतरु ग्रन्थ में तथा अन्यत्र उपलब्ध होते हैं, पर उनके सांख्य-योगविषयक न होने से यहाँ उनके संकलन की उपेक्षा कर दी है।

इति देवल-सन्दर्भसंग्रहः।

(२९) हारीत सांख्याचार्य—६

सांख्यसप्ततिव्याख्या माठरवृत्ति (आर्या ७१) में दी गई प्राचीन सांख्याचार्यों की सूची में हारीत का नाम है। महाभारत में अनेक[1] स्थलों पर उसका उल्लेख हुआ है। लक्ष्मीधर भट्ट रचित कृत्यकल्पतरु नामक ग्रन्थ के मोक्षकाण्ड प्रकरण में हारीत के नाम पर अनेक सन्दर्भ उद्धृत उपलब्ध हैं। इनमें वानप्रस्थ और यति-धर्म आदि का वर्णन है। सन्दर्भ यथाक्रम व्याख्यासहित प्रस्तुत हैं—

१. त्रेतां श्रावणकं वाऽग्निमाधाय वल्कलशाणचर्मचीरकुशमुञ्जफलकवासा वानप्रस्थोक्तेन विधिना। वानप्रस्थो द्विविधो भवति—स्वानुज्ञायिकोऽनुप्रस्थायिकश्चेति। स्वानुज्ञायिकश्चतुर्विधः—एकवृत्तिः, संप्रक्षालकः, आत्मवृत्तिः, अहिंसकश्च। (पृष्ठ २२)

वानप्रस्थ आश्रमी के लिए कही गई विधि के अनुसार त्रेता अग्नि अर्थात् तीन प्रकार के—आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिण—अग्नियों का आधान, स्थापना करके, वल्कल—पेड़ों की छाल के रेशे से बना कपड़ा, शाण—सन से बना कपड़ा, चर्म—मृगचर्म, चीर—छोटे-छोटे बेकार टुकड़ों को जोड़कर बनाया कपड़ा, कुश अथवा मूंज से बने फलक—चटाई के समान आच्छादन आदि साधनों में से जो उपलब्ध हो, वानप्रस्थी उसे पहनकर रहे।

वानप्रस्थ दो प्रकार का होता है: एक—स्वानुज्ञायिक, दूसरा—अनुप्रस्थायिक। पहला वह है, जिसमें वानप्रस्थी केवल अपनी अनुमति का अनुसरण करता है, तात्पर्य है—पत्नी को साथ न लेना, अपत्नीक रहना। दूसरा भेद सपत्नीक वानप्रस्थ का है, जिसमें अपने साथ अनुप्रस्थान—अनुगमन करनेवाला रहता है अर्थात् जिसमें अनुगामी का सहयोग बना रहता है।

इनमें पहला अपत्नीक वानप्रस्थ चार प्रकार का है: एकवृत्ति—चौबीस घंटे में अर्थात् एक दिन-रात में एक ही बार भोजन करना। सप्रक्षालक—एक बार भोजन कर पात्र आदि का प्रक्षालन कर देने पर फिर चौबीस घंटे तक कोई आहार आदि न लेना। आत्मवृत्ति—जो स्वतः प्राप्त हो जाय, उसी से निर्वाह करना। अहिंसक—अपने निर्वाह आदि के प्रसंग में किसी को नितान्त भी कष्ट न देना।

---

१. द्रष्टव्य—म० भा०, वन० २६।२३॥ शान्ति०, ४७।७॥ तथा अध्याय २७८, गोरखपुर संस्करण।

दूसरे भेद के विवरण को प्रस्तुत करनेवाला कोई सन्दर्भ यहाँ नहीं दिया गया।[1]

२. स्थाण्वेकपादैकपार्श्वोर्ध्वाग्ग्रीष्मतपनवर्षाभ्रावकाशहिमजलशयनकुशप्रस्तर स्थण्डिलशर्करोलूखलमुसलकीस्मकशय्याप्रभृतिभिरात्मानं क्षपयेत्।

(पृष्ठ २६)

स्थाणु—ठूंठ के समान निरन्तर अधिकाधिक समय तक खड़े रहकर; एकपाद—एक पैर के बल रहकर; एक पार्श्व-ऊर्ध्वाविाक्—एक करवट सीधे ऊपर को मुँह किए या दाएँ-बाएँ सोकर अर्थात् एक ही करवट से सोने का नियम कर; तपती

---

१. 'वैखानस गृह्यसूत्र' के वर्णाश्रम प्रकरण में वानप्रस्थ के अनेक भेदों का विवरण उपलब्ध होता है, जो इस प्रकार है—**"वानप्रस्थाः सपत्नीका अपत्नीकाश्चेति। सपत्नीकाश्चतुर्विधाः—औदुम्बरो वैरिञ्चो वालखिल्यः फेनपश्चेति।**

१. औदुम्बरः—अकृष्टफालावाप्यौषधिभोजी, मूलफलाशी वा, लवणहिंगुलशुनमधुमत्स्यमांसपूत्यन्तधान्याम्ल - परस्पर्शनपरपाकवर्जी, देवर्षिपितृमनुष्यपूजी, वनचरो ग्रामबहिष्कृतः सायंप्रातरग्निहोत्रं हुत्वा श्रामणानिहोमं वैश्वदेवहोमं च कुर्वंस्तपः समाचरति। श्रामणकाग्निमेकमेवाधाय जुहोतीत्येके।

वानप्रस्थ सपत्नीक और अपत्नीक भेद से दो प्रकार के होते हैं। उनमें सपत्नीक के चार भेद हैं—औदुम्बर, वैरिंच, वालखिल्य और फेनप।

उनमें औदुम्बर वानप्रस्थ वह है, जो बिना बोए फल व बिना बोए अन्न, ओषधि आदि का आहार करता है, अथवा जंगली पौधों की जड़ व फल आदि खाकर निर्वाह करता है; जिसने नमक, हींग, लहसुन, शहद, मछली, मांस, बुसा अन्न व धान्य, खटाई, दूसरे के छुए व पकाए गए आहार का सर्वथा परित्याग कर दिया है; जो देवों, ऋषियों, माता-पिता एवं मान्य पुरुषों का सदा आदर-सत्कार करता है; जंगल में विचरण करता, बस्ती से बाहर रहता, सायं-प्रातः दोनों समय अग्निहोत्र होम करके, वानप्रस्थ-विधि से आहित-स्थापित विशेष अग्नि में होम कर तथा वैश्वदेव होम करता हुआ निरन्तर तपश्चरण में तत्पर रहता है। कतिपय आचार्यों का मत है कि वानप्रस्थ-विधि से आहित अग्नि में ही होम करे, अन्य होम की अपेक्षा नहीं।

२. वैरिञ्चः—प्रातर्यां दिशं प्रेक्षते तां दिशं गत्वा तत्र प्रियंगुयवश्यामाकनीवारादिभिर्लब्धैः स्वकीयानतिथींश्च पोषयित्वाऽग्निहोत्रश्रामणकवैश्वदेवहोमी नारायणपरायणस्तपःशीलो भवति।

इनमें दूसरा 'वैरिंच' नामक वानप्रस्थ वह है, जो प्रातःकाल उठकर जिस दिशा की ओर प्रथम देखता है, उसी दिशा की ओर जाकर वहाँ से

गरमी, वर्षा, खुले आकाश, बरफ या गीले में शयन कर, अर्थात् सोते समय उक्त स्थितियों में जैसा भी अवसर हो उसी में सो जाय, उससे बचने का प्रयास न करे; कुश का बिछौना, तप्पड़, खुली कंकरीली ऊबड़-खाबड़ (ऊँची-नीची) जमीन तथा कीलों की शय्या पर सोने आदि कार्यों से शरीर को क्षीण करने का प्रयास करे। ऐसा करने से इन्द्रियाँ विषयों की ओर दौड़ लगाना बन्द कर देती हैं।

यथोपलब्ध (जितना जो कुछ मिले उतना लेकर) प्रियंगु (विभिन्न प्रान्तों में दहिया, शुमाली, चिरोंजी, मालकंगनी आदि पदों से इसका प्रयोग किया जाता है), जौ, समा (गेहूँ के खेत में बिना बोए उपजा कदन्न), नीवार (जंगली चावल जो बिना जोते-बोए उपज आता है) आदि से अपने अतिथियों का आदर-सत्कार कर अग्निहोत्र, श्रामणक तथा वैश्वदेव होम करता, और परमात्मा की उपासना में तत्पर रहता हुआ तपश्चर्या में संलग्न रहता है।

३. वालखिल्यः—जटाधरश्चीरवल्कलवसनोऽर्काग्निः कार्तिक्यां पौर्णमास्यां पुष्कलं भुक्तमुत्सृज्यान्यथा शेषान् मासानुपजीव्य तपः कुर्यात्। अस्य सूर्य एवाग्निर्भवतीत्यामनन्ति।

इन सपत्नीक वानप्रस्थाश्रमों में तीसरा 'वालखिल्य' नामक वानप्रस्थ वह है, जिसमें जटा धारण की जाती है, अर्थात् क्षौर कर्म नहीं कराया जाता, चीर (कपड़े के छोटे-छोटे टुकड़ों को जोड़कर बनाया वस्त्र) और छाल के रेशे से बने वस्त्र धारण किए जाते हैं, सूर्य ही जहाँ आग का काम देता है, तात्पर्य है, सूर्य की गरमी में पका आहार—फल आदि का—उपयोग में आना है। वर्ष में उपयोग से जो अतिरिक्त आहार-सामग्री बच जाय, उसे कार्तिक मास की पूर्णमासी के दिन वितरित कर, वर्ष के शेष महीनों को अन्य प्रकार से प्राप्त आहार आदि के द्वारा बिताते हुए तपश्चर्या में लगे रहना होता है। इस वानप्रस्थ का सूर्य ही अग्नि है, ऐसा शास्त्रकार कथन करते हैं।

४. फेनपः—उद्दण्डक उन्मत्तको निरोधकः शीर्णपतितपत्राहारी चान्द्रायण-व्रतं चरन् पृथिवीशायी नारायणं ध्यायन् मोक्षमेव प्रार्थयते॥७॥

सपत्नीक वानप्रस्थों में चौथा 'फेनप' नाम वानप्रस्थ वह है, जो उद्दण्ड के समान निर्द्वन्द्व, उन्मत्त की तरह व्यवहार करता हुआ जहाँ चाहे खड़ा हो जाता है, भले ही उससे यातायात में अवरोध होता हो, पके गिरे हुए पत्तों का आहार करता है, उस दशा में भी चान्द्रायण व्रत का आचरण करता है। तात्पर्य है एक पत्ते से प्रारम्भ कर प्रतिदिन एक-एक पत्ता बढ़ाता हुआ निर्धारित समय तीस दिन या चालीस दिन तक पहुँच जाता है। फिर एक-एक पत्ता प्रतिदिन घटाता हुआ एक पत्ते तक आ जाता है, यह एक चान्द्रायण व्रत है। चन्द्रमा की प्रतिदिन एक-एक कला बढ़ने और घटने के आधार पर

Scanned with CamScanner

३. सांख्ययोगयोर्भिक्षोर्ब्रह्मलयेच्छाप्राप्तिवचनानन्तरं हारीतः ।

सांख्य और योग में—भिक्षु (वानप्रस्थ) के मोक्ष-प्राप्ति की अभिलाषा के प्रसंग से—मोक्षविषयक कथन के अनन्तर हारीत आचार्य ने कहा—

तदेवं तदपवर्गमिच्छन् आत्मस्थानग्नीन् हुत्वा मनोवाक्कर्मदण्डान् संन्यस्य

इस व्रत का यह नाम है। इसके अतिरिक्त जो पृथिवी पर शयन करता है, नारायण प्रभु का निरन्तर ध्यान करता हुआ मोक्ष की प्रार्थना करता है।

ये चार प्रकार के सपत्नीक वानप्रस्थ हैं। सपत्नीक वानप्रस्थ अनेक प्रकार के हैं, इस विषय में वैखानस गृह्यसूत्रकार कहता है—

अपत्नीका बहुविधाः—१. कालाशिकाः, २. उद्दण्डसंवृत्ताः, ३. अश्मकुट्टाः, ४. उदग्रफलिनः, ५. दन्तोलूखलिकाः, ६. उञ्छवृत्तिकाः, ७. संदर्शनवृत्तिकाः, ८. कपोतवृत्तिकाः, ९. मृगचारिकाः, १०. हस्तादायिनः, ११. शलफलकादिनः, १२ अर्कदग्धाशिनः, १३. बैल्वाशिनः, १४. कुसुमाशिनः, १५. पाण्डुपत्राशिनः, १६. कालान्तर भोजिनः, १७. एककालिकाः, १८. चतुष्कालिकाः, १९. कण्टकशायिनः, २०. वीरासनशायिनः, २१. पञ्चाग्निमध्यशायिनः, २२. धूमाशिनः, २३. पाषाणशायिनः, २४. अभ्यवगाहिनः, २५. उदकुम्भवासिनः, २६. मौनिनश्चावाक्शिरसः, २७. सूर्यप्रतिमुखाः, २८. ऊर्ध्वबाहुकाः, २९. एकपादस्थिताश्च, इति विविधाचारा भवन्तीति विज्ञायते ॥८॥

अपत्नीक बहुत प्रकार के हैं—१. नियतकाल पर ही भोजन करनेवाले, २. ऊपर डण्डा उठाकर व्यवहार करनेवाले, ३. पत्थर में कुटा अन्न ही खानेवाले, ४. फसल उठ जाने (समाप्त हो जाने) पर बचे-खुचे फलों से गुजारा करनेवाले, ५. दाँतों को ही ओखली मानकर अन्न को सीधा दाँतों से चबाकर ही निर्वाह करनेवाले, ६. खेत कट जाने पर झड़े दानों या टूटी बालों को बीनकर उसीसे जीवन-निर्वाह करनेवाले, ७. खाने योग्य जो पदार्थ एक बार सामने दीख गया उसी पर गुजारा करनेवाले, ८. दाना चुगकर खानेवाले, ९. मृगों के समान जंगल में घूमनेवाले—जहाँ जो मिल गया खा लिया, १०. जितना एक बार हाथ में आ गया उससे ही गुजारा करनेवाले, ११. छुरी की नोक या चपाट भाग पर जितना आ गया उसी पर निर्वाह करनेवाले, १२. सूर्य की गरमी में पका खानेवाले, १३. बिल्व (बेल फल) खाकर रहनेवाले, १४. फूल खाकर गुजारा करनेवाले, १५. पीले पके पत्ते खानेवाले, १६. एक काल का अन्तर देकर खानेवाले, १७. एक बार पहले पहर में खानेवाले, १८. केवल एक बार चौथे पहर में खानेवाले, १९. काँटों पर सोनेवाले, २०. वीरासन में बैठे-बैठे ही सोनेवाले, २१. पाँच अग्नियों के बीच

भूतेभ्योऽभयं दत्वा अरण्यं गत्वा न प्रत्येयात्। अनग्निरनिकेतोऽश्वस्तनविधानो मुण्डः कषायवासाः त्रिदण्डकुण्डिकाजलपवनपवित्रसूक्ष्मजन्तु निवारणपाणिः मनोवाक्कर्मणां या परपीडाकरत्वेन दण्डरूपता तां परित्यज्य अतएवाभयदानं भूतेभ्यो निरासार्थमरण्यगमनम्। (पृष्ठ ४२)

इस प्रकार उस पूर्ववर्णित मोक्ष की इच्छा करता हुआ जिज्ञासु आत्मस्थित अग्नियों को होम कर, मन-वाणी-कर्म द्वारा किसी को कष्ट पहुँचाने की भावना का परित्याग कर, सब प्राणियों को अपनी ओर से अभय देकर जंगल में जा, फिर वापस आने का नाम न ले। केश-श्मश्रु (दाढ़ी-मूँछ) आदि क्षौर कराकर जंगल में रहता हुआ अग्नि-सम्बन्धी (यज्ञादि तथा पाक आदि) कार्य न करे,[१] एक जगह घर बनाकर न रहे, चालू दिन से आगे के लिए संग्रह न करे, गेरुए वस्त्र धारण करे, संन्यासविहितदण्ड, कमण्डलु, जल, पंखा, दूब का बना छल्ला, तथा मक्खी-मच्छर आदि के निवारण के लिए हल्का वस्त्र हाथ में रक्खे, मन, वाणी और कर्म से दूसरे को पीड़ा देनेवाली किसी भी क्रिया की स्थिति का सर्वथा परित्याग करे, इसलिए सब प्राणियों को अभयदान देकर उनसे दूर रहने की भावना से संन्यासी का जंगल में जाकर रहना उपयुक्त है।

सन्दर्भ के प्रारम्भ में 'आत्मस्थानग्नीन् हुत्वा' का तात्पर्य इस प्रकार समझना चाहिए—वानप्रस्थ आश्रम तक व्यक्ति यज्ञ आदि अग्नि-कार्यों का अनुष्ठान करता रहता है। संन्यास की दीक्षा लेने पर बाह्य-अनुष्ठानरूप कार्य छूट जाता है। विभिन्न अनुष्ठानों के अनुसार अग्नि के पाँच प्रकार बताए गए हैं—गार्हपत्य, अन्वाहार्यपचन (अथवा दक्षिणाग्नि), आहवनीय, सभ्य, आवसथ्य। यतिधर्म की दीक्षा लेने के अवसर पर इन अग्नियों को अपने प्राणों में आरोपित करने का विधान है।

सोनेवाले, २२. धूम का अशन (भोजन-पान) करनेवाले, २३. पत्थर पर सोनेवाले, २४. स्नान करते रहनेवाले, अथवा घूमते-फिरते रहनेवाले, अथवा किसी एक देश में छिपकर रहनेवाले, २५. एक घड़ा जल पर गुजारा करनेवाले (सब कार्य उसी में हो जाएँ), २६. मौन रहनेवाले, न वाणी से बोलना न सिर से संकेत करना, २७. सूर्य की ओर कभी मुँह न करनेवाले, २८. ऊपर को बाँह उठाकर रहनेवाले, २९. एक पैर पर खड़े होकर रहनेवाले। ऐसे विविध प्रकार के आचरण करनेवाले वानप्रस्थ होते हैं, यह जाना जाता है।

यह वैखानस गृह्यसूत्र का प्रसंग—वैदिक सूत्र-वाङ्मय के विशेषज्ञ श्री स्वामी मुनीश्वरानन्द सरस्वती, (संन्यास आश्रम, गाजियाबाद-निवासी) के अनुग्रह से साभार प्राप्त हुआ।

१. द्रष्टव्य—मनुस्मृति (६.५२, ६०) इस समस्त प्रसंग के सन्तुलन के लिए मनुस्मृति के छठे अध्याय का प्रारम्भिक भाग द्रष्टव्य है।

Scanned with CamScanner

ब्राह्मणग्रन्थ का एक वाक्य है—'प्राजापत्यां निरूष्टि तस्यां सर्ववेदसं हुत्वा आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेत्'—प्रजापति देवतावाली इष्टि का निरूपण=सम्पादन कर उसमें सर्ववेदस यज्ञ का अनुष्ठान कर आत्मा (प्राणों) में अग्नियों का समारोपण कर ब्राह्मण प्रव्रजन करे, संन्यास आश्रम में दीक्षित हो जाय। इसी आशय का श्लोक मनुस्मृति (६.३८) में है—

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम्।
आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात्॥

प्रजापति देवतावाली इष्टि का अनुष्ठान कर सर्ववेदस यज्ञविधि के अनुरूप अपनी समस्त सम्पत्ति का लोकहितार्थ दान कर, अग्नियों को अपने-आपमें (देहवर्त्ती प्राणों में) आरोपित कर ब्रह्मप्राप्ति का इच्छुक व्यक्ति घर-बार छोड़कर यतिधर्म का पालन करे।

जो यज्ञ वानप्रस्थ आश्रम तक बाह्य अग्नि में किये जाते रहे हैं, संन्यासी अवस्था में उनका रूप बदल जाता है; बाह्य अग्नि का परित्याग कर आन्तर प्राण-रूप अग्नि में होम का आयोजन किया जाता है। यह होम है—प्राणायाम का नियमित अभ्यास। यति के लिए जितेन्द्रिय होना आवश्यक है। प्राणायाम इन्द्रिय-दोषों को दूर कर व्यक्ति को जितेन्द्रिय रहने की क्षमता प्रदान करता है।[1]

गीता[2] में भी, यतिधर्म के विषय में इसी प्रकार के संकेत उपलब्ध होते हैं, जो वैदिक वाङ्मय में प्रतिपादित यतिधर्मों के अनुरूप हैं। बौधायन धर्मसूत्र (२.१०) में बताया है, किस अग्नि का कौन-से प्राण में आरोपण किया जाय। वहाँ का लेख है—'तस्य प्राणो गार्हपत्योऽपानोऽन्वाहार्यपचनो व्यान आहवनीयः उदान-समानौ सभ्यावसथ्यौ',—संन्यासी का प्राण गार्हपत्य अग्नि, अपान अन्वाहार्यपचन-अग्नि (दक्षिणाग्नि), व्यान आहवनीय अग्नि, उदान सभ्य अग्नि, तथा समान आवसथ्य अग्नि है। 'आत्मस्थानग्नीन् हुत्वा' तथा 'प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं···प्रव्रजेत्'[3]

---

१. मनुस्मृति (६.७१) में बताया है—

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥

जैसे सोना-चाँदी आदि धातुओं के मल अग्नि में तपाए जाने से दग्ध=नष्ट हो जाते हैं, इसी प्रकार इन्द्रियों के समस्त मल-कल्मष राग-द्वेष आदि प्राणों के निग्रह अर्थात् प्राणायाम से नष्ट हो जाते हैं।

२. द्रष्टव्य—गीता ४.२५-२९; ३८॥ गीता के पाँचवें अध्याय में विस्तार के साथ यतिधर्मों का प्रतिपादन हुआ है।

३. इस वाक्य के साथ न्याय वात्स्यायन भाष्य (४।१।६१) में 'श्रूयते' क्रिया देकर इसे वैदिक वाङ्मय का सन्दर्भ बताया है।

Scanned with CamScanner

इत्यादि ब्राह्मण-वाक्य का समान ही अर्थ है।

४. **ससूर्यचक्षुषोद्धृतपरिपूजाभिरद्भिः कार्यं कुर्यात्। दिवा क्रोशादियोजनान्तं गच्छेत्। शून्यदुर्गवर्जं क्रोशादियोजनान्तं गच्छेत्।** (पृष्ठ ५२)

इस सन्दर्भ में हारीत ने यति के प्रातःकालिक साधारण धर्म अथवा दिनचर्या का निर्देश किया है।

प्रातःकाल सूर्य के प्रकाश में अपनी आँखों से देखकर कि यह कुएँ आदि से खींचा या भरा हुआ जल शुद्ध-पवित्र-स्वच्छ है, उससे स्नान आदि कार्य करे। दिन में कम-से-कम एक कोस, अधिक-से-अधिक एक योजन (चार कोस) पर्यन्त जाए। सुनसान खण्डहर पड़े दुर्गम स्थानों में न जाए। इस यातायात के दो प्रयोजन सम्भव हैं—लोगों को सदुपदेश और अपने लिए भिक्षा। ये दोनों कार्य जनशून्य स्थान में सम्भव नहीं होते। ऐसे स्थानों में यति के लिए भयावह स्थिति की सम्भावना हो सकती है, अतः ऐसे स्थानों में जाना वर्जित किया है।

५. **अहिंसा नाम सर्वभूतेष्वनभिद्रोहः। चक्षुर्मनोवाक्शरीरकर्मणां न्यासः। कर्मेन्द्रियबुद्धेन्द्रियाणां संयमः। अहंकारकामक्रोधलोभोपनिवर्त्तनम्। आशीः प्रतिष्ठा संगापरिग्रहो ममत्ववर्जनं कलहवादकुतूहलोपनिवृत्ति-विनयः। नित्यं प्रत्याहितत्वम्, प्राणतत्परता, ब्रह्मतद्‌गतमानसत्वम्।**

हारीत आचार्य के संकलित लम्बे सन्दर्भ के इतने अंश में हारीत ने संन्यासी के लिए अहिंसाव्रती विनयसम्पन्न रहते हुए ब्रह्मध्यान में संलग्नता की ओर निर्देश किया है।

समस्त प्राणियों के प्रति विरोध की भावना का न रहना अहिंसा है। इसके अन्तिम स्तर तक पहुँचने के लिए जिस दिनचर्या व अपेक्षित नियमों की आवश्यकता है, सन्दर्भ के अगले तीन वाक्यों में उन्हीं का निर्देश है। पहला वाक्य है—

'चक्षुर्मनोवाक्शरीरकर्मणां न्यासः'—चक्षु, मन, वाणी एवं शरीर की ऐसी प्रवृत्तियों को छोड़ना, उनका परित्याग कर देना, उन्हें तिलांजलि दे देना आवश्यक है, जिनसे अन्य किसी को कष्ट पहुँचने की सम्भावना हो। वाक्य का अर्थ करने में 'कर्म' पद चक्षु आदि प्रत्येक के साथ जुड़ जाता है। चक्षु आदि की ऐसी प्रवृत्तियों से संन्यासी को सदा बचे रहना चाहिए, जिनकी सम्भावना हिंसा की सीमा में आ जाने की हो।

दूसरा वाक्य है—**'कर्मेन्द्रियबुद्धीन्द्रियाणां संयमः'**। कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों को नियन्त्रण में रखना। इन्द्रियों को विषयों में विचरने के लिए खुली छूट देना हिंसा को आमन्त्रित करना है। हिंसा के उभरने में इनका दुरुपयोग मुख्य निमित्त रहता है। अतः संन्यासी को हिंसा से बचने के लिए आवश्यक है, वह इन्द्रियों पर पूर्ण नियन्त्रण बनाए रक्खे।

तीसरा वाक्य है—**'अहंकारकामक्रोधलोभोपनिवर्त्तनम्'**—अहंकार, काम,

क्रोध, लोभ, इन दोषों व मलों को संन्यासी अपने अन्त:करण से निकाल दे; पूर्णरूप से इन्हें समाप्त कर दे। प्रत्येक व्यक्ति जानता है, ये सब दोष हिंसा की जड़ हैं। इनके रहते कोई व्यक्ति हिंसा से बच नहीं सकता। इसलिए नैष्ठिक अहिंसाव्रती यति को इनसे बचकर रहना अत्यावश्यक है। सन्दर्भ के इतने अंश से अहिंसा की आधारभूमि को स्पष्ट किया है, जो संन्यासी की दिनचर्या का एक आवश्यक अंग है।

सन्दर्भ का अगला वाक्य विनय की आधारभूमि को स्पष्ट करता है। वाक्य है—'**आशीः प्रतिष्ठा संगापरिग्रहो ममत्ववर्जनं कलहवादकुतूहलोपनिवृत्ति-विनयः।**'—अपने से आयु व ज्ञान आदि में छोटों के प्रति आशीर्वाद कहना, वयोवृद्ध व ज्ञानवृद्ध व्यक्तियों के प्रति प्रतिष्ठा-आदर-सत्कार की प्रवृत्ति रखना, संग-आसक्ति अथवा गोष्ठियों से अलग रहना, वस्तु या व्यक्ति-विशेषों में ममता का परित्याग, कलह, वाद-विवाद और कुतूहल-उत्सुकता की निवृत्ति होना विनय के द्योतक हैं।

अपने से छोटों-बड़ों के प्रति उचित व्यवहार का न होना, आसक्ति व गोष्ठियों में भाग लेना, ममता, कलह व कुतूहल आदि के प्रसंगों के प्राय: ऐसे अवसर आ जाते हैं, जिनमें व्यक्ति अनायास अविनीत हो उठता है। संन्यासी को इनसे सदा बचकर रहना चाहिए। यह स्थिति विनय का आधार है।

सन्दर्भ के इस अंश का अन्तिम वाक्य ब्रह्मध्यान में संलग्नता के लिए संन्यासी को आकृष्ट करता है। वाक्य है--'**नित्यं प्रत्याहितत्वम्, प्राणतत्परता, ब्रह्मतद्गत-मानसत्वम्।**' संन्यासी को भिक्षा तथा अन्य आवश्यक कार्यों के लिए अपने नियत स्थान को छोड़कर इधर-उधर जाना-आना पड़ता है। कार्यों से निबटकर जब अपने स्थान पर आए, तो दिनचर्या के ध्यान-ज्ञान-सम्बन्धी कार्यों को पुन: उसी रूप में स्थापित करे, पर इन प्रसंगों में अपने प्राण अर्थात् जीवन के स्वस्थ-सुरक्षित रखने में तत्पर रहे, ऐसा न हो कि शक्ति से अधिक परिश्रम करने के कारण देह व मानस स्थिति अस्वस्थ-रुग्ण हो जाय और सभी दिनचर्या ठप्प हो जाय। इस प्रकार नीरोग रहते हुए संन्यासी अन्य आवश्यक कार्यों से बचे समय में ब्रह्म के चिन्तन-ज्ञान-ध्यान में संलग्न रहे। अन्त:करण में अन्य भावनाओं को न उभरने देने के लिए सतत प्रयासशील रहे; अनुकूल अभ्यास में लगा रहे।

हारीत के इस लम्बे सन्दर्भ का अन्तिम भाग संन्यासी के साधारण कार्यों में यह स्पष्ट करता है—क्या करना, क्या नहीं करना चाहिए। वह निम्न प्रकार है—

६. **पूर्वापररात्रानुसन्धानम्। प्राणायामसेवनम्। दिवा पर्यटनम्, न रात्रौ न वर्षासु, प्रकीर्णस्थानेन द्रुतावतरणम्। न विक्षोभणं नोत्क्षेपणम्। सद्भ्यो भैक्ष्य-ग्रहणम्, सुविमृष्टभोजनम्। सम मानावमानता, सम सुखदुःखोपभोगता,**

समलोष्टाश्मकाञ्चनता। जन्तूनां शरीरारूढानां पक्ष्मचामरव्यजनवस्त्रान्तेन[1] नीयमाने नाऽपसर्पकरणम्। तस्मादचपलगमनासनपरिग्रहेण समदर्शिना भिक्षुणा व्यवहर्त्तव्यमाह। (पृष्ठ ५३)

पूर्वरात्रि—सोने से पहले, अपररात्रि—प्रातःकाल सोकर उठने के बाद बीते दिन और आगे आनेवाले दिन के कार्यों पर आलोचनात्मक विचार करे। बीते दिन के कार्यों पर विचारे कि कोई अनियमित-अवांछनीय कार्य तो नहीं हो गया? यदि हो गया हो तो उसपर पश्चात्ताप करे और आगे के लिए सावधान रहने का व्रत ले। प्रातः आनेवाले दिन के कार्यक्रमों का निर्धारण करे, उसके अनुसार चलने का प्रयास रक्खे। प्राणायाम का अनुष्ठान बराबर करता रहे। बाहर के कार्य के लिए दिन में जाए, रात में या वर्षा होते समय न जाए। ऊबड़-खाबड़, ऊँचे-नीचे, झाड़-झंखाड़भरे स्थानों में जल्दी न चले, सावधानतापूर्वक धीरे-धीरे पग बढ़ाए। विक्षुब्ध कभी न होवे, अर्थात् घबराहट के साथ बेचैनी को अपने अन्दर कभी न आने दे; प्रत्येक कार्य साहस, सुविचार व सावधानतापूर्वक करे; उत्क्षेपण—अपने नियमित नैसर्गिक स्तर उखड़ जाने की भावना कभी मस्तिष्क में न आने दे। तात्पर्य है कि अपने स्वाभाविक मूड को कभी बिगड़ने न दे।

सज्जनों—श्रेष्ठ धार्मिक घरों—से भिक्षा ग्रहण करे। अच्छी तरह देखभाल कर शुद्ध सात्त्विक भोजन स्वीकार करे, उपयोग करे। मान-अपमान, सुख-दुःख-उपभोग, माटी-सोने आदि की प्रतियोगिता के अवसरों पर अपनी भावनाओं को समान स्थिति में रक्खे, उनमें किसी प्रकार की उथल-पुथल न होने दे। शरीर पर रेंगते हुए कीड़ी-मकोड़े आदि क्षुद्र जन्तुओं के—मोरपंख, चँवर, पंखा व कपड़े के छोर से—दूर कर दिए जाने पर उनका पीछा न करे, जिधर जाते हैं उधर जाने दे, व्यर्थ में उनकी जासूसी न करे। द्वन्द्वों में सर्वत्र समदर्शी भिक्षु को चाहिए कि वह उक्त कारणों से निर्धारित गमन और निवास के स्वीकारानुरूप व्यवहार रक्खे, उनमें (गमन व निवास में) अनावश्यक व्यतिक्रम न आने दे; ऐसा मार्गदर्शी आचार्य का कहना है।

७. मृद्दारुविदलालाबुपर्णपाणिपात्रो वा भिक्षार्थं ग्रामं प्रविशेत्। नोच्छिष्टं दद्यान्नोत्सृजेत् (न विकुत्सयेत्) नातिमात्रमश्नीयात्। (पृष्ठ ६०)

संन्यासी को भिक्षा के लिए कैसा पात्र लेना चाहिए? आचार्य ने बताया—मृत्पात्र, 'पात्र' पद का प्रत्येक 'मृन् दारु' आदि पदों के साथ सम्बन्ध समझना चाहिए। दारुपात्र—लकड़ी का बना पात्र, विदलपात्र—बाँस की खपच्चियों अथवा अन्य लचीली बेंत आदि की डालियों से बनी टोकरी, अलाबुपात्र—पकी हुई लम्बी

---

१. मूल में 'यक्ष्मचामरव्यंजन' पाठ है। 'पक्ष्म' पाठ हमने बना दिया है। 'पक्ष्म' पलक या पंखुड़ी को कहते हैं। यहाँ मोरपंख उपयुक्त अर्थ है।

तुमड़ी का बना पात्र, पर्णपात्र—पत्तों का बना दोना आदि, पाणिपात्र—हाथों का ही पात्र बनाकर भैक्ष्य ले; उक्त पात्रों में से यथोपलब्ध कोई पात्र भैक्ष्य के लिए रक्खे, अथवा अतिरिक्त पात्र न रखकर दोनों हाथों को बेलानुमा जोड़कर उन्हीं पर भैक्ष्य ले ले।[1] भिक्षा के प्रयोजन से ग्राम में प्रवेश करे। जूठा अन्न किसी को न दे, न जूठा छोड़े, न अन्न की निन्दा करे। आवश्यकता से अधिक भोजन कभी न करे।

८. संकल्पात् कामः संभवति। आशयाच्च वर्द्धते स्नेहान्निबध्नाति। स ह इच्छालक्षणोऽनेकविधःकामः। येनाऽभिभूतः अतृप्त इव कामानां लोको ह्यनेन

---

१. ऐसे एक महात्मा के दर्शन अपने जीवन में किए जो कोई सामान्य पात्र या वस्त्र अपने साथ नहीं रखते थे। जब भिक्षा के लिए नगर में आते, तो कौपीन के ऊपर हाथ-सवा हाथ चौड़ा कपड़ा कमर से लपेटे रहते; कभी वह भी न होता, केवल कौपीन पहने रहते। ज्वालापुर-कनखल सड़क में से—नहर और बड़े रजवाहे के बीच—एक सड़क जगजीतपुर गाँव की ओर जाती है। उसी सड़क के बाएँ हाथ थोड़ी दूर पर एक जोहड़ के किनारे ऊँची-सी जगह में एक पुरानी मढ़ी बनी थी, उसी में रहते थे। केवल भिक्षा के लिए दिन में एक बार दोपहर-समय कनखल में आते थे। किसी भी ऋतु में उन्हें किसी ने अन्य कपड़ा या सामान के साथ नहीं देखा। कनखल में केवल पाँच-सात घर थे, जहाँ से वे भिक्षा लेते थे। उनमें एक घर प्रसिद्ध वैद्यराज पीयूषपाणि पं० रामचन्द्र शर्मा का था। मेरा इस परिवार के साथ बहुत पुराना सम्बन्ध है, जो अभी तक उसी तरह है। उनके ज्येष्ठ पुत्र पं० विष्णुदत्त शर्मा अभी जीवित हैं। यह साधारण मानव-देह में देवात्मा हैं। समस्त पंचपुरी में लोक-कल्याणरत सर्वजनप्रिय व्यक्ति हैं। पं० रामचन्द्र जी के जीवनकाल में अनेक बार उनके घर कनखल जाना रहता था। मेरा निवास उन दिनों ज्वाला-पुरीय गुरुकुल महाविद्यालय में था। उन महात्मा को लोग 'बाबा मथुरादास' के नाम से जानते-पुकारते थे। जब कभी मैं दोपहर में कनखल जाता, तो प्रायः बाबा भिक्षा के लिए आते, ड्योढ़ी के अन्दरले द्वार के पहले ही रुक जाते, धीरे-से 'भिक्षा' शब्द बोलते। विष्णु जी की माता उस शब्द को पहचानती थीं। एक रोटी पर—दाल-सब्जी जो बना होता—रखकर लातीं, बाबा अपने दोनों हाथ बेलानुमा बनाकर सामने करते, निगाह नैसर्गिक नीचे रहती, माता जी सिर झुकाती हुई उनके हाथ पर रख देतीं। बाबा वहीं खड़े-खड़े उसे खा लेते, और चले जाते। उनका यह दृश्य अनेक बार अपनी आँखों देखा। किसी भी घर से वह एक रोटी से अधिक नहीं लेते; जहाँ क्षुधा शान्त हो जाती, वहीं से मढ़ी वापस चले जाते।

जन्मसंसारकामावर्त्ते निमज्जति। स एषोऽनलः कामः। 'कामो हि भगवान् वैश्वानरः' इति श्रुतिः। तस्याऽसंकल्पो नियमनम्। (पृष्ठ ८१)

संकल्प से—विषयों का ध्यान करने से काम उत्पन्न हो जाता है; कामना-जनित संस्कारों से वह बढ़ता है, इससे विषयों में स्नेह व आसक्ति हो जाने पर काम व्यक्ति को जकड़ लेता है। यह काम क्या है? व्यक्ति की उभरती हुई अनेक प्रकार की इच्छाएँ ही काम हैं। विभिन्न प्रकार के इन्द्रियों के विषय असीमित हैं, उन्हीं के अनुरूप इच्छाओं की भी कोई सीमा नहीं रहती। इच्छाओं के समूहरूप इस काम से दबा हुआ लोक कभी कामनाओं के भोगों से तृप्त न हुआ जैसा, जन्म-मरण के रूप में संसरण करता हुआ कामनाओं के भँवर में डूब जाता है। यह काम अपने रूप में एक प्रचण्ड अग्नि है। इसी कारण पुराने आचार्यों ने कहा—यह काम भगवान् वैश्वानर है। उसके नियमन—नियन्त्रण का एक ही उपाय है—उसका कभी संकल्प—ध्यान ही न किया जाय।

बहुत पुराने समय की सौभरि नामक मुनि की घटना का उल्लेख पुराणों में उपलब्ध होता है। एक बड़ी नदी के किनारे आश्रम बनाकर यह मुनि निवास करता था, तपस्या में संलग्न रहता था। यद्यपि यह योगी और सिद्धि-प्राप्त महात्मा था, पर राग एवं विषयों की वासना अन्तःकरण के एक कोने में बराबर झाँका करती थी। एक बार नदी के किनारे स्नान करते समय मुनि ने एक मत्स्य को अपने सहवासी व सन्तति-समूह के साथ सलिल में किलोल करते देखा। उसे देख मुनि की रागवासना उद्दीप्त हो गई। वैसे जीवन में सुख की कल्पना कर उसने एकान्त आश्रमवास को धत्ता बता दण्ड-कमण्डल एक ओर फेंक नगर की ओर प्रस्थान किया। राजा के द्वार पर जाकर अलख जगाया, और भिक्षा की जगह उसकी युवती कन्याओं को माँग लिया। अतुल शक्तिसम्पन्न सौभरि ने वर्षों तक विषयों का निर्बाध उपभोग किया, पर उनके वेग में शान्ति का कोसों तक पता न था; कामनाओं का विस्तार और दूर तक फैल गया था। अन्त में मुनि के मुख से ये शब्द निकल पड़े—

आमृत्युतो नैव मनोरथानमन्तोऽस्ति विज्ञातमिदं मयाद्य।
मनोरथासक्तिपरस्य चित्तं न जायते वै परमार्थसङ्गि॥

(विष्णु पु०, ४।२।११६)

समस्त जीवन बीत जाय, मृत्यु सामने आ खड़ी हो, तब भी मनोरथों-कामनाओं का अन्त नहीं होता। विषय-भोगों में लम्बा जीवन बिताकर इस रहस्य को आज मैंने समझा है। कामनाओं में आसक्तचित्त पुरुष कभी परमार्थ की ओर नहीं झुकता, नहीं झुकता।

इसी प्रकार ययाति की जीवन-घटना का उल्लेख प्राचीन साहित्य में उपलब्ध होता है। विष्णु पु० (४.१०) में इसका विस्तृत वर्णन है। अनेकानेक वर्ष विषयों

का उपभोग कर अन्त में ययाति ने कहा—

यत्पृथिव्यां ब्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
एकस्यापि न पर्याप्तं तस्मात्तृष्णां परित्यजेत्॥
पूर्णं वर्षानुवर्षं मे विषयासक्तचेतसः।
तथाप्यनुदिनं तृष्णा मम तेषूपजायते॥

(विष्णु पु०, ४।१०।२४, २८)

पृथिवी में जो कुछ धन-धान्य, ऐश्वर्य एवं अन्य भोगसामग्री है, वह सब एक पुरुष के लिए भी पर्याप्त नहीं है, इसलिए कामनाओं का परित्याग ही श्रेष्ठ है। विषयों का उपभोग करते मुझे वर्षों बीत गए, पर कामना-आसक्ति प्रतिदिन उनमें बढ़ती ही जाती है। इसलिए संन्यासी के लिए अत्यावश्यक है कि वह विषयों की ओर से चित्त हटाकर अध्यात्म की ओर पग बढ़ाने का सतत प्रयास करता रहे। इन्हीं भावनाओं को लक्ष्य कर मनुस्मृति में बताया है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥

(मनु० २.९४॥ विष्णु पु० ४।१०।२३)

जिस प्रकार घृत आदि हवि के प्रक्षेप से अग्नि अधिक प्रदीप्त होता है, इसी प्रकार काम—कामनाएँ-इच्छाएँ उपभोग से शान्त न होकर वृद्धि को प्राप्त होती रहती हैं। विषयों का उपभोग विषयों को बढ़ाने के लिए अग्नि में हविःप्रदान के समान है।

गीता-उपदेश के अवसर पर अर्जुन भगवान् कृष्ण से प्रश्न करता है—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥ (३.३६)

हे वृष्णिकुलोत्पन्न कृष्ण ! यह मनुष्य न चाहता हुआ भी बलपूर्वक नियुक्त किया हुआ-सा किसकी प्रेरणा से पाप कर बैठता है ? कृष्ण का उत्तर है—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

रजोगुण से उत्पन्न यह काम है, जो पाप कराता है; कामना की पूर्ति में—अथवा इसके मार्ग में—बाधा आ जाने पर यही क्रोध का रूप धारण कर लेता है। यह महाशन—बहुभोजी है, सब-कुछ खा जाता है, विवेक, विचार-भावनाओं को भस्म कर देता है; यह महापापी है, मनुष्य से सब तरह के पाप कराता रहता है, इस संसार में इसी को अपना शत्रु जानो।

रजोगुण क्या है ? संसार में भोग-संग्रह की प्रवृत्ति ही रजोगुण है। भोग की कामना होने पर भोग्य-पदार्थों का संग्रह करना अनिवार्य हो जाता है। भोग-संग्रह के मार्ग में किसी प्रकार की रुकावट आ जाना क्रोध के रूप में प्रकट हो जाती है।

Scanned with CamScanner

वह काम ही बाधा की चाश लेकर क्रोधरूप में उभरा है। इस काम की माँग का कोई अन्त नहीं होता। एक कामना की पूर्ति चार-छह-दस अन्य कामनाओं की उपजाऊ भूमि बन जाती है। काम के चरणों में आत्मसमर्पण करनेवाला व्यक्ति कब कौन-सा अनर्थ कर बैठे, इसका कोई ठिकाना नहीं। विचारशील मनुष्य को अपने मन की इस कामना को ही शत्रु समझना चाहिए। इसको शत्रु न समझना मनुष्य के 'अज्ञान' का स्वरूप है; यह अज्ञान ही मनुष्य से पाप कराता रहता है। शत्रु को शत्रु समझने के अनन्तर कोई भी समझदार व्यक्ति शत्रु के वश में आना नहीं चाहेगा।

अपने अज्ञान के कोट में लिपटे शत्रुरूप काम को मित्र समझकर पुरुष अपनाता है। उसे भोगों को देनेवाला मित्र मानकर ही उसके वश में आता है। कृष्ण ने इसी बात पर बल दिया, उसे मित्र न मानकर अपना शत्रु समझो; उससे सदा बचने का प्रयत्न करो। यही अर्जुन के प्रश्न का स्पष्ट उत्तर है। इस विषय में गीता के अगले चार श्लोक (३८–४१) गम्भीरतापूर्वक विचारणीय हैं, जिनमें सन्दर्भ के समान काम को 'दुष्पूर अनल' बताया है, ऐसी प्रचण्ड आग, जो कभी बुझनेवाली नहीं। अन्त में कृष्ण ने चालू प्रसंग का उपसंहार करते हुए कहा—

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो! कामरूपं दुरासदम्॥ (३.४३)

हे महाबाहो! शक्तिशाली अर्जुन! इस प्रकार बुद्धि से उत्कृष्ट बलवान् आत्मसत्त्व को जानकर, आत्मा के द्वारा मन को तृप्तिपूर्वक—सन्तोषपूर्वक बाँधकर, कामरूप दुरासद शत्रु को मार डाल।

जो 'काम' भौतिक शक्तियों या उपायों से अजेय है, वह काम आत्मतत्त्वारूढ़ ज्ञानी के ज्ञान-खड्ग से अनायास पराजित हो जाता है। 'दुरासद' का शब्दार्थ है—बड़े दुःख या कष्ट से वश में आनेवाला। तात्पर्य है—जो भौतिक शक्ति या उपायों से पराजित हो सकनेवाला नहीं। संसार में अनादि काल से मानव के लिए दो ही मार्ग हैं—या तो इन्द्रियों के अधीन होकर रहे, या उन्हें अपने अधीन रक्खे। पहला मार्ग अज्ञानियों का और दूसरा ज्ञानियों का है। जिसका मन इन्द्रियों—विषयों की उपेक्षा कर आत्मारूढ़ अवस्था में है, वह ज्ञानी है। इन्द्रियों के शासन को अस्वीकार करने की क्षमता का ही नाम 'ज्ञानी होना' है।

इन्द्रियों के शासन को अस्वीकार करने की क्षमता कैसे आती है? यह समझने के लिए आवश्यक है, हम यह समझें कि इन्द्रियों का शासन आत्मतत्त्व पर कैसे होता है? जिन कारणों से यह होता है, उनको यदि ध्वस्त कर दिया जाय, तो कारण के न रहने से कार्य स्वयं अपने अस्तित्व को खो बैठेगा। गीता (२.६२-६३) में ही बताया—विषयों का ध्यान करते रहने से ही पुरुष विषयों में आसक्त होता है; तब इन्द्रियाँ आत्मतत्त्व पर शासन करती हैं और उसे भोग-बन्धन में फँसाए रखती हैं,

जिससे पुरुष आपे को खो बैठता है। इसलिए इन्द्रियों के शासन को अस्वीकार करने की क्षमता प्राप्त करने का यही उपाय है कि विषयों का ध्यान करना छोड़ दिया जाय। इसके लिए मन को थोड़ा साधना पड़ता है। इससे समयानुसार विषयों के ध्यान का स्रोत धीरे-धीरे सूखता चला जाता है; फलस्वरूप आत्मतत्त्व में इन्द्रियों के शासन को अस्वीकार करने की क्षमता का उदय हो जाता है।

सन्दर्भकार ने सन्दर्भ के अन्तिम पदों—'तस्यासंकल्पो नियमनम्' से उसी अर्थ-तत्त्व का संकेत किया है। विषयों के प्रति आकर्षण के संकल्प को न उभरने देना, उनका ध्यान करने की स्थिति से अपने-आपको बचाए रखना ही काम को नियन्त्रित करने का उपाय है।

८. क्रोधाग्निनाऽभिभूतः स्वेषामप्यबहुमतो नाधिगमनीयोऽविश्वसनीयश्च भवति। कार्याकार्यवाच्यावाच्यानि न वितर्कयति। हितवादिनो गुरूनप्यतिक्रामत्यत्याविष्टः। प्रेतलोकायाऽऽत्मानं नयति। तत्र घोरां निरयप्रायां यातनामनुभूय क्रूरक्रव्यादासु तिर्यग्योनिषु जायते। तत्र सर्वासां प्रजानां वध्यो भवति। क्रमात् मनुष्यतां प्राप्य सर्वजनविद्विष्टतामुपैति। क्रोधो हि नमोरूपस्तस्य क्षमा नियमनम्। (पृष्ठ ८२)

गत पंक्तियों में स्पष्ट किया है—काम-वासनाओं की तृप्ति में बाधा आने पर वह काम ही क्रोध का रूप धारण कर लेता है। उसका क्या परिणाम होता है? यह प्रस्तुत सन्दर्भ में बताया—

क्रोधरूप अग्नि से झुलसा हुआ व्यक्ति अपने निजी आत्मीय जनों का भी तिरस्कारभाजन हो जाता है। उसे पास बैठाना या उससे बातचीत करना भी कोई नहीं चाहता; सबका अविश्वसनीय हो जाता है। क्या करना या न करना चाहिए तथा कहाँ क्या बोलना या न बोलना चाहिए, इसे भी नहीं पहचान पाता। क्रोध के आवेश में व्यक्ति अपने हित की बात कहनेवाले गुरुजनों—माता-पिता, आचार्य एवं अन्य वृद्धजनों के सदुपदेशों को भी ठुकरा देता है। अपने इन कार्यों से वह अपने-आपको प्रेतलोक (नरक) की ओर ले जाता है। वहाँ घोर नारकीय यातनाओं को भोगकर क्रूर कच्चा मांस खानेवाले पशु-पक्षियों की योनियों में जन्म लेता है। वहाँ सभी प्रजाजनों का वध्य-तिरस्करणीय-विरोध का पात्र बन जाता है। क्रम से कभी मनुष्य-योनि को प्राप्त होकर सभी जनों के द्वेष का भाजन बना रहता है; उस दशा में कोई उसे अपनाना नहीं चाहता। क्योंकि क्रोध गहरी तामस अवस्था है, इसको नियन्त्रित करने का एकमात्र उपाय है—क्षमा। जब वासना की तृप्ति में कभी बाधा आए, तब क्रोध न कर उसे धैर्यपूर्वक सहन करने का अभ्यासी बने। बाधा प्रतियोगिता से नहीं, उसकी उपेक्षा कर देने से हटती है। यह उपाय अन्दर और बाहर दोनों ओर से व्यक्ति को सुरक्षित रखता है।

९. मनसो धारणम्—अन्तःशरीरे हृदि ललाटे। परं ब्रह्मात्मज्योतिरादित्यमहो-

नभस्सु जलभाजनवत् मनसस्त्वेकधारणात् धारणा। (पृष्ठ १७४)

किसी एक देश में चित्त को बाँध देना—योगशास्त्र में धारणा नामक छठा योगांग बताया है। वे देश शरीर के अन्दर और बाहर दोनों जगह सम्भव हैं। शरीर के अन्दर धारणा के लिए दो स्थान उत्तम बताये गए हैं—हृदय और ललाट। शरीर के दो विभिन्न स्थानों का 'हृदय' पद से व्यवहार किया जाता है। एक—रक्त-प्रक्षेपक अंग; दूसरा—मस्तिष्क की दोनों खोपड़ियों के बीच कुछ नीचे की ओर त्रिकोण-सदृश ऐसा स्थान, जैसा दो अँगूठों को उलटा मिलाने से बनता है। इसमें हल्का पीताभ रंग का गाढ़ा तरल भरा रहता है; यह शरीर में आत्मा का निवास-स्थान है। जैसे रक्तवहा नाड़ियों का केन्द्र रक्त-प्रक्षेपक अंग है, ऐसे ही ज्ञानवहा नाड़ियों का केन्द्र यह मस्तिष्कगत त्रिकोणाकार-जैसा अंग है। ये दोनों हृदय पद से व्यवहृत होते हैं। इन केन्द्रों में चित्त को नियन्त्रित करना आत्मज्ञान के लिए अत्यन्त सहायक होता है।

ललाट से तात्पर्य माथे से है। दोनों भौंहों के बीच ज़रा ऊपर को अन्दर की ओर भाग्य-ग्रन्थि (Pitutery-body) का स्थान है। यह लगभग मटर के दाने के बराबर आगे-पीछे दो ग्रन्थियाँ हैं। ये ग्रन्थियाँ ऐसे रसों का निर्माण करती हैं जो प्रज्ञा या बुद्धि को उत्तेजित करने में अद्भुत क्षमता रखते हैं। चित्त को इस स्थान में नियन्त्रित करने से ये ग्रन्थियाँ उन रसों का निर्माण करने में चमत्कारपूर्ण परिणाम प्रदर्शित करती हैं। योगदर्शन विभूतिपाद के ३२-३३ सूत्रों द्वारा जिन अंगों में चित्त-संयम के विवरण प्रस्तुत किये गए हैं, वे इन्हीं अंगों से सम्बन्ध रखते हैं।

आगे सन्दर्भ में 'परं' पद 'शरीर के बाहर' अर्थ का द्योतक है। परं अर्थात् परे, शरीर के परे, तात्पर्य—शरीर के बाहर तत्त्वों में चित्त के नियन्त्रित करने का निर्देश है। उनमें सबसे पहला 'ब्रह्मात्म' तत्त्व है—सर्वत्र व्यापक ब्रह्मतत्त्व। यद्यपि ब्रह्म की उपासना प्रणव आदि जप द्वारा मस्तिष्कगत आत्मनिवास-केन्द्र में भी की जाती है, परन्तु ब्रह्मोपासना में यह भावना निरन्तर दृढ़ता के साथ उजागर रखनी पड़ती है कि प्रकाशमय चेतन ब्रह्मतत्त्व समस्त विश्व में व्याप्त है, सब ओर वही प्रकाश फैला हुआ है, उस चिन्मय प्रकाश के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। उस प्रकाश के मध्य मैं अवस्थित हूँ। उस प्रकाश और अपने अतिरिक्त अन्य कुछ दिखाई न देने की भावना में नैरन्तर्य और दृढ़ता आने पर अपार आनन्द की अनुभूति होती है। ब्रह्मोपासना का यह प्रकार शरीर से बाहर की स्थिति का प्रतीक है।

इसके आगे सन्दर्भ में ज्योति, आदित्य, मही, नभस्(अन्तरिक्ष) का उल्लेख है। इन तत्त्वों में चित्त को नियन्त्रित करना इन तत्त्वों के गम्भीर रहस्यों को जानने-समझने में अत्यन्त सहयोगी होता है। आधुनिक वैज्ञानिक जो आधिभौतिक तत्त्वों में चित्त-नियन्त्रण कर उनकी उपासना में तत्पर रहते हैं, उन तत्त्वों के अनेक गंभीर रहस्यों को खोज निकालते हैं, वे भी इसी प्रकार के योगी हैं। सन्दर्भ में 'ज्योति' पद

प्रकाशमय ताराओं-नक्षत्रों के लिए प्रयुक्त हुआ है। आदित्य, मही पद प्रसिद्ध हैं। 'नभस्' पद अन्तरिक्ष अर्थ को अभिव्यक्त करता है। इस पृथिवी और स्वतः प्रकाश-मय सूर्य के अन्तराल-प्रदेश का नाम अन्तरिक्ष है। इसके ऊपर ज्योतिर्मय लोकों के अन्तराल-प्रदेश को 'द्युलोक' कहा जाता है। इन पदों के अर्थभेद को समझे रहना चाहिए। अन्तरिक्षस्थित तत्त्वों में चित्त का नियन्त्रण उनके रहस्यों का उद्घाटन करने में सहयोगी होता है।

इति हारीत-सन्दर्भसंग्रहः

(३३) वार्षगण्य—७

हारीत आचार्य के संकलित सन्दर्भों की व्याख्या सम्पन्न होने पर इस क्रम में आगे जिस आचार्य के कतिपय सन्दर्भ संकलित किये जा सके हैं, वह 'वार्षगण्य' है। सन्दर्भों के साथ इस पद का तीन रूपों में प्रयोग हुआ है—वार्षगण्य, वृषगणवीर, वार्षगणाः। समस्त सन्दर्भ 'वार्षगण्य' शीर्षक के नीचे दे दिये गये हैं। इनका इति-वृत्त-सम्बन्धी विवेचन 'सांख्यदर्शन का इतिहास' ग्रन्थ में देखना चाहिए। यहाँ केवल सन्दर्भों की व्याख्या प्रस्तुत है।

१. '…**वार्षगणानां प्रधानात् महानुत्पद्यत इति**'। (पृष्ठ १०८, पंक्ति ४)

वार्षगण्य के अनुयायी आचार्यों की मान्यता है कि प्रधान से 'महान्' उत्पन्न होता है। मूल प्रधानतत्त्व का प्रथम कार्य 'महत्' तत्त्व है। सांख्य में इसी का अपर नाम 'बुद्धि' है।

२. **श्रोत्रादिवृत्तिरिति वार्षगणाः।** (पृष्ठ ३९, पं० १८-१९)

सांख्यकारिका की चौथी आर्या की व्याख्या में प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षणरूप यह पंक्ति उद्धृत है। इसके पूर्व वहाँ न्याय(१।१।४), वैशेषिक (३।१।१८) और मीमांसा (१।१।४) के प्रत्यक्ष लक्षणसूत्रों का उल्लेख है। वार्षगण्य के एवं तदनुयायी आचार्यों के मन में प्रत्यक्षप्रमाण का लक्षण है—'श्रोत्रादिवृत्तिः प्रत्यक्षम्।'

इसमें प्रयुक्त 'आदि' पद से शेष चार ज्ञानेन्द्रियों—त्वक्, चक्षु, रसन, घ्राण—का ग्रहण हो जाता है। 'वृत्ति' पद का अर्थ है—व्यापार, हरकत—अपने कार्य में संलग्नता। श्रोत्र शब्द सुनने का साधन है; त्वक् स्पर्श ग्रहण करने का; चक्षु रूप ग्रहण करने का; रसन रस ग्रहण करने का, घ्राण गन्ध ग्रहण करने का साधन है। शब्द आदि विषयों को ग्रहण करनेवाला चेतन आत्मा है। शब्द आदि बाह्यविषय करणों(बाह्यकरण पाँच श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ, अन्तःकरण—मन अहंकार, बुद्धि)द्वारा आत्मा तक पहुँचता है। जब तक करण बाह्यविषय की छाया से अंजित—अनुरक्त रहते हैं, तब तक उसका नाम 'वृत्ति' है। जैसे ही बाह्य विषय की छाया बुद्धि द्वारा चेतन पुरुष में अर्पित होती है, तत्काल उसका वृत्तिरूप समाप्त हो जाता है; तब वह 'ज्ञान' अथवा 'बोध' बन जाता है। बाह्य इन्द्रिय से लगाकर बुद्धि तक वह 'वृत्ति' है। यही प्रत्यक्ष प्रमाण है। पुरुष अर्थात् चेतन आत्मा के पास पहुँचते ही वह 'प्रमा' बन जाता है। इस प्रकार 'श्रोत्रादि वृत्तिः' प्रत्यक्ष प्रमाण है, चेतन आत्मा को होनेवाला बाह्यविषय का ज्ञान उस प्रत्यक्ष प्रमाण का फल है।

गौतम, कणाद, जैमिनि या कपिल ने प्रत्यक्ष प्रमाण का अपने शास्त्रों में जो लक्षण किया है, उनमें आपाततः बाहरी शब्दों का भेद अवश्य दिखाई देता है, पर अर्थात्मा सर्वत्र एक है। बाह्यविषय करणों द्वारा आत्मा तक पहुँचता है, इस अर्थ को विभिन्न शब्दों द्वारा कहा जा सकता है जो आचार्यों ने अपने-अपने शास्त्रों में कहा है। परन्तु उन विभिन्न शब्दों से कहा गया प्रतिपाद्य अर्थ—प्रत्यक्ष प्रमाण का स्वरूप, उसकी आत्मा जो एक जगह है, वही दूसरी जगह है, उसमें कोई भेद नहीं है।

वार्षगण्य के अनुमान का लक्षण प्रत्याख्यान-प्रक्रिया से निम्नांकित रूप में न्याय-वार्तिककार[1] ने कहा है--**एतेन सम्बन्धादेकस्मात् प्रत्यक्षाच्छेषसिद्धिरनुमानम्' इति लक्षणं प्रत्युक्तम्।** इस पूर्वोक्त विवेचन से 'सम्बन्धा०···०रनुमानम्' इस लक्षण का प्रत्याख्यान हो जाता है। इस सन्दर्भ की अवतरणिका करते हुए वाचस्पति मिश्र तात्पर्यटीका[2] में लिखता है--सम्प्रति सांख्यीयमनुमानलक्षणं दूषयति—एतेन इति। अब सांख्य में कहे गए अनुमानलक्षण में दोष बताता है—'एतेन' इत्यादि सन्दर्भ से। प्रथम १।१।४ सूत्र के वार्त्तिक में पृष्ठ ४३ पर 'तथा श्रोत्रादिवृत्तिरिति' पंक्ति की अवतरणिका करते हुए वाचस्पति ने तात्पर्यटीका (पृष्ठ १०३) में लिखा —'वार्षगण्यस्यापि लक्षणमयुक्तमित्याह'। यहाँ 'श्रोत्रादिवृत्तिः' प्रत्यक्षलक्षण को वार्षगण्य का बताया है। इसीके अनुसार सांख्यीय अनुमानलक्षण की अवतरणिका में नाम न होने पर भी यह अनुमानलक्षण भी वार्षगण्य का समझना उचित है।

अर्थ है—'एकस्मात् प्रत्यक्षात् सम्बन्धात् शेषसिद्धिः'—एक प्रत्यक्ष सम्बन्ध से शेष अप्रत्यक्ष की सिद्धि होना अनुमान है। एक धूम का अग्नि के साथ सम्बन्ध अन्यत्र महानस (रसोई) आदि में प्रत्यक्ष हो चुका है। जिज्ञासु इसको समझता है कि आग के बिना धुआँ नहीं होता। तब दूर से कहीं धुएँ का गुबार उठते देखकर वह जान लेता है—यहाँ आग अवश्य है, यद्यपि वह दिखाई नहीं दे रही। इसको ऐसे भी कह सकते हैं—सम्बद्ध दो में एक के प्रत्यक्ष से शेष, दूसरे अप्रत्यक्ष का ज्ञान हो जाना अनुमान है।

३. तथा च वार्षगणाः पठन्ति—

तदेतत् त्रैलोक्यं व्यक्तेरपैति, न सत्त्वात्। अपेतमप्यस्ति, विनाशप्रतिषेधात्। संसर्गाच्चास्य सौक्ष्म्यम्, सौक्ष्म्याच्चानुपलब्धिः। तस्माद् व्यक्त्यपगमो विनाशः। स तु द्विविधः—आसर्गप्रलयात् तत्त्वानाम्, किञ्चित्कालान्तराव-स्थानादितरेषाम्, इति। (पृष्ठ ६७, पंक्ति १४-१७)

---

१. न्यायवार्त्तिक, सूत्र १।१।५; पृष्ठ ५७, पंक्ति १-२। चौखम्बा संस्कृत सीरीज, काशी का सन् १९१६ ईसवी संस्करण।

२. पृष्ठ १३०, पंक्ति १९। काशी लाजरस संस्करण, संवत् १९५४ विक्रमी, ईसवी सन् १८९८।

Scanned with CamScanner

इस प्रकार वार्षगण्य आचार्य के अनुयायी पढ़ते हैं—

वह यह तीनों लोकों (भूः, भुवः, स्वः=पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक) का समूह प्रलयकाल आने पर अपने वर्तमान कार्यरूप को छोड़कर कारणरूप में लीन हो जाता है। वह अपनी मूल सत्ता को कभी नहीं छोड़ता। 'न सत्त्वात्' के स्थान पर 'नित्यत्व-प्रतिषेधात्' पाठ भी मिलता है। कार्य की व्यक्त अवस्था कभी नित्य नहीं होती। जो वस्तु अभिव्यक्ति में आई है वह किसी दिन तिरोहित अवस्था में अवश्य चली जाएगी, क्योंकि वह नित्य नहीं है। तिरोहित अवस्था में भी कारणरूप से उसका अस्तित्व बना रहता है, क्योंकि किसी वस्तु का सर्वथा विनाश कभी नहीं होता। जब वस्तु अभिव्यक्ति-दशा में है, तब वह दिखाई देती व कार्यकारी स्थिति में रहती है; पर कारण में लीन हो जाने से (=संसर्गात्) वह सूक्ष्म अवस्था में चली जाती है क्योंकि कारण का स्वरूप सूक्ष्म है। सूक्ष्म होने से उसकी उपलब्धि नहीं होती, अर्थात् बाह्य इन्द्रियों द्वारा अब उसका ग्रहण नहीं किया जा सकता। इसलिए किसी वस्तु के विनाश का तात्पर्य यही है कि उसका व्यक्त स्वरूप तिरोहित हो गया है। वह अब स्थूल विकाररूप में न रहकर सूक्ष्म अव्यक्तकारण-रूप में अवस्थित है।

वस्तु का वह विनाश-तिरोधान दो प्रकार का देखा जाता है—महत्, अहंकार, मन, इन्द्रियाँ, तन्मात्र, भूत आदि का तिरोधान है, जो आदिसर्ग में अभिव्यक्त होकर संसार के समस्त चालू काल में अवस्थित रहते हैं; प्रलयकाल आने पर ही अपने कारणों में लीन—तिरोहित होते हैं। इन तत्त्वों से अतिरिक्त अन्य कार्य-समूह थोड़े समय तक अवस्थित होकर अपने कारणों में तिरोहित हो जाते हैं। इन कार्यों में ओषधि, वनस्पति, समस्त प्राणिशरीर आदि का समावेश समझना चाहिए।

४. तथा च वार्षगणाः पठन्ति—

बुद्धिवृत्त्याविष्टो हि प्रत्ययत्वेनानुवर्त्तमानामनुयाति पुरुष इति।

(पृष्ठ ९५, पंक्ति २४-२५)

यह सन्दर्भ सांख्यकारिका की सत्रहवीं आर्या पर युक्तिदीपिका टीका में उद्धृत है। यह आर्या पुरुष के अस्तित्व को सिद्ध करती है; उसी प्रसंग में वार्षगण्य आचार्य का मत बताया—

क्योंकि बुद्धिवृत्ति से आविष्ट=प्रतिबिम्बित पुरुष, प्रत्ययरूप से—ज्ञानरूप से अथवा अध्यवसायरूप से अनुवर्त्तमान=क्रम से प्राप्त=बुद्धिवृत्ति का अनुगमन करता है।

संस्कृत-सन्दर्भ के हिन्दी रूपान्तर में हिन्दी वाक्यरचना का अपना स्वाभाविक क्रम अस्पष्ट रह जाता है, उससे अर्थबोध में साधारण पाठक के लिए कुछ कठिनता होती है। गतवाक्य ऐसा ही है। उसमें अर्थतत्त्व केवल इतना है, जो संख्या दो सन्दर्भ की व्याख्या में स्पष्ट कर दिया गया है। प्रस्तुत सन्दर्भ का तात्पर्य है—

पुरुष तक बाह्य विषय ठीक उसी रूप में पहुँचता है, जिस रूप में वह करणों में प्रतिबिम्बित होता है। उसमें किसी प्रकार के उलट-फेर की सम्भावना नहीं रहती।

प्रत्येक बाह्यकरण में यह नैसर्गिक क्षमता है, वह अपने निर्धारित विषय को अनुकूल परिस्थिति में अपने अन्दर प्रतिबिम्बित कर लेता है। अन्तःकरण में इससे अधिक यह क्षमता है कि वह प्रत्येक बाह्यकरण के विषय को अपने अन्दर प्रतिबिम्बित कर लेता है। यह क्रम इतना द्रुत व व्यवस्थित है कि उसके काल-विभाजन को पकड़ पाना जैसे कठिन है, इसी प्रकार उसमें किसी अव्यवस्था का बीच में आ धमकना सम्भव नहीं। यह क्रम—जब तक आत्मा जाग्रत् अवस्था में है—बराबर चलता रहता है। निद्रावस्था में भी बाह्यकरणों का व्यापार न होने पर भी पूर्वानुभूत व्यापार के आधार पर अन्तःकरण अठखेलियाँ करते रहते हैं। गाढ़ निद्रा अवस्था में भी—जिसे सुषुप्ति अवस्था कहा जाता है—जीवनाधार शरीरक्रिया निरन्तर चालू रहती हैं। यद्यपि उनका बाह्यजगत् से करणग्राह्य कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रहता। इसका यही तात्पर्य हुआ—करणों द्वारा बाह्यविषय आत्मा तक उतना ही पहुँचता है, जितना करण में प्रतिबिम्बित होता है; न उससे न्यून न अधिक। यह तत्त्व-रचना की एक नैसर्गिक अथवा ईश्वरीय व्यवस्था है।

५. तथा च वार्षगणाः पठन्ति—

प्रधानप्रवृत्तिरप्रत्यया पुरुषेणापरिगृह्यमाणा आदिसर्गे वर्त्तते इति।

(पृष्ठ १०२; पंक्ति २४-२५)

इसी प्रकार वार्षगण्य और उसके अनुयायी पढ़ते हैं—आदिसर्गकाल में प्रधान (मूल उपादानतत्त्व प्रकृति) की प्रवृत्ति—किसी चेतन की अपेक्षा किए बिना—स्वयं हो जाती है। सन्दर्भ में 'प्रत्यय' पद का अर्थ ज्ञान अथवा चेतना है। 'अप्रत्यय' का अर्थ हुआ—ज्ञान अथवा चेतना के सहयोग के बिना। उससे अगले 'पुरुषेण अपरिगृह्यमाणा' पद उसी अर्थ का विवरण प्रस्तुत करते हैं। 'परिग्रह' पद का अर्थ है—पकड़ना, थामना, स्वीकार करना आदि। तात्पर्य हुआ, प्रलय के अनन्तर जब पुनः सर्गरचना का प्रारम्भ होता है, तब जगत् का मूल उपादान प्रकृति-तत्त्व (प्रधान) पुरुष (चेतनतत्त्व) के द्वारा व थामा हुआ या न पकड़ा हुआ ही स्वतन्त्र रूप से सर्गरचना में प्रवृत हो जाता है। उसे किसी चेतन तत्त्व का—प्रेरणा, ईक्षण या संकल्प आदि के रूप में—सहयोग प्राप्त करने की अपेक्षा नहीं रहती।

सांख्य-परम्परा में वार्षगण्य का यह विचार कपिल की मान्यता के साथ सहयोग नहीं करता। परन्तु पर्याप्त समय से सांख्य की अध्ययनाध्यापन-प्रक्रिया में वार्षगण्य के विचार कपिल की मान्यता के रूप में प्रवेश पा चुके हैं। आज सांख्य का प्रायः प्रत्येक अध्येता कपिल को निरीश्वरवादी समझता है, और इसी नाम पर जगत् के मूल उपादान प्रकृति को सर्ग-रचना में स्वतन्त्र-चेतननिरपेक्ष मानता है। जबकि इसके विपरीत वर्तमान सांख्य-दर्शन (सांख्यषडध्यायी) के अतिरिक्त

Scanned with CamScanner

पंचशिख (कपिल के प्रशिष्य) की रचनाओं तथा महाभारत आदि ग्रन्थों के कापिल सिद्धान्त-विवरण-प्रसंगों में प्रकृति को पुरुषाधिष्ठित मानकर चेतन तत्त्व ईश्वर को प्रेरक माना गया है।

प्रतीत होता है, बौद्ध विद्वानों ने अपने विचार की पुष्टि के लिए सांख्य के प्रवर्त्तक के रूप में प्रतिष्ठा व प्रसिद्धिप्राप्त कपिल के नाम पर वार्षगण्य के विचार को आरोपित कर उसका दृढ़तापूर्वक प्रचार-प्रसार किया, जो पर्याप्त काल से अन्ध परम्परा के समान चल रहा है। फिर भी कपिल के वास्तविक विचार उच्छिन्न न हो सके। अब लगभग एक शताब्दी से उनका अध्ययनाध्यापन क्रमिक बल पकड़ता जा रहा है।[1]

सांख्यदर्शन के 'ईश्वरासिद्धेः' (१.५७)[2] सूत्र में जगत् के उपादानरूप में ईश्वर को असिद्ध बताया गया है। सांख्यदर्शन के इसी प्रसंग में आगे ईश्वर को समस्त विश्व का अधिष्ठाता बताया गया है। पुनः तृतीय अध्याय में उसे सर्वव्यापक व सर्वकर्त्ता स्पष्ट लिखा है। सांख्यकारिका की ६१वीं आर्या पर व्याख्याकारों ने प्रकृति की प्रतियोगिता में ईश्वर को जो 'अकारण' कहा है, वह उपादानता की दृष्टि से ही है। जैसे प्रकृति जगत् का उपादानकारण सम्भव है, वैसे ईश्वर, काल, स्वभाव या अन्य कोई कारण सम्भव नहीं। यहाँ ईश्वर की केवल उपादानता का निषेध है।

६. करणं............एकादशविधमिति वार्षगणाः।

(पृष्ठ १३२; पंक्ति २८)

सांख्यकारिका की ३२वीं आर्या की अवतरणिका करते हुए युक्तिदीपिका-व्याख्या में उद्धृत है। वार्षगण्य एवं उसके अनुयायी आचार्य मानते हैं कि करण ग्यारह प्रकार के हैं। कपिल और उसके अनुयायी करणों की संख्या तेरह मानते हैं, जैसा आर्या २२ में प्रतिपादित है—दस बाह्यकरण (पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय), तीन अन्तःकरण—मन, अहंकार, बुद्धि। वार्षगण्य का कहना है—अन्तःकरण वस्तुतः एक है—बुद्धि। संकल्प, अभिमान, अध्यवसाय—तीनों प्रकार के व्यापार की क्षमता बुद्धि में नैसर्गिक है। गौतम, कणाद आदि अन्य शास्त्रकार जैसे बाह्य इन्द्रियों के निर्धारित विभिन्न विषयों के ग्रहणसाधन के रूप में केवल एक अन्तः-करण 'मन' मानते हैं, उसमें बाह्येन्द्रियग्राह्य विभिन्न विषयों के ग्रहण की साधनता स्वीकारते हैं, इसी प्रकार वार्षगण्य सांख्य की भावना से अभिभूत उस अन्तःकरण का नाम 'बुद्धि' रखता है। इन आचार्यों के मन में अन्तःकरण एक है, केवल नाम

१. इसका विशेष विवरण हमारी रचना 'सांख्यदर्शन का इतिहास' में द्रष्टव्य है।

२. यह सूत्रसंख्या विरजानन्द वैदिक संस्थान से प्रकाशित संस्करण के अनुसार है। इसमें ३५ जोड़कर किसी भी अन्य संस्करण में सूत्र देखा जा सकता है।

का भेद है, एक ने उसका नाम 'मन' दूसरे ने 'बुद्धि' रक्खा। कार्य उभयत्र समान है।

७. **यदि यथा वार्षगणा आहुः—**

लिङ्गमात्रो महानसंवेद्यः कार्यकारणरूपेणाविशिष्टो विशिष्टलक्षणेन तथा स्यात् तत्त्वान्तरम्। (पृष्ठ १३३; पंक्ति ५-६)

यदि जैसा वार्षगण आचार्यों ने कहा—

असंवेद्य=अतीन्द्रिय महत्तत्त्व लिंगमात्र है, केवल छिपे अर्थ का बोधक—अनुमापक है; कार्य और कारणरूप से वह समान है, सत्त्व-रजस्-तमस् जैसे कारणरूप हैं, वैसे ही कार्यरूप महत्तत्त्व सत्त्वरजस्तमोरूप है। तात्पर्य है—उभयत्र सत्त्व-रजस्-तमस् तत्त्व समान होने से दोनों (कार्य और कारण) समान हैं। फिर भी 'महत्' उस प्रकार का तत्त्वान्तर अपने विशिष्ट लक्षण द्वारा—कार्यकलाप द्वारा कहा जाता है। सत्त्वरजस्तमस् जो कार्यकलाप महत्तत्त्व रूप में करते हैं, वह कार्य अन्य (महत्-तत्त्व से भिन्न) रूप में नहीं करते। इसी आधार पर उसे तत्त्वान्तर (भिन्न तत्त्व) माना जाता है। वास्तविक स्थिति में तो कार्य और कारण दोनों में तात्त्विक रूप से कोई भेद नहीं है। इसी मान्यता का सहारा लेते हुए वार्षगण आचार्यों ने छठे सन्दर्भ में अन्तःकरण तीन न मानकर एक माना। वे सब कार्यकलाप एक के द्वारा सम्भव हैं, जिनके लिए तीन की कल्पना की जाती है।

कपिलानुयायी आचार्यों का कहना है, यदि वार्षगणों की मान्यता को स्वीकार किया जाता है, तो तत्त्वभेद की व्यवस्था भंग हो जायगी। तत्त्वविशेष की उपपत्ति पुरुष के प्रयोजन को सिद्ध करने में उपयोगी मानी जाती है। यदि तत्त्वों की कोई अवस्था पुरुष-प्रयोजन में उपयोगी नहीं है, तो उसे भी केवल क्रियाकलाप के आधार पर तत्त्वान्तर मानना प्राप्त होगा। प्रधान और महत्तत्त्व के अन्तराल में सक्रिय तत्त्वों की लम्बी परम्परा है। मूलतत्त्व न मालूम रचना-प्रसंग की कितनी घाटियों को पार कर महत्तत्त्व के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। तत्त्वों की उन सब अगणित घाटियों को तत्त्वान्तर (भिन्न तत्त्व) मानना प्रसक्त होगा; क्योंकि उनका अपना विशेष क्रियाकलाप उनमें भी है; यदि वह न हो तो महत्तत्त्व की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं। परन्तु वह सब क्रियाकलाप अपने रूप में पुरुष के प्रयोजन (भोग-अपवर्ग) को सिद्ध करने में उपयोगी नहीं है। अतः उन्हें तत्त्वान्तर नहीं माना जाता। वार्षगणों की मान्यता के अनुसार तत्त्वभेद सर्वथा अव्यवस्थित हो जाता है। तत्त्वभेद को किसी भी जगह सीमित व व्यवस्थित नहीं किया जा सकेगा।

जो स्थिति प्रधान और महत्तत्त्व के अन्तराल की है, वही स्थिति आगे महत्-अहंकार के अन्तराल में, अहंकार—मनस् के अन्तराल में, अहंकार—इन्द्रियों के अन्तराल में तथा अहंकार—तन्मात्रों के अन्तराल में आती है। आगे भी इसका क्रम चलता ही रहता है। तब वार्षगणों की मान्यता के अनुसार तत्त्वभेद में अनवस्था का भय भी सामने उपस्थित होता है। फलतः तत्त्वभेद को पुरुषार्थोपयोगिता के आधार

पर मानने से तेरह करण और उनमें तीन अन्तःकरण मानना ही निर्दोष है।

८. साधारणो हि महान् प्रकृतित्वादिति वार्षगणानां पक्षः।

(पृष्ठ १४५, पंक्ति ९)

इस सन्दर्भ का पूरा भाव गत सातवें सन्दर्भ में आ गया है। प्रकृति-रूप (सत्त्व-रजस्तमोरूप होने से महत्तत्त्व तात्त्विक रूप में प्रकृति के समान है। यह वार्षगण आचार्यों का पक्ष है।

९. वार्षगणानां तु—यथा स्त्रीपुंशरीराणामचेतनानामुद्दिश्येतरेतरं प्रवृत्तिस्तथा प्रधानस्येत्ययं दृष्टान्तः। (पृष्ठ १७०; पंक्ति २७-२८)

वार्षगण आचार्यों के मत में तो अचेतन प्रधान की प्रवृत्ति ऐसे ही होती है, जैसे स्त्री-पुरुषों के अचेतन शरीरों की एक-दूसरे को लक्ष्य कर प्रवृत्ति होती है। प्रधान की प्रवृत्ति में यह दृष्टान्त उक्त आचार्यों की ओर से दिया जाता है। संख्या पाँच के सन्दर्भ में भी ऐसा विचार अभिव्यक्त किया गया है। वहाँ कहा गया—प्रधान की प्रवृत्ति चेतन-निरपेक्ष होती है। यद्यपि प्रधान तत्त्व अचेतन है, फिर भी उसे अपनी प्रवृत्ति में किसी तत्त्व की प्रेरणा आदि की अपेक्षा नहीं रहती। प्रस्तुत सन्दर्भ में कहा गया है कि जैसे स्त्री-पुरुषों के अचेतन शरीरों की एक-दूसरे को उद्देश्य कर प्रवृत्ति होती है, वैसे अचेतन प्रधान की प्रवृत्ति समझनी चाहिए।

इस दृष्टान्त पर ध्यान देने से स्पष्ट होता है—यह पाँचवें सन्दर्भ की भावना के साथ अनुकूल नहीं बैठता। हम देखते हैं, स्त्री-पुरुषों के अचेतन शरीरों की एक-दूसरे को उद्देश्य कर प्रवृत्ति उसी समय सम्भव है, जब वे शरीर चेतन आत्मतत्त्व से अधिष्ठित रहते हैं। ऐसी स्थिति न रहने पर उन शरीरों में किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति असम्भव है। सन्दर्भ के 'यथा-तथा' पदों के प्रयोग से यह तथ्य सामने आता है कि जैसे स्त्री-पुरुषों के अचेतन शरीरों की प्रवृत्ति चेतन आत्मतत्त्व से अधिष्ठित रहने पर ही होती है, ऐसे ही अचेतन प्रधान की प्रवृत्ति चेतन तत्त्व से अधिष्ठित होने पर हो सकती है। वह चेतन तत्त्व परब्रह्म परमात्मा है। इन दोनों सन्दर्भों का सामंजस्य चिन्तनीय है।

सांख्यकारिका (२१) में इस प्रकार की स्थिति के लिए 'अन्ध-पंगु' दृष्टान्त दिया गया है। प्रधान अन्ध जड़ है, उसे दिखाई नहीं देता; पुरुष पंगु, उसमें परिणाम-रूप गति या विकार नहीं होता, पर चेतन है, देखता है, मार्ग बताता है। यह दृष्टान्त भी इस ओर संकेत करता है कि प्रकृति अपनी परिणामरूप प्रवृत्ति में चेतन की अपेक्षा रखती है। यह स्थिति उसमें स्वतन्त्र-चेतननिरपेक्ष प्रवृत्ति के कथन को चुनौती देती है। यदि यहाँ चेतन तत्त्व केवल जीवात्म-पुरुष को माना जाता है, तो यह आदिसर्ग के प्रसंग में असम्भव है। क्योंकि जीवात्म-पुरुष सूक्ष्म-स्थूल शरीरों के सहयोग में ही प्रवृत्ति का प्रेरक होता है, इसलिए सांख्य-सिद्धान्त के अनुसार वह केवल देहादि में अधिष्ठाता माना गया है, मूल प्रकृति के प्रति नहीं। जीवात्म-

पुरुषों के अनेक होने से प्रकृति-नियामकता या अधिष्ठातृता में अव्यवस्था का जटिल प्रश्न भी सामने आता है; अनेक पुरुषों में कौन नियामक बने ? फिर जीवात्म-पुरुष अत्यन्त अल्पशक्ति एवं अल्पज्ञ है, उसमें प्रकृति की नियामकता के लिए इतना अनन्त सामर्थ्य कहाँ है ? फलतः ये दृष्टान्त प्रकृति में स्वतन्त्र प्रवृत्ति के अनुमापक न होकर चेतन-सापेक्ष प्रवृत्ति की ओर संकेत करते हैं।

१०. **तथा च भगवान् वार्षगण्यः पठति —**

रूपातिशया वृत्त्यतिशयाश्च[1] विरुध्यन्ते। सामान्यानि त्वतिशयैः सह वर्त्तन्ते। (पृष्ठ ७२, पंक्ति ५-६)

युक्तिदीपिका में तेरहवीं आर्या पर 'प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः' भाग का विवरण प्रस्तुत करते हुए उक्त सन्दर्भ उद्धृत है। पातंजल योगसूत्र (२.१५ तथा ३.१३) के व्यासभाष्य में तत्त्वों के परिणाम-प्रसंग से इसका उल्लेख हुआ है।

और इस प्रकार भगवान् वार्षगण्य पढ़ता है—रूपातिशय और वृत्त्यतिशय आपस में एक-दूसरे का विरोध करते हैं, परन्तु सामान्य तो अतिशयों के साथ प्रवृत्त रहते हैं।

तत्त्वों के परिणाम आत्मा के भोग व अपवर्ग की सिद्धि के लिए बताए गए हैं। भोग के प्रसंग में चित्त (बुद्धि), इन्द्रिय साधनरूप से तथा भूत विषयरूप से आत्मा के सुख-दुःख आदि भोग को उभारा करते हैं। चित्त के आठ रूप हैं—धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य। इनका अतिशय है—उत्कट रूप से किसी का सद्यः फलोन्मुख होना। वृत्ति का अर्थ है—चित्त आदि करणों का व्यापार-वृत्तिरूप ज्ञान, सुख आदि। इनके परस्पर विरोध को इस प्रकार समझना चाहिए—

जब चित्त का रूप-धर्म उत्कट रूप में सद्यः फलोन्मुख होता है, तब उसीके समान उत्कृष्ट कोटि का अधर्म फलोन्मुखता के लिए उसके मुकाबले में सामने आता है। ऐसी परिस्थिति में शंका उठाई जाती है कि इन रूप और वृत्तियों का सांकर्य क्यों नहीं होता ? उत्कृष्ट धर्म तथा उत्कृष्ट अधर्म दोनों समान शक्ति वाले रूपों की वृत्तियाँ एक ही समय में उद्भूत क्यों नहीं हो पातीं ? क्योंकि गुणों का बर्ताव—व्यवहार चल=चंचल बताया गया है, तब ये विरोधी रूप समानशक्ति होते हुए भी समान काल में अपनी वृत्तियों को क्यों नहीं उभार पाते ? इसी परिस्थिति को लक्ष्य कर सन्दर्भकार ने धर्मातिशय और धर्मजन्य वृत्त्यतिशय का यथाक्रम अधर्मातिशय तथा अधर्मजन्य वृत्त्यतिशय के साथ विरोध होने का कथन किया है।

---

१. व्यासभाष्य के दोनों स्थलों में यहाँ 'परस्परेण' यह अधिक पाठ है जो अर्थ की स्पष्टता के लिए आवश्यक है। अन्त में क्रियापद भी 'वर्तन्ते' के स्थान पर 'प्रवर्त्तन्ते' है।

इनके सांकर्य की शंका का समाधान आचार्यों ने इस प्रकार किया है—जिस रूप के—फलोन्मुख होकर वृत्तिरूप में प्रतिफलित व—उद्भूत होने के साधन सद्यः प्रबल रूप में उपस्थित हो गए हैं, विरोधी की प्रतियोगिता में वह फलीभूत हो जाता है, दूसरा फलोन्मुखता के साधनों की प्रतीक्षा में निरस्त रह जाता है। धर्म-अधर्म आदि किसी रूप की फलोन्मुखता के साधनों का क्रम या उनकी उपस्थिति का लेखा-जोखा केवल ईश्वरीय व्यवस्था में निहित है। कौन-सा रूप किस समय फलीभूत होना है, इसे अन्य कोई नहीं जानता; इसी कारण इनमें सांकर्य का अवसर कभी नहीं आता।

जब धर्म फलीभूत हो रहा होता है, आत्मा किसी एक जगह राग व सुख की अनुभूति करती है; इसका यह तात्पर्य नहीं है कि अन्यत्र वह सर्वथा विरक्त है, अथवा द्वेष व दुःखानुभूति का वहाँ सर्वथा अभाव हो चुका है। इसी प्रकार जब अधर्म फलीभूत हो रहा होता है, आत्मा किसी एक जगह द्वेष, क्रोध व दुःख का अनुभव करता है; इसका यह तात्पर्य नहीं है कि अन्यत्र द्वेष आदि एवं सुखानुभूति का सर्वथा अभाव हो चुका है। एक के फलीभूत होने की अवस्था में दूसरा अनुद्भूत रहता है, यह नैसर्गिक क्रम सदा चला करता है। जो रूप उत्कृष्टता में समानशक्ति वाले नहीं हैं, उनके विरोध में सामने आकर खड़े होने का प्रश्न नहीं उठता। वे इस सन्दर्भ में 'सामान्य' पद से कहे गए हैं। वे इस प्रतीक्षा में आश्वस्त पड़े रहते हैं कि जब इन उत्कृष्ट रूपों का हंगामा समाप्त हो जायगा, तब कभी हमारे भी फलीभूत होने का क्रम आ सकता है। ऐसी दशा में वे अतिशय रूपों के साथ चुपचाप प्रवृत्त रहते हैं; साथ में लगे रहने से वे भी यथावसर फलीभूत हो जाते हैं। धर्मादि रूपों के परिणाम में सांकर्य न होने का यह एकमात्र अज्ञेय रहस्यमय साधन है।

वार्षगण्य का यह सन्दर्भ अन्य कतिपय सन्दर्भों के समान इस विश्व के पीछे इसको नियन्त्रण करनेवाले किसी अचिन्त्यशक्ति-सम्पन्न तत्त्व के सद्भाव की ओर संकेत करता है; जबकि पाँचवें सन्दर्भ से उसकी अन्यथा भावना ध्वनित होती है।

११. (एकरूपाणि तन्मात्राणीत्यनये), एकोन्तराणीति वार्षगण्यः।

(पृष्ठ १०८; पंक्ति ६)

अन्य आचार्यों का विचार है—तन्मात्र एकरूप हैं। शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र, गन्धतन्मात्र। प्रत्येक तन्मात्र केवल शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धरूप सर्वथा पृथक्-पृथक् हैं। इसके विपरीत वार्षगण्य आचार्य का कहना है कि रचनाक्रम के अनुसार पहला तन्मात्र अगले में मिलता चला जाता है। सर्ग-रचना-क्रम में सर्वप्रथम शब्दतन्मात्र अभिव्यक्त होता है; यह केवल एकरूप है। आगे स्पर्शतन्मात्र की अभिव्यक्ति शब्दतन्मात्र से मिश्रित व अनुरंजित रहती है। इसी प्रकार आगे रूपतन्मात्र की अभिव्यक्ति शब्दस्पर्श-मिश्रित रहती है। रसतन्मात्र में

पहले तीनों का तथा गन्धतन्मात्र में शेष चारों का सम्मिश्रण रहता है। इस मान्यता को अन्य अनेक आचार्यों ने प्रश्रय दिया है।

सांख्यकारिका की बाईसवीं तथा अड़तीसवीं आर्या की व्याख्या करते हुए माठर ने लिखा है—

तत्र शब्दतन्मात्रादाकाशम्, स्पर्शतन्मात्राद् वायुः, रूपतन्मात्रात्तेजः, रसतन्मात्रादापः, गन्धतन्मात्रात् पृथिवी इत्यादिक्रमेण पूर्वपूर्वानुप्रवेशेनैकद्वित्रिचतुष्पञ्चगुणानि आकाशादिपृथिवीपर्यन्तानि महाभूतानीति सृष्टिक्रमः।

पहले-पहलों का अगलों में प्रवेश होने से शब्दतन्मात्र से आकाश एक (शब्द) गुण, शब्दस्पर्शतन्मात्र से दो गुणवाला वायु, शब्दस्पर्शरूप तन्मात्रों से तेज तीन गुणोंवाला, शब्दस्पर्शरूप रसतन्मात्रों से चार गुणवाला जल, पाँचों तन्मात्रों से प्रादुर्भूत पाँच गुणवाली पृथिवी होती है, यह उत्पत्ति का क्रम है।

माठर ने इसी का उल्लेख अड़तीसवीं आर्या की व्याख्या में किया है। पातंजल योगसूत्र (२.१९) के व्यासभाष्य में भी ऐसा उल्लेख है। वहाँ का पाठ है—

षड् अविशेषाः, तद्यथा—शब्दतन्मात्रम्, स्पर्शतन्मात्रम्, रूपतन्मात्रम्, रसतन्मात्रम्, गन्धतन्मात्रञ्च, इत्येकद्वित्रिचतुष्पञ्चलक्षणाः शब्दादयः पञ्चाऽविशेषाः। षष्ठश्चाऽविशेषोऽस्मितामात्र इति।

व्यासभाष्य के सन्दर्भ का भाव वार्षगण्य-कथन के पूर्ण अनुरूप है। वार्षगण्य तन्मात्र-रचना में ही पूर्व के तत्त्व का उत्तर भावी तत्त्व में अनुप्रवेश कहता है; जबकि माठर तन्मात्रतत्त्वों से उत्पन्न होनेवाले आकाश आदि भूतसंज्ञक तत्त्वों में पूर्वतत्त्व का उत्तर भावी तत्त्वों में अनुप्रवेश बताता है। इसका तात्पर्य हुआ, वार्षगण्य और व्यास कारणतत्त्वों में पूर्व का प्रवेश उत्तर में बताते हैं; माठर कार्यतत्त्व—आकाश, वायु आदि में ऐसा होना कहता है।

वस्तुतः इन कथनों में कोई मूलभूत भेद या विरोध नहीं है। इसे स्पष्टरूप में समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि 'तन्मात्र' नाम के साथ 'शब्द-स्पर्श' आदि पद क्यों लगे हैं? यह इसलिए भी जानना आवश्यक है कि 'तन्मात्र'-संज्ञक तत्त्वों की सांख्य-योग में पारिभाषिक संज्ञा 'अविशेष' है। इसका तात्पर्य है—इस रचनाक्रम में 'तन्मात्र' तत्त्व के स्तर पर उनमें अभी तक कोई ऐसा विशेष गुण उभार में नहीं आया, जो वहाँ अपने अस्तित्व से उन्हें विशेषित कर सके; इसीलिए वे 'अविशेष' हैं। तब उनके साथ 'शब्द-स्पर्श' आदि विशेषार्थ-बोधक पदों का प्रयोग क्यों?

वस्तुतः 'तन्मात्र' पद के साथ 'शब्द' आदि पदों का प्रयोग तन्मात्र के स्वरूप का बोधक नहीं है; तन्मात्रतत्त्व सर्वात्मना अतीन्द्रिय हैं; उनमें कोई ऐसा गुण नहीं, जो इन्द्रियग्राह्य हो। इन तन्मात्रतत्त्वों से उत्पन्न होनेवाले आकाश आदि तत्त्वों में

जो विशेष गुण सर्वप्रथम उभरते हैं, उन्हीं के अनुसार कार्य के गुण से कारणतत्त्वों को परस्पर विशेषित करने के लिए 'तन्मात्र' के साथ 'शब्द' आदि पदों का प्रयोग किया जाता है। इसका तात्पर्य हुआ—जितने सीमित तन्मात्रतत्त्वों से आकाश-तत्त्व अपने व्यक्तित्व से उभरता है, उतने तन्मात्रतत्त्वों को 'शब्द तन्मात्र' नाम से व्यवहृत किया गया, क्योंकि इन तन्मात्रतत्त्वों से शब्द का आधार आकाश अभि-व्यक्ति-दशा में आया है। तन्मात्रतत्त्वों के वर्गीकरण के लिए अन्य कोई आधार नहीं है।

आगे रचनाक्रम में शब्दाधार आकाशतत्त्व की अभिव्यक्ति के अनन्तर जिन तन्मात्रतत्त्वों से वायु की अभिव्यक्ति होती है, उनमें ऐसे तन्मात्रतत्त्व अधिक हैं, जिनका सहयोग आकाश की अभिव्यक्ति में नितान्त भी नहीं होता; परन्तु जिन तन्मात्रतत्त्वों से आकाश अभिव्यक्ति में आया, उनमें से कतिपय तन्मात्रतत्त्वों का सहयोग वायुतत्त्व की अभिव्यक्ति में भी रहता है। इसी भाव को वार्षगण्य और व्यास ने तन्मात्र-स्तर पर पूर्व के उत्तर में प्रवेश के रूप में कथन किया है। इसी प्रकार आगे तेजस्तत्त्व की अभिव्यक्ति में कारण के तन्मात्रतत्त्व अधिक रहते हैं, जिनके परिणामस्वरूप तेजस्तत्त्व में सर्वप्रथम रूप अभिव्यक्त हो जाता है। इसी कारण उन तन्मात्रतत्त्वों के वर्गीकरण के लिए 'तन्मात्र' पद के साथ 'रूप' पद का प्रयोग किया जाता है। तेजस् की अभिव्यक्ति में उन तन्मात्रतत्त्वों का भी आंशिक सहयोग रहता है, जिनसे आकाश और वायु अभिव्यक्ति में आए।

इसी के अनुसार जिन तन्मात्रतत्त्वों के परिणामस्वरूप सर्वप्रथम 'आपस्' तत्त्व की अभिव्यक्ति के साथ 'रस' गुणविशेष की अभिव्यक्ति होती है, उन तन्मात्रतत्त्वों के वर्गीकरण के लिए 'तन्मात्र' पद के साथ 'रस' पद का प्रयोग किया जाता है। 'आपस्' तत्त्व की रचना में आंशिक सहयोग 'आकाश-वायु-तेजस्' के अभिव्यंजक तन्मात्रतत्त्वों का भी रहता है। ऐसे ही पृथिवीतत्त्व की अभिव्यक्ति में समझना चाहिए। इस विवरण के अनुसार यह समझ लेने पर कि 'तन्मात्र' के साथ 'शब्द-स्पर्श' आदि पदों का प्रयोग उनसे अभिव्यक्त होनेवाले कार्यों के आधार पर तन्मात्र के वर्गीकरण के लिए हुआ है, अतः स्पष्ट हो जाता है कि वार्षगण्य और माठर के कथन में कोई मूलभूत भेद नहीं है। माठर ने जो बात रचनाक्रम को प्रस्तुत करते हुए कही, उसी बात को वार्षगण्य और व्यास ने कारणतत्त्व के स्तर पर कह दिया। उन्होंने अपने इस कथन के साथ वहाँ रचनाक्रम का निर्देश नहीं किया, पर आगे रचना कैसे होती है, इसका संकेत कर दिया।

रचनाक्रम में पहले उत्पन्न होनेवाले भूततत्त्वों के गुण, अनन्तर उत्पन्न हुए भूततत्त्वों में अनुप्रवेश-पद्धति से उभरते हैं, ऐसा उल्लेख महाभारत[1] और वायु-

---

१. भीष्म पर्व, (५.४–९), गोरखपुर संस्करण।

पुराण[1] में भी उपलब्ध होता है। महाभारत का पाठ है—

भूमिरापस्तथा वायुरग्निराकाशमेव च।
गुणोत्तराणि सर्वाणि तेषां भूमिः प्रधानतः ॥४॥
शब्दः स्पर्शश्च रूपञ्च रसो गन्धश्च पञ्चमः।
भूमिरेते गुणाः प्रोक्ता ऋषिभिस्तत्त्ववेदिभिः ॥५॥
चत्वारोऽप्सु गुणा राजन् गन्धस्तत्र न विद्यते।
शब्दः स्पर्शश्च रूपञ्च तेजसोऽथ गुणास्त्रयः॥
शब्दः स्पर्शश्च वायोस्तु आकाशे शब्द एव तु ॥६॥
अन्योन्यं नाभिवर्त्तन्ते साम्यं भवति वै यदा ॥८॥
यदा तु विषमीभावमाविशन्ति परस्परम्।

पृथिवी, जल, अग्नि आयु, आकाश, इन सबमें पूर्व के गुण उत्तर में आते हैं; इनमें पृथिवी प्रधान है, उसमें अन्य चारों भूतों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस गुण तथा पाँचवाँ अपना गुण गन्ध, ये पाँच तत्त्वदर्शी ऋषियों ने भूमि के बताए हैं। गन्ध को छोड़कर शेष चार जलों में रहते हैं। अग्नि के तीन गुण शब्द, स्पर्श, रूप हैं। वायु के दो शब्द और स्पर्श, तथा आकाश में केवल एक शब्द गुण रहता है। मूल तत्त्वों की साम्य अवस्था में ऐसा सब-कुछ नहीं होता; वैषम्य को प्राप्त होकर—अर्थात् रचनाक्रम में —ही गुणानुप्रवेश परस्पर देखा जाता है। वायुपुराण का पाठ है—

परस्परानुप्रवेशाद्धारयन्ति परस्परम्।
गुणं पूर्वस्य पूर्वस्य प्राप्नुवन्त्युत्तरोत्तरम् ॥

उत्तरोत्तर उत्पन्न होनेवाले भूततत्त्व पूर्व-पूर्व उत्पन्न हुए भूततत्त्वों के गुणों को परस्पर रचनाक्रम में निर्दिष्ट अनुप्रवेश-पद्धति के अनुसार धारण करते हैं।

तन्मात्रतत्त्वों से भूततत्त्वों के रचनाक्रम का निर्देश वार्षगण्य आचार्य के विचारानुसार प्रस्तुत किया गया। इसमें कपिल आदि अन्य-अन्य प्राचीन सांख्याचार्यों का किसी प्रकार का कोई मतभेद नहीं है।

१२. करणानां महती स्वभावातिवृत्तिः प्रधानात् स्वल्पा च स्वत इति वार्षगण्यः। (पृष्ठ १०८; पंक्ति (१५-१६)

यह सन्दर्भ ३२वीं तथा ४३वीं आर्या की अवतरणिका के प्रसंग में युक्ति-दीपिकाकार ने दो स्थलों पर दिया है। धर्म आदि आठ भाव वृत्तिरूप से करणों में आश्रित रहते हैं। इसी प्रसंग में प्रस्तुत सन्दर्भ का उल्लेख हुआ है।

प्रधान से परिणामक्रम के अनुसार बुद्धि आदि इन्द्रियपर्यन्त करणों की रचना होती है। करणों की अपने-अपने कार्यों में स्वाभाविक प्रवृत्ति, अर्थात् अपने कार्यों के

---

१. वायु पुराण, ४.६९--७० ॥

सम्पादन में निरन्तर आगे बढ़ते जाना, अत्यधिक मात्रा में प्रधान से प्राप्त होता है। अपने कार्यों में सतत रत रहना आदि सामर्थ्य करणों का मुख्यतः प्रधानमूलक है। इस प्रवृत्ति में इनका अपना अंश अत्यल्प है। वह केवल इतना है कि जिस कार्य पर लगा दिये गए हैं, वैयक्तिक रूप से वहीं लगे हैं। आदिसर्ग से जगाकर—जब ये सर्वप्रथम अभिव्यक्ति में आए—प्रलयकाल प्रारम्भ होने तक बिना किसी बाधा व आनाकानी के अपने कार्यों में अनलस सतर्क रहना, यह केवल प्रकृति का चमत्कार है। कारणतत्त्वों से ही इनमें वह अतुल सामर्थ्य निहित है, जो समस्त सर्गकाल में कभी म्लान नहीं हो पाता।

१३. तथा च वृषगणवीरेणाप्युक्तं भवति[1]—⋯अनागतव्यवहितविषयज्ञानं तु लिङ्गागमाभ्याम्। आह च—

विषयेन्द्रियसंयोगात् प्रत्यक्षं ज्ञानमुच्यते।
तदेवातीन्द्रियं जातं पुनर्भावनया स्मृतिः॥
तदेव भावनापेक्षज्ञानं कालान्तरे पुनः।
तत्रैव सेन्द्रियं जातं प्रत्यभिज्ञानमुच्यते॥

(पृष्ठ १३०; पंक्ति १४--१९)

इस विषय में वृषगणवीर ने भी कहा है—भविष्य में होनेवाले विषय का तथा व्यवहित विषय का ज्ञान अनुमान और शब्द प्रमाण से होता है।

यह सन्दर्भ तीसवीं आर्या की युक्तिदीपिका-व्याख्या में उद्धृत है। आर्या में बताया है—श्रोत्र आदि बाह्य इन्द्रिय एवं मन, अहंकार, बुद्धि इन तीन अन्तःकरण, चारों का विषय ग्रहण के लिए व्यापार युगपत् न होकर क्रमशः होता है। इसी प्रसंग में उक्त सन्दर्भ उद्धृत किया गया है। खण्डित पाठ में 'अनागत' पद से पहले संभवतः 'अतीत' पद रहा होगा। इस अतीत, अनागत और व्यवहित विषयों का ज्ञान अनुमान तथा शब्द प्रमाण से होता है। इसी विषय में 'आहु च' (और कहा)

---

१. ग्रन्थ में यहाँ पाठ खण्डित है। युक्तिदीपिका के उद्धरणों को कलकत्ता संस्करण से लिया है। जब इन सन्दर्भों का संकलन हुआ, युक्तिदीपिका का यह एक ही संस्करण प्रकाश में आया था, वह भी प्राचीन पाण्डुलिपि की एक ही प्रति पर सम्पादित हुआ था। सन् १९६७ में एक अन्य संस्करण मोतीलाल-बनारसीदास, दिल्ली ने प्रकाशित कराया। इसका सम्पादन डॉ० रामचन्द्र पाण्डेय ने किया है। उनको एक और हस्तलेख अहमदाबाद से प्राप्त हुआ, जिसका उपयोग उनके सम्पादित संस्करण में पृष्ठ ६० तक हुआ है। इस स्थल का खण्डित पाठ उभयत्र समान है। सन्दर्भ में 'वृषगणवीर' पद वृषगण के अपत्य 'वार्षगण्य' के लिए प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है।

कहकर दो पद्य उद्धृत हैं। उनका अर्थ है—

विषय और इन्द्रिय के परस्पर सम्बन्ध से जो विषय का ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष ज्ञान कहा जाता है। जब विषय के साथ इन्द्रिय-सम्बन्ध नहीं रहता, तब वह विषय अतीन्द्रिय है, अर्थात् वह उस समय इन्द्रिय से गृहीत नहीं हो रहा। परन्तु उस विषय का जो प्रथम प्रत्यक्ष हो चुका है, उससे उत्पन्न संस्कार अन्तरात्मा में बस जाते हैं; किसी निमित्त से संस्कार के उभरने पर उस पूर्वानुभूत विषय का जो ज्ञान होता है, उसका नाम 'स्मृति' है।

देवदत्त को एक बार वाराणसी में देखा था। उस देखने के संस्कार आत्मा में निहित थे। कालान्तर में वह देवदत्त गाजियाबाद में आया। सामने आते ही पुराना संस्कार उभरा, और तत्काल ज्ञान का स्वरूप यह मुख से निकला—यह तो वही देवदत्त सामने दीख रहा है, जिसको गत वर्ष मैंने वाराणसी में देखा था। इस ज्ञान में स्मृति और प्रत्यक्ष दोनों मिश्रित हैं। ऐसे ज्ञान का नाम 'प्रत्यभिज्ञान' कहा जाता है।[1]

अत उक्तम्—मूर्त्तिव्यवधिजातिभेदाभावान्नास्ति मूलपृथक्त्वम् इति वार्षगण्यः ॥ १४ ॥

(यो० सू०, व्यासभाष्य, ३।५३)

यह सन्दर्भ पातञ्जल योगसूत्र (३।५३) के व्यासभाष्य में उद्धृत है। प्रसंग है, जैसे द्रव्य में अपकर्ष की सीमा परमाणु है, इसी प्रकार कालगत परम अपकर्ष की सीमा क्षण है। अथवा, परमाणु में कम्पन्न होने पर एक देश को छोड़ दूसरे देश में जाने का जो समय लगता है, वह क्षण है। उसके प्रवाह का न टूटना 'क्रम' है। इनका समाहार असंभव है, कभी दो क्षण इकट्ठे नहीं हो सकते; इनका वास्तविक संघात कभी नहीं होता। मुहूर्त, दिन, रात आदि सब काल्पनिक हैं, बुद्धि का चमत्कारमात्र। क्षण सदा वर्तमान है, न अतीत न अनागत; अतः क्रम अवास्तविक है, कल्पनामात्र। पर क्षण की सत्ता वास्तविक है, वह कल्पित क्रम का आश्रय है। जब भूततत्त्वों के साथ क्षण का सम्बन्ध जोड़ा जाता है, तब वे वस्तुपरिणाम से सम्बद्ध कहे जाते हैं। इसी के अनुसार समस्त लोकव्यवहार चलता है। सभी वस्तु-धर्म क्षण पर सवार रहते हैं। यह क्षण-काल सबको समान रूप से ढो रहा है। क्षण और उसके क्रम में संयम करने से योगी को प्रत्येक वस्तु के भेद का ज्ञान हो जाता है। वह कैसे होता है? यह आगे पढ़िये।

लोक में प्रायः साधारणजन जाति-भेद से वस्तु का भेद समझते हैं—यह गाय

---

१. यहाँ तक युक्तिदीपिका से संकलित सन्दर्भों की व्याख्या पूरी हो जाती है। इन सन्दर्भों के साथ जो पृष्ठ और पंक्ति-संख्या लगी हुई है, वह कलकत्ता-संस्करण के अनुसार है।

Scanned with CamScanner

है, यह घोड़ी है। यदि जाति समान हो, तो लक्षण—चिह्न-विशेष से भेद का ज्ञान हो जाता है—इस गाय की पूंछ काली है, और इसके माथे पर लाल टीका है। देश-भेद से भी वस्तु का ज्ञान होता है, दो आँवले हैं, बिल्कुल एक-जैसे हैं, जाति समान है, लक्षण समान है—पर एक पूर्व की ओर रक्खा है, दूसरा पच्छिम की ओर, यह देश-भेद उनके भेद का प्रयोजक है। उन्हें देखकर कोई भी व्यक्ति देश भिन्न होने से उनके भेद को जान सकता है, कह सकता है। परन्तु देखने और बतलानेवाले व्यक्ति का ध्यान अन्यत्र चला गया। इतने में बालक ने आकर पूर्व की ओर का आँवला उठाकर दूसरे आँवले के पच्छिम की ओर रख दिया। इससे पहले जो आँवला पूर्व में था, वह पच्छिम में हो गया; जो पच्छिम में था, वह पूर्व में हो गया। ऐसी स्थिति में वह पहले देखनेवाला व्यक्ति कितना भी बुद्धिमान्, चतुर व प्रमाणों का जानकार हो, उन आँवलों के उस भेद का ज्ञान नहीं कर सकता, जो उसने पहले देखा था।

वह योगी जिसने क्षण और उसके क्रम में संयम करके उनका साक्षात्कार किया है, उस क्षण से सम्बद्ध आँवले को पहचान लेता है, जिस क्षण से सम्बद्ध वह पहले देखा गया। इसी आधार पर क्षण-क्रम, संयमी योगी अतीत-अनागत को साक्षात् देख सकता है। क्षणरूप काल का क्रम-अनवरत प्रवाह अनादि-अनन्त है, इसपर बहता हुआ समस्त विश्व साक्षात्कर्ता योगी के ज्ञान में झाँकता रहता है। पहले कहा गया, क्षण सदा वर्तमान है, अतः काल सदा वर्तमान है। उस काल पर सवार समस्त विश्व उसके (क्षणरूप काल के) साक्षात्कर्ता योगी के सामने सदा वर्तमान है। अतीत-अनागत का लोक-व्यवहार उस संयमी योगी के लिए समाप्त हो जाता है। फलतः किसी भी क्षण से सम्बद्ध—भेददृष्टि से देखी गई—वस्तु को भेद के रूप में वह योगी जान लेता है।

इसी प्रसंग में प्रस्तुत सन्दर्भ का उल्लेख हुआ है। भेद के जितने प्रयोजक हैं--आकार, व्यवधान, जातिविशेष आदि, उन सबका अस्तित्व जगत् की व्यक्त अवस्था में रहता है। विश्व का मूल कारण जब साम्य अवस्था में रहता है, तब वह एक-मात्र अव्यक्त तत्त्व है; वहाँ भेद या पार्थक्य का कोई प्रश्न नहीं, भेद का वहाँ कोई अवकाश नहीं।

प्रसंगवश निवेदन है—'क्षण' की चर्चा तो करते आ रहे हैं, 'क्षण' क्या है? पहले कहा गया—क्षण काल्पनिक नहीं, तथ्य तत्त्व है। उसका 'क्रम' काल्पनिक है, क्योंकि सदा वर्तमान तत्त्व में क्रम की सम्भावना नहीं। वस्तुतः इसकी गहराई में उतरा जाय, तो क्षण—जो तथाकथित काल का प्रतीक है—नितान्त काल्पनिक है। पृथिवी, सूर्य, नक्षत्र आदि भूत-भौतिक तत्त्वों की अनवरत होनेवाली गति-रूप क्रिया को नापने के लिए इसकी कल्पना की गई है। परम अपकृष्ट परमाणु की एक सूक्ष्मातिसूक्ष्म क्रिया को, और इस क्रिया के अनवरत प्रवाह को—जो

Scanned with CamScanner

यथार्थ है—नापने के लिए एक प्रक्रिया=पद्धति कल्पना की गई। उस परम अपकृष्ट परमाणु की सर्वापेक्ष अपकृष्ट-क्रिया का प्रतीक क्षण है। इसी कल्पित क्षण के आधार पर चतुर मानव ने समस्त विश्व को नापने का दम भरा है, साहस किया है। क्षण या काल अपने रूप में कोई वस्तुतत्त्व नहीं है। कल्पना की इस चमत्कारपूर्ण बैसाखी के सहारे अल्पप्राण मानव दूरातिदूर अनेकानेक अज्ञात लोक-लोकान्तरों की सीमा तक बौद्धिक रूप से जा पहुँचा है। कल्पना से वस्तु-भूत तत्त्व को जानने का यह स्पष्ट उदाहरण है। इसकी उपलब्धियाँ मानव की क्षमता को देखते हुए नगण्य नहीं हैं। जो महामानव आज इस दिशा में आधुनिक वैज्ञानिक आधिभौतिक पद्धति से जानकारी के उस स्तर पर पहुँचे हैं, वे भी उस कोटि के योगी ही हैं।

अत एव 'पञ्चपर्वा अविद्या' इत्याह भगवान् वार्षगण्यः।। १५ ।।

(सांख्यतत्त्वकौमुदी, आर्या ४७)

सांख्यकारिका की सैंतालीसवीं आर्या में विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि, सिद्धि का निदेश है। पाँच विपर्यय गिनाते हुए वाचस्पति ने आर्या की व्याख्या 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' में अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश का उल्लेख कर वार्षगण्य नाम से 'पञ्चपर्वा अविद्या' सूत्र उद्धृत किया है। यह 'तत्त्वसमास' नामक लघु रचना में बारहवाँ सूत्र है। 'पर्व' पद के अनेक अर्थ हैं। यहाँ पर्व का अर्थ—अवयव, अंग, अंश अथवा खण्ड है। भाषा में यह 'पोरी' या 'पोरुआ' कहा जाता है, जैसे—गन्ने की पोरी, अँगुली का पोरुआ। प्रस्तुत सूत्र में अविद्या को 'पञ्चपर्वा' बताया। इसके पाँच पोरुए या पाँच अवयव हैं। अंग या अवयव इसी कारण है कि शेष चार का अविद्या ही मूल आधार है। अविद्या के कारण वे उभार में आते हैं, अविद्यास्वरूप हैं। शास्त्र में इन पाँचों के अन्य नाम यथाक्रम—'तम, मोह, महामोह, तामिस्र, अन्ध-तामिस्र' हैं। अविद्या आदि पाँचों पर्वों का विवरण पातंजल योगसूत्र के द्वितीय पाद (सूत्र ५ से ९ तक) में किया है। यहाँ विस्तार करना व्यर्थ है।

अत एव योगशास्त्रं व्युत्पादयिता आह स्म भगवान् वार्षगण्यः गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायैव सुतुच्छकम्।। इति।। १६ ।।

(भामती, २।१।३)

इसी कारण योगशास्त्र का विवरण प्रस्तुत करनेवाले भगवान् वार्षगण्य ने कहा था—'गुणानां' इत्यादि।

संस्कृत वाङ्मय में 'गुण' पद विभिन्न शास्त्रों में अपनी पारिभाषिकताओं के अनुसार विविध अर्थों के बोधन में प्रयुक्त हुआ है, पर सांख्य-योग में इस पद का प्रयोग 'सत्त्व-रजस्-तमस्' का बोधन कराने में होता है। जो समस्त जगत् के मूल उपादान कारण हैं, प्रकृति एवं प्रधान नाम से व्यवहृत होते हैं। इनकी संख्या तीन

होने से इनके समाहार या संघात को 'त्रिगुण' या 'त्रिगुणात्मक' कहा जाता है। इनका 'परम रूप' अर्थात् मूल रूप अव्यक्त होने से कभी दृष्टि में नहीं आता। जो यह दृष्टि में आता है, वह सब माया ही है, इसलिए नितान्त तुच्छ है, नश्वर है।

सन्दर्भगत 'मायैव' पद के विभिन्न स्थलों में तीन पाठ उपलब्ध होते हैं। सांख्यकारिका की जयमंगला व्याख्या में इकसठवीं आर्या की अवतरणिका करते हुए उक्त पद्य उद्धृत किया है। वहाँ 'मायैव सु' इसके स्थान पर 'मायावस्तु' पाठ है। योगसूत्र (४।१३) के व्यासभाष्य में 'मायेव' पाठ है। इसके अतिरिक्त समन्तभद्र विरचित 'अष्ट साहस्री' नामक जैन ग्रन्थ की अकलंकदेव कृत 'आप्तमीमांसालंकृति' नामक व्याख्या के १४४ पृष्ठ पर उक्त श्लोक उद्धृत है। वहाँ भी 'मायैव' पाठ है।

भामती में उद्धरण से पहले वाचस्पति द्वारा लिखे गए पद विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं। वे पद इस पाठ के विषय में उपयुक्त सुझाव देने के लिए पर्याप्त समर्थ हैं। पद हैं—

अत एव योगशास्त्रं व्युत्पादयिता ह स्म भगवान् वार्षगण्यः।

वाचस्पति वार्षगण्य को योगशास्त्र-व्युत्पादयिता कहता है। योगशास्त्र के एक अन्य ग्रन्थ में उक्त श्लोक उद्धृत भी मिलता है, जहाँ पाठ 'मायेव' है। योगशास्त्र का व्युत्पादयिता कोई आचार्य गुणों के परम रूप अव्यक्त प्रधान मूल तत्त्व को 'मायैव' नहीं कह सकता। वाचस्पति मिश्र शांकर वेदान्त-मान्यता के प्रतिपादन की झोंक में इस तथ्य की ओर से कन्नी काट गए; 'मायेव' की 'मायैव' बना बैठे। इस पाठ का विस्तृत विवेचन 'सांख्यदर्शन का इतिहास' द्वितीय संस्करण (पृ० ११२--११७) में देखा जा सकता है।

'एतेन सम्बन्धादेकस्मात् प्रत्यक्षाच्छेषसिद्धिरनुमानम्' इति लक्षणं प्रत्युक्तम् ॥ १७ ॥

(न्यायवार्त्तिक, १।१।५)

यह सन्दर्भ न्यायवार्त्तिक में सत्तावन[1] पृष्ठ पर उद्धृत है। तात्पर्यटीका में इसकी अवतरणिका है—'सम्प्रति सांख्यीयमनुमानलक्षणं दूषयति—एतेनेति'। अब सांख्य में प्रतिपादित अनुमान-लक्षण को दोषयुक्त बताता है—'एतेन' इत्यादि कथन द्वारा। इस प्रसंग के अध्ययन के समय पूछने पर गुरुवर श्री पं० काशीनाथ जी महाराज ने बताया था, यह सांख्याचार्य वार्षगण्य-कथित अनुमान-लक्षण है। मेरी पुस्तक पर उसी स्थान में यह लिखा हुआ है।

सांख्यकारिका की युक्तिदीपिका व्याख्या[2] में यह लक्षण विन्ध्यवासी के नाम

---

१. चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस का सन् १९१६ का संस्करण।

२. पृष्ठ ४ पर, कलकत्ता-संस्करण के अनुसार।

से निर्दिष्ट हुआ प्रतीत होता है। यद्यपि इस सन्दर्भ के साथ विन्ध्यवासी का नाम संलग्न नहीं है, परन्तु पूर्व-प्रसंग से यह स्पष्ट होता है। जैसा कि सांख्य-परम्परा में प्रसिद्ध है कि विन्ध्यवासी वार्षगण्य-सम्प्रदाय का अनुयायी था, यह निश्चित है। दोनों के द्वारा प्रतिपादित प्रमाणलक्षणों का समान होना उचित है। यह अधिक सम्भव है—वार्षगण्य द्वारा प्रतिपादित लक्षणों को ही विन्ध्यवासी अपनाता या दुहराता रहा हो; इसी कारण दोनों के नाम पर उद्धृत प्रमाणलक्षणों के पाठ सर्वथा समान उपलब्ध होते हैं। यह सन्दर्भ विन्ध्यवासी के उद्धरणों में भी दिया गया है।

एक प्रत्यक्ष सम्बन्ध से शेष की सिद्धि होना अनुमान-प्रमाण है। हेतु और उदाहरण के सम्बन्ध एकत्र प्रत्यक्ष हो जाने पर शेष साध्य की सिद्धि होना अनुमान-प्रमाण कहा जाता है। आचार्यों ने लक्षणगत पदों के प्रयोग को लक्ष्य कर अपनी रचनाओं में परस्पर खण्डन-मण्डन के रूप में विस्तृत चर्चा की हुई है। अनुमान का आत्मा केवल यही है कि हेतु और दृष्टान्त के बल पर अभीष्ट साध्य की सिद्धि की जाती है।

(३४) आचार्य पतञ्जलि–८

पतञ्जलि नाम के आचार्य विभिन्न कालों में अनेक हुए हैं। यहाँ उस पतञ्जलि का उल्लेख है, जिसने योगसूत्र पर कोई स्वतन्त्र रचना की, जो आज उपलब्ध नहीं है; पाणिनि-सूत्रों पर महाभाष्य लिखा और आयुर्वेद की चरक संहिता का प्रतिसंस्कार किया। योग-सम्बन्धी रचना के न मिलने पर भी पतञ्जलि नाम से उद्धृत उस विषय के अनेक सन्दर्भ विभिन्न ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। इस विषय का यथाज्ञात विस्तृत इतिहास 'सांख्यदर्शन का इतिहास' नामक हमारी रचना में देखना चाहिए। सांख्य-योगविषयक पतञ्जलि-सन्दर्भों का संकलन सांख्य इतिहास में प्रकाशित हो गया था; यहाँ उनकी यथामति व्याख्या प्रस्तुत है।

योगशास्त्रेऽपि—अथ तत्त्वदर्शनोपायो योगः, इति।
सम्यग्दर्शनाऽभ्युपायत्वेनैव योगोऽङ्गीक्रियते ॥१॥

(ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य, २।१।३)

योगशास्त्र में भी तत्त्वदर्शन का उपाय योग है, यह शास्त्र का प्रारम्भ करते हुए शास्त्रकार ने बताया है। तत्त्वदर्शन तत्त्वों—प्रकृति एवं उसके विकारों, तथा चेतन आत्मतत्त्वों—के साक्षात् करने के उपायों का नाम 'योग' है। जिस शास्त्र में इन उपायों का ऊहापोहपूर्वक विस्तृत विवेचन व उपपादन किया गया है, वह 'योग शास्त्र'[1] नाम से जाना जाता है।

एवं तर्हि नैवाहंकारो विद्यत इति पतञ्जलिः। महतोऽस्मि
प्रत्ययरूपत्वाभ्युपगमात् ॥ २ ॥

(यु० दी०, पृष्ठ ३२; पंक्ति १-२)

इस प्रकार तो पतञ्जलि कहता है कि अहंकार नाम का कोई अतिरिक्त तत्त्व नहीं है; क्योंकि 'अहम्' प्रतीति को वह महत्तत्त्व की स्वीकार करता है। 'अहं' प्रतीति के लिए ही अहंकार तत्त्व को उसके प्रत्येता (प्रत्यायन—बोधन कराने) के रूप में माना गया है। वह कार्य महत्तत्त्व से साध्य है, तब अतिरिक्त अहंकार तत्त्व अनावश्यक है।

सांख्यकारिका की तीसरी आर्या में 'सप्त'-पद-ग्रहण का प्रयोजन बतलाने के प्रसंग से यह विवेचन युक्तिदीपिका व्याख्या में दिया गया है। अहंकार को अतिरिक्त तत्त्व न मानने पर 'सप्त' संख्या की पूर्ति नहीं हो पाती। अन्त में व्याख्याकार ने पतञ्जलि के विचार का निरास कर अतिरिक्त तत्त्व के रूप में अहंकार का उपपादन किया है।

---

१. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य (२।१।३) में जहाँ यह सब उल्लेख है, उसके किसी व्याख्याकार ने यह संकेत नहीं किया कि यह 'योगशास्त्र' नामक रचना क्या

Scanned with CamScanner

है? पर इस पद के आगे जो उद्धरण है, उसकी रचना से प्रतीत होता है, यह उक्त नाम की रचना का प्रारम्भिक सूत्र रहा हो। योगविषयक पतञ्जलि की रचना के लिए इस पद का विशेष प्रयोग अन्यत्र देखा जाता है। बर्लिन के सूचीपत्र और मैक्समूलर के अनुसार कात्यायन-सर्वानुक्रमणी के व्याख्याकार षड्गुरुशिष्य ने लिखा है—

यत्प्रणीतानि वाक्यानि भगवाँस्तु पतञ्जलिः।
व्याख्यच्छान्तनवीयेन महाभाष्येण हर्षितः॥
योगाचार्यः स्वयं कर्त्ता **योगशास्त्र**निदानयोः।

यहाँ व्याकरण-महाभाष्यकार पतञ्जलि की योगविषयक रचना का नाम 'योगशास्त्र' लिखा है। इसी प्रकार पतञ्जलि-चरित में लेख है—

सूत्राणि **योगशास्त्रे** वैद्यकशास्त्रे च वार्त्तिकानि ततः।
कृत्वा पतञ्जलिमुनिः प्रचारयामास जगदिदं त्रातुम्॥

'सूत्र' का लक्षण विभिन्न स्थलों में इस प्रकार उपलब्ध है—

अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतो मुखम्।
अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥
लघूनि सूचितार्थानि स्वल्पाक्षरपदानि च।
सर्वतः सारभूतानि सूत्राण्याहुर्मनीषिणः॥

[द्रष्टव्य—वायुपुराण, ५८।१४२॥ तुलना करें—पराशरोपपुराण, अध्या० १८॥ न्यायकन्दली भूमिका, पृ० १८; लाजरस बनारस संस्करण। ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य की भामती, आनन्दगिरि टीका, १।१।१]

अल्प अक्षरों में सन्देहरहित सारभूत विस्तृत अर्थ को कहनेवाले तथा पुनरुक्ति एवं अन्य दोषों से रहित प्रायः सन्दर्भात्मक रचना को विद्वान् 'सूत्र' पद से कहते हैं।

व्याकरण-भाष्यकार पतञ्जलि की अध्यात्मविषयक रचना गद्य-सन्दर्भरूप में रही, यह उसके उद्धृत वाक्यों से स्पष्ट है। पतञ्जलि-चरितकार ने पतञ्जलि की अध्यात्मविषयक रचना का 'योगशास्त्र' नाम लिखकर उस रचना को उक्त आधार पर सूत्रात्मक बताया है। इससे प्रसिद्ध पातञ्जल योगसूत्र अथवा योगदर्शन की ओर उसका कोई संकेत नहीं है। हमारी रचना 'सांख्यदर्शन का इतिहास' पृष्ठ ६२१ पर पतञ्जलिचरित के उक्त श्लोक के सन्दर्भ में सूत्र-पद-सम्बन्धी ये विचार वहाँ अभिव्यक्त नहीं किए, यहाँ कर दिए हैं। शांकर भाष्य में 'योगशास्त्र' पद से पतञ्जलि की उसी रचना का उल्लेख हुआ प्रतीत होता है।

Scanned with CamScanner

प्रसिद्ध पातञ्जल योगदर्शन का प्रारम्भ 'अथ योगानुशासनम्' सूत्र से होकर चित्तवृत्तियों के निरोध का नाम 'योग' बताया है, जो परिणाम को लक्ष्य कर कहा गया है। इसके अन्तर्गत अध्यात्म का सीमित क्षेत्र आता है। परन्तु इस पतञ्जलि ने 'योग' का स्वरूप—तत्त्वों के साक्षात्कार के उपाय— बताकर कारण को लक्ष्य बनाया है। उसकी दृष्टि में चित्तवृत्तिनिरोध तथा तत्त्वों का साक्षात्कार समान स्तर की स्थिति है। इनके उपायों-साधनों का नाम योग है। इस रूप में 'योगशास्त्र' रचना के कर्ता पतञ्जलि ने योग के प्रतिपाद्य अधिक क्षेत्र को अपनी सीमा में अन्तर्गत कर लिया है। वह अध्यात्म-विवेचन के साथ प्रकृति एवं उसके विकारभूत तत्त्वों का भी अपनी स्वतन्त्र दृष्टि से विचार प्रस्तुत करना चाहता है, इसी कारण उसने योग का उक्त लक्षण किया। इनमें किसी विरोध की कल्पना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि योगदर्शन में योग के आठ अंग बताकर साधन और साध्य को एक पेटिका में बाँध दिया है।

पातञ्जल योगदर्शन में नगण्य विशेषता के साथ कापिलदर्शन-प्रतिपादित तत्त्वों को उसी रूप में स्वीकार कर लिया गया है। यद्यपि इस पतञ्जलि का 'योगशास्त्रम्' नामक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, पर उसके कतिपय उद्धृत सन्दर्भों के आधार पर प्राकृत तत्त्वों के विवेचन के प्रसंग में उसके स्वतन्त्र दृष्टिकोण का आभास मिल जाता है। इसके लिए द्रष्टव्य है हमारी रचना 'सांख्यदर्शन का इतिहास' द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ६१४--६२६।

पतञ्जलि-पञ्चाधिकरण-वार्षगणानां प्रधानात् महानुत्पद्यत इति।
अन्येषां पुराणेतिहास-प्रणेतॄणां महत्तोऽहंकारो विद्यत इति पक्षः।
महत्तोऽस्मिप्रत्ययकर्त्तृत्वाभ्युपगमात्॥ ३॥

(युक्तिदीपिका, पृष्ठ १०८; पंक्ति ३-५)

पतञ्जलि, पञ्चाधिकरण तथा वार्षगण्य के अनुयायियों की मान्यता है— प्रधान से महत्तत्त्व उत्पन्न होता है। पतञ्जलि आदि की यह मान्यता प्रायः अन्य सभी सांख्याचार्यों के समान है। भेद केवल यहाँ है कि पतञ्जलि आदि ये आचार्य महत्तत्त्व से अहंकार की उत्पत्ति नहीं मानते; जबकि पुराण एवं इतिहास आदि के प्रणेता आचार्य महत्तत्त्व से अहंकार की उत्पत्ति मानते हैं। पतञ्जलि आदि का कहना है—'अहम्' प्रतीति के साधन के रूप में अहंकार तत्त्व को स्वीकार किया जाता है, परन्तु अध्यवसाय (निश्चय—वृत्ति परम्परा का अन्तिम स्तर) वृत्ति के समान 'अहम्' वृत्ति का साधन भी महत्तत्त्व संभव है, तब अतिरिक्त अहंकार तत्त्व का मानना अनावश्यक है। अहंकार से मन, इन्द्रियाँ और तन्मात्र तत्त्वों की जो उत्पत्ति कही जाती है, वह भी महत्तत्त्व से सम्भव है, इसलिए अहंकार तत्त्व को बीच में अन्तर्गडु मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

इसके विपरीत अन्य सांख्याचार्यों ने अहंकार को अतिरिक्त तत्त्व मानने का

उपपादन करते हुए एक हृदयग्राही रहस्य का उद्घाटन किया है। उनका कहना है-- अहंकार तत्त्व न केवल मन, इन्द्रिय, तन्मात्र तत्त्वों की अभिव्यक्ति में सहयोग देता है, प्रत्युत विश्व के—रूप और नाम – इन दो विभागों में एक विभाग का पूर्ण प्रतीक है। औपनिषद आचार्यों के कथनानुसार यह महान् विश्व केवल दो प्रकार अथवा दो विधाओं में बँटा हुआ है—रूप और नाम---पहला वस्तुतत्त्व है, दूसरा ध्वनितत्त्व। जहाँ महत् पहले तत्त्व का प्रतीक है, वहाँ अहंकार दूसरे तत्त्व का। ऐसी स्थिति में अहंकार को अतिरिक्त तत्त्व मानने से नकार नहीं किया जा सकता; क्योंकि ऐसा करने से विश्व के अत्यावश्यक भाग की उपेक्षा करने की प्रसक्ति होगी, जिसपर प्राणिमात्र का व्यवहार निर्भर है।

ध्यान दीजिए, इस व्यवहार का आधार ध्वनि अथवा भाषा है। यदि यह आधार अपने विवेच्य अस्तित्व से निकाल दिया जाय, तो यह संसार नितान्त नीरस च व्यर्थ हो जाय। हय देखते हैं, इस तत्त्व के नाम में 'अहं' के आगे 'कार' लगा हुआ है। अन्य किसी तत्त्व के नाम में यह नहीं है। वस्तुतः यह अन्यत्र सम्भव नहीं। व्याकरण-शास्त्र के 'वर्णालंकारः' (अष्टा० सूत्र ३।३।१०८ पर वार्त्तिक) नियम के अनुसार अ-इ-उ आदि वर्णों से आगे 'कार' प्रत्यय का विधान है—अकार, इकार, उकार आदि। ध्वनिरूप में अपने भावों को अभिव्यक्त करने के लिए जिन वर्णों की कल्पना की गई है, उन ध्वनिचिह्नों के लिए पूर्ण प्रतीक है—'अहं'। 'अ' पहला वर्ण है, 'ह' अन्तिम वर्ण। ये आदि-अन्त वर्ण ध्वनियों के समस्त चिह्नों को अपने अन्दर समेट लेते हैं। 'अ-ह' के ऊपर जो गोलाकार बिन्दु है, वह समस्त वस्तुभूत विश्व का प्रतीक है। विश्व की कल्पना गोलाकार रूप में की जाती है। ऊपर का बिन्दु इस तथ्य को अभिव्यक्त करता है कि ध्वनि के कन्धे पर सवार होकर ही विश्व का व्यावहारिक अस्तित्व सम्भव है। यदि ध्वनि का आश्रय (सहारा) विश्व को न मिले, तो वह अपाहिज है। इसी वास्तविकता को स्पष्ट करने के लिए 'अहं' के आगे 'कार' प्रत्यय लगाकर 'अहंकार' के अतिरिक्त तत्त्व होने की अनिवार्यता को सामने लाकर खड़ा कर दिया है।

करणानां···स्वभावानिवृत्तिः··········सर्वा स्वत इति पतञ्जलिः ।। ४ ।।

(युक्तिदीपिका, पृ० १०८; पं० १५-१७)

बुद्धि आदि करणों की अपने निर्धारित कार्यों में प्रवृत्ति स्वभावतः अपनी रचना के आधार पर स्वतः प्राप्त है, इसमें अन्य किसी का कोई दखल या प्रवेश नहीं है, यह आचार्य पतञ्जलि का विचार है। पतञ्जलि के सम्बन्ध में प्रथम यह लिखा जा चुका है कि वह प्राकृत तत्त्वों की रचना के विषय में अपना स्वतन्त्र दृष्टिकोण रखता है। करणों की अपने विषयों में प्रवृत्ति-सम्बन्धी उसका दृष्टि-कोण इस विषय में उसके स्वतन्त्र विचार का उदाहरण है।

वार्षगण्य-प्रसंग के १२ संख्या के सन्दर्भ की व्याख्या में इस विषय का उपयुक्त

विवरण आ गया है।

करणं.........द्वादशविधमिति पतञ्जलिः ।। ५ ।।

(यु० दी०, पृ० १३२; पं० २८-३०)

पतञ्जलि के दूसरे-तीसरे सन्दर्भ से स्पष्ट है, वह अहंकार को अतिरिक्त तत्त्व नहीं मानता। उसके विचार से अभिमानवृत्ति का होना महत्तत्त्व में सम्भव है। इस प्रकार कपिल आदि सांख्याचार्यों द्वारा स्वीकृत करणों की तेरह संख्या में एक की कमी होकर, करण बारह हैं, यह पतञ्जलि का कथन है।

पातञ्जले तु सूक्ष्मशरीरं यत् सिद्धिकाले पूर्वमिन्द्रियाणि बीजदेशं नयति, तत्र तत्कृताशयवशात् द्युदेशम्, यातनास्थानं वा करणानि वा प्रापय्य निवर्त्तते। तत्र चैवंयुक्ताशयस्य कर्मवशादन्यदुत्पद्यते, यदिन्द्रियाणि बीजदेशं नयति, तदपि निवर्त्तते; शरीरपाते चान्यदुत्पद्यते। एवमनेकानि शरीराणि ।। ६ ।।

(यु० दी०, पृ० १४४, पं० १६-२०)

यह सन्दर्भ सांख्यकारिका की चालीसवीं आर्या के अवतरण-प्रसंग से युक्ति-दीपिका व्याख्या में उद्धृत है। सन्दर्भ में पतञ्जलि का सूक्ष्मशरीर-सम्बन्धी सिद्धांत वर्णित है। कापिल सिद्धान्त के अनुसार आदिसर्गकाल में प्रत्येक आत्मा के साथ सूक्ष्मशरीर का सम्बन्ध होकर आनेवाले प्रलयकाल तक अथवा सत्र के चालू काल में आत्मसाक्षात्कार होने तक—बना रहता है। इस अन्तराल-काल में सूक्ष्मशरीर अपने स्वरूप से कभी प्रच्युत नहीं होते, इसीलिए इतने काल के लिए उन्हें 'नियत' अर्थात् नित्य बताया गया है। माता-पिता के संयोग से उत्पन्न स्थूल शरीर जन्मते-मरते रहते हैं। पतञ्जलि का मत है कि माता-पितृज स्थूलशरीर के समान सूक्ष्म-शरीर भी आत्मा के कर्माशय के अधीन तदनुरूप जन्मता-मरता रहता है।

इस रूप में सन्दर्भ के भाव को स्पष्ट समझने के लिए सूक्ष्मशरीर की रचना की ओर ध्यान देना आवश्यक है। अठारह घटक अवयवों का समुदाय सूक्ष्मशरीर है। ये अठारह घटक दो वर्गों में विभाजित हैं--तेरह करण तथा पाँच तन्मात्र; इनमें शरीर की रचना पाँच 'तन्मात्र' से होती है। तात्पर्य है—तन्मात्र तत्त्व उस शरीर के उपादान कारण हैं। इसी आधार पर सूक्ष्मशरीर के इतने अंश को 'कारण-शरीर' भी कहा जाता है। तेरह करणों का अन्य नाम 'लिंग' है। लिंग पद का निर्वचन आचार्यों ने किया है—'लीनमर्थं गमयति बोधयतीति लिंगम्'। जो छिपे हुए अर्थ का बोध कराये, वह लिंग है। बुद्धि आदि अन्तःकरण तथा चक्षु आदि बाह्य करण स्थूलशरीर में अपने सक्रिय अस्तित्व से शरीर में छिपे आत्मतत्त्व का बोध कराते हैं। शरीर में इनकी सक्रियता आत्मा के अस्तित्व के बिना सम्भव नहीं; अतः ये तेरह करण आत्मा के लिंग हैं। जब सूक्ष्मशरीर के इतने अंश को मुख्य बताना अभीष्ट होता है, तब इसे 'लिंगशरीर' नाम से कहा जाता है। तात्पर्य हुआ---सूक्ष्मशरीर के ही दो भागों को 'लिंगशरीर' और 'कारणशरीर' नाम दिये

Scanned with CamScanner

गए हैं। इनमें कारणशरीर आश्रय है और लिंगशरीर उसमें आश्रित रहता है। इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि तन्मात्रनिर्मित शरीर आश्रय, और तेरह करण उसमें आश्रित हैं, यह सूक्ष्मशरीर है।

पतञ्जलि का इस विषय में कहना है कि तन्मात्र से कारणशरीर की रचना आदिसर्गकाल में एक बार होकर वह शरीर प्रलयकाल आने तक अथवा आत्म-साक्षात्कार होने तक निर्बाध बराबर बना रहता है; यह मान्यता अयुक्त है। उसके विचार के अनुसार प्रत्येक स्थूलशरीर की रचना प्रारम्भ होने से कुछ पहले आत्मा के कर्माशय के अनुसार उस शरीर की रचना हो जाती है, और स्थूलशरीर की मृत्यु के कुछ समय पश्चात् वह भी समाप्त हो जाता है। स्थूलशरीर के जन्म से पहले के और मृत्यु से पीछे के उस समय का भी पतञ्जलि ने निर्धारण किया है जब वह सूक्ष्मशरीर जन्मता या मरता है। अब सन्दर्भ के अर्थ पर ध्यान दीजिए।

पतञ्जलि के मत में तो जब सूक्ष्मशरीर अपनी विद्यमान अवस्था में रहता है, तब पहले इन्द्रियों (करणों) को बीज-देश में ले जाता है। बीज-देश वह है, जो माता-पिता के संयोग के फलस्वरूप गर्भस्थिति होकर स्थूलशरीर की रचना का प्रारम्भ है। उस शरीर में रहते हुए वहाँ किए गए कर्मों से जनित संस्कारों व वासनाओं के वशीभूत होकर उनके अनुसार स्थूलशरीर के न रहने पर इन्द्रियों सहित आत्मा को स्वर्ग (द्युदेशम्) अथवा नरक (यातनास्थानम्) में पहुँचाकर स्वयं भी समाप्त हो जाता है। इस अवस्था में आत्मा को अगला शरीर मिलने की स्थिति आने पर आत्मा के कर्माशयवश अन्य शरीर उत्पन्न हो जाता है, जो इन्द्रियों को बीज-देश में ले जाता है। पहले के समान उस शरीर में किये कर्माशय व वासनाओं के अनु-रूप वह शरीर न रहने पर सेन्द्रिय आत्मा को उपयुक्त स्थान पर पहुँचाकर स्वयं भी समाप्त हो जाता है। इस प्रकार स्थूलशरीर के समान सूक्ष्मशरीर भी जन्मते-मरते रहने के कारण अनेक हैं। समस्त सर्गकाल में एक ही सूक्ष्मशरीर चलता रहता है, यह कथन युक्त नहीं है।

पतञ्जलि के प्रस्तुत सन्दर्भ से यह ज्ञात होता है कि इन्द्रिय (करण) तो एक वार सर्गादिकाल में उत्पन्न होकर समस्त सर्गकाल में बने रहते हैं; पर तान्मात्रिक सूक्ष्मशरीर बनता-बिगड़ता रहता है, जैसे स्थूलशरीर। पतञ्जलि की इस मान्यता में एक बड़ा छिद्र है। उसको भरने का प्रयास उपलब्ध सन्दर्भों में दृष्टिगत नहीं हुआ। आचार्यों ने देहान्तरों में आत्मा के संसरण के लिए सूक्ष्मशरीर को आधार माना है। जो आचार्य सूक्ष्मशरीर के अस्तित्व को सकारते हैं, इस विषय में उनका कोई मतभेद नहीं है कि सूक्ष्मशरीर में तान्मात्रिक शरीर आश्रय और करण उसमें आश्रित रहते हैं। इसका तात्पर्य है—सूक्ष्मशरीर की रचना में करणों की उपा-दानता नितान्त भी नहीं है। करणों का निराश्रित रहना सम्भव नहीं। पर ये उस

अन्तराल काल में निराश्रित रह जाते हैं, जब सूक्ष्म शरीर नष्ट होकर कालान्तर में पुनः उत्पन्न होनेवाला होता है। ४१वीं आर्या में स्पष्ट किया है, 'लिंग' कभी निराश्रय नहीं रह सकता।

यत्तावत् पतञ्जलिः आह—सूक्ष्मशरीरं विनिवर्त्तते, पुनश्चान्यदुत्पद्यते। तत्···अस्माभिर्नाभ्युपगम्यते ॥ ७ ॥

(यु० दी०, पृ० १४५, पं० १-२)

पतञ्जलि ने जो यह कहा—सूक्ष्मशरीर समाप्त हो जाता है, और फिर अन्य उत्पन्न हो जाता है, इस बात को हम (कपिल-मतानुयायी) स्वीकार नहीं करते। इसका कारण पूर्व-सन्दर्भ की व्याख्या में स्पष्ट कर दिया है।

एवं त्रिविधभावपरिग्रहात् त्वाचार्यस्य न सर्वं स्वतः पतञ्जलिवत्। न सर्वं परतः पञ्चाधिकरणवत्; किन्तर्हि? महती स्वभावातिवृत्तिः प्रकृतितोऽल्पा स्वल्पेविकृतितः ॥ ८॥

(यु० दी०, पृ० १४८-४९; पं० २९,१)

यह सन्दर्भ तेतालीसवीं आर्या की युक्तिदीपिका व्याख्या की अवतरणिका में है। सन्दर्भ के अन्तर्गत पतञ्जलि के एतद्विषयक सिद्धान्त का निर्देश है, इसी कारण यहाँ पतञ्जलि-प्रसंग में इसका उल्लेख किया है। इस सिद्धान्त का विवरण इसी प्रसंग के संख्या चार सन्दर्भ में कर दिया गया है। यहाँ इतना विशेष समझना चाहिए।

मुख्य करण बुद्धितत्त्व (महत्तत्त्व) के आठ भाव—धर्म, ज्ञान. वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य—आचार्यों ने बताये हैं। ये आठ भाव तीन प्रकारों में विभक्त हैं—सांसिद्धिक, प्राकृतिक, वैकृतिक। ये भाव सांसिद्धिक उस दशा में कहे जाते हैं, जब इनका उद्भव महत्तत्त्व के उद्भव के साथ ही हो जाता हो। तात्पर्य है—भावों के उद्भव में जहाँ महत्तत्त्व का निमित्त या साधन होना अपेक्षित न हो। जैसे परमर्षि के धर्म, ज्ञान आदि भाव, ये सांसिद्धिक थे; यद्यपि सांख्याचार्यों में विन्ध्यवासी भावों के इस सांसिद्धिक प्रकार को स्वीकार नहीं करता। उसका कहना है कि परमर्षि को भी भावों के उद्भव के लिए गुरु-उपदेश आदि अपेक्षित है, अत: वह महत्तत्त्व आदि संघात रचना के अनन्तर सम्भव है, परन्तु प्राचीन सांख्याचार्यों ने इस प्रकार के भाव-उद्भव को प्राकृतिक प्रकार में अन्तर्भूत किया है। विन्ध्यवासी द्वारा भावों के दो प्रकार मानने पर प्राचीन आचार्यों ने तीनों प्रकारों को अक्षुण्ण रक्खा है। भावों का प्राकृतिक प्रकार वह है जब सर्गरचना के अनन्तर बुद्धितत्त्व में सत्त्वोद्रेक होने पर उपदेश से अनायास धर्म, ज्ञान आदि का प्रादुर्भाव आसुरि, सनक, सनन्दन आदि को जैसे हुआ। नन्दी, नहुष एवं अन्य अनेक लोककर्ता पुरुष इसी कोटि में आते हैं। इनमें धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य-भावों का ही प्रादुर्भाव प्रायः होता है; कदाचित् अधर्म आदि का अत्यल्प आंशिक, अधर्म आदि

Scanned with CamScanner

भावों का प्रायः उद्भव यक्ष-राक्षस आदि में होता है। वैकृतिक प्रकार भावों का अस्मदादि पुरुषों में होता है, जहाँ धर्म-अधर्म आदि भावों का उद्भव मिश्रित रूप में देखा जाता है। वहाँ धर्म, ज्ञान आदि भावों का उद्भव अति प्रयाससाध्य रहता है। ज्ञान के अन्तर्गत जितनी वृत्तियाँ सुख, दुःख, राग, द्वेष, हिंसा, क्रूरता, मोह, भय आदि की होती हैं, उनका उद्भव तिर्यक् प्राणियों में भी देखा जाता है।

धर्म आदि भाव करणों के वृत्तिरूप हैं। करणों का अपने साध्य विषयों के प्रति प्रवृत्ति-सामर्थ्य निर्धारित है, सुनिश्चित है। प्रस्तुत प्रसंग में विचारणीय यह है कि करणों का यह प्रवृत्ति-सामर्थ्य स्वतः इनका अपना है? या प्रकृति से प्राप्त है? अथवा दोनों का आंशिक है? इस विषय में पतंजलि का विचार है कि यह सामर्थ्य इनका पूर्ण रूप से अपना है। इनकी अपनी रचना इस प्रकार की है, जिससे अपने विषय की ओर प्रवृत्ति में इन्हें अन्य किसी के सहयोग की अपेक्षा नहीं करनी पड़ती। इसके विपरीत पंचाधिकरण आचार्य का विचार है कि करणों की प्रवृत्ति स्वतः नितान्त भी नहीं, यह पूर्णतः पराधीन है, परतः प्राप्त है, अन्य सामर्थ्य से प्राप्त होती है। वह सामर्थ्य व शक्ति चेतन तत्त्व है, उससे प्रेरित करण अपने विषयों के प्रति प्रवृत्त होते हैं।

इन दोनों कथनों को आंशिक बताते हुए आचार्य ने कहा—करणों में अपने ग्राह्य (साध्य) विषयों के प्रति नैसर्गिक प्रवृत्ति प्रकृति से अधिक आती है, स्वतः अर्थात् अपने रूप से अल्प प्राप्त होती है। आचार्य के इस कथन में सांख्य-योग के परम सिद्धान्त सत्कार्यवाद की ओर ध्यान दिलाने का संकेत है। कार्य में ऐसी विशेषता कोई नहीं होती जो कारण से प्राप्त न हो; पर कार्यरूप में जो अपनी विशेषता उभरती है—चक्षु द्वारा रूप का दीखना, श्रोत्र द्वारा शब्द का सुनना आदि, वह सब कारणरूप में अनुद्भूत रहता है। कार्य की केवल अपनी यह विशेषता है कि जो धर्म कारण में अनुद्भूत था, वह यहाँ उद्भूत हो गया है। इसी आधार पर आचार्य ने बताया—करणों का प्रवृत्ति-सामर्थ्य प्रकृति से अधिक मात्रा में प्राप्त होता, स्वतः अत्यल्प रहता है।

पतंजलि का कथन इस विषय में इसलिए दोषपूर्ण है, उसने सत्कार्य-सिद्धान्त को सर्वथा उपेक्षित कर दिया, जो इस विषयक विचार के लिए अत्यन्त आवश्यक है। पंचाधिकरण का विचार इसलिए दोषपूर्ण है कि उपादानकारण की बात से हटकर निमित्तकारण पर जा कूदा। 'आम्रान् पृष्टः कोविदारानाचष्टे' कहावत को चरितार्थ किया—बात आमों की चल रही थी, उसने कथा कचनार की छेड़ दी। यह ठीक है—करणों की प्रवृत्ति में चेतन की प्रेरणा रहती है, पर उनकी इस रचना में चेतन का उपादानरूप से अंशमात्र भी सहयोग नहीं है। यदि करणों का अपने विषय के प्रति प्रवृत्ति-सामर्थ्य पूर्णतः परतः प्राप्त है, अर्थात् चेतन द्वारा प्राप्त है; तो चेतन चक्षु को शब्द सुनने में, श्रोत्र को रस चखने में, घ्राण को रूप देखने में

Scanned with CamScanner

प्रवृत्त कर दे। पर ऐसा असम्भव है। पंचाधिकरण आचार्य ने करणों की रचना की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया।

युक्तिदीपिकाकार ने इस सिद्धांत-पक्ष को यहाँ 'आचार्य' नाम से प्रस्तुत किया है। परन्तु पुस्तक के पृष्ठ १०८ (कलकत्ता-संस्करण) पर वार्षगण्य के नाम से उल्लेख किया है। इससे यह संकेत मिलता है—इस सिद्धान्त के विषय में वार्षगण्य और कापिल सम्प्रदाय सहमत हैं।

अयुतसिद्धावयवभेदानुगतः समूहो द्रव्यमिति पतंजलिः॥ ६॥

(योगसूत्र व्यासभाष्य, ३।४४)

'अयुतसिद्ध' पद पारिभाषिक है, न्याय-वैशेषिक में इसका प्रयोग अधिक हुआ है। जिन दो[1] पदार्थों में से एक, दूसरे के आश्रित ही रहता है, वे दोनों पदार्थ आपस में 'अयुतसिद्ध' कहे जाते हैं। उन दोनों पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध 'समवाय' माना जाता है। वैशेषिक में ऐसे पदार्थों के पाँच जोड़ हैं—अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान्, जाति-व्यक्ति, नित्यद्रव्य-विशेष। प्रत्येक जोड़े में एक, अपने से भिन्न दूसरे पर आश्रित रहता है। अवयवी अवयवों में आश्रित (समवेत) रहता है, अर्थात् अवयवी अवयवों में समवाय-सम्बन्ध से रहता है। तात्पर्य है—अवयवों के बिना अन्यन्त्र कहीं अवयवी का आश्रय नहीं। इस प्रकार ये दोनों आपस में 'अयुत-सिद्ध' हैं।

ऐसे ही गुण (रूप आदि) गुणी (द्रव्य) के बिना नहीं रह सकते। द्रव्य गुणों का आश्रय है, गुण द्रव्य में आश्रित हैं। क्रिया (गति आदि) क्रियावान् (द्रव्य) में आश्रित रहती है। जाति (गोत्व आदि) व्यक्ति (गौ आदि) में आश्रित रहती है। द्रव्य, गुण, कर्म तीनों प्रकार की व्यक्तियों में जाति (द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व आदि) आश्रित रहती है। नित्यद्रव्य परमाणु आदि में एक परमाणु का अन्य परमाणु से भेद प्रकट करने के लिए वैशेषिक शास्त्र प्रत्येक परमाणु में 'विशेष' नामक पदार्थ का अस्तित्व स्वीकार करता है। परमाणु में विशेष आश्रित है। ये दोनों 'अयुत-सिद्ध' और इनका परस्पर सम्बन्ध समवाय है। इस प्रकार 'अयुतसिद्ध' पद एक दार्शनिक परिभाषामात्र है। प्रस्तुत सन्दर्भ में इसी भावना के साथ उक्त पद का प्रयोग हुआ है।

---

१. ययोर्द्वयोरेकमविनश्यदपराश्रितमेवावतिष्ठते, तावयुतसिद्धौ। जिन दो में से एक विद्यमान रहता हुआ दूसरे के आश्रय पर ही रह सकता है, वे दोनों परस्पर 'अयुतसिद्ध' कहे जाते हैं।

Scanned with CamScanner

इस विवरण के अनुसार सन्दर्भ[1] का अर्थ है—अयुतसिद्ध अवयवविशेषों से अनुगत—सम्बद्ध जो समूह है, वह 'द्रव्य' कहा जाता है; यह आचार्य पतंजलि का विचार है। सन्दर्भ में 'अयुतसिद्ध' और 'अवयवभेद' ये दो पद द्रव्यस्वरूप को अभिव्यक्त करने के मुख्य आधार हैं। दार्शनिक भाषा में 'भेद' और 'विशेष' पद पर्याय माने जाते हैं। अयुतसिद्ध पदार्थों के जब अवयवविशेष समूहरूप में इकट्ठे होते हैं तो वह अवयवसमूह 'द्रव्य' नाम प्राप्त कर लेता है। 'अवयवविशेष' का तात्पर्य है—चाहे जो कोई अवयव इकट्ठे होने पर, उनका समूह 'द्रव्य' नाम नहीं पाता; जो अवयव किसी इकाई के प्रयोजक हों, उन्हीं का समूह 'द्रव्य' कहा जाता है।

यद्यपि पतंजलि के सन्दर्भ में यह स्पष्ट नहीं है कि वह कणाद के अनुरूप अयुतसिद्धों का सम्बन्ध समवाय मानता है, परन्तु यहाँ उक्त पद (अयुतसिद्ध) के प्रयोग से सम्भव है, वह ऐसा मानता हो; परन्तु अन्य प्राचीन सांख्याचार्य सत्कार्यवाद-सिद्धान्त की मान्यता के आधार पर 'समवाय' को स्वीकार नहीं करते; ऐसे अवयवों के सम्बन्ध को वहाँ 'स्वरूप सम्बन्ध' नाम दिया गया है। समवाय-सम्बन्ध आरम्भवाद अथवा असत्कार्यवाद का प्रतीक है; स्वरूप-सम्बन्ध परिणामवाद का। यद्यपि यह शाब्दिक बहिरंग विवाद है; इसके पीछे छिपे बैठे वस्तुस्थिति के समान भाव को सरलता से समझा जा सकता है।

यथाहुस्तत्रभवन्तः पतञ्जलि पादाः—

(१०) "कोहि योगप्रभावाद् ऋते अगस्त्य इव समुद्रं पिबति स इव च दण्डकारण्यं सृजति" इति। न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका, १।१।१, पृ० ८॥

निश्चय ही कौन ऐसा व्यक्ति है जो योग-प्रभाव के बिना अगस्त्य के समान समुद्र को पी लेता है और उसके समान दण्डकारण्य का सर्जन कर देता है।

यह सन्दर्भ पतंजलि के उस ग्रंथ का है जो उसने योगशास्त्र पर स्वतन्त्र रूप में लिखा। यह ऐसा ग्रंथ था जैसा वैशेषिक शास्त्र पर प्रशस्तपाद-भाष्य है। यह

---

१. भाष्यकार वेदव्यास ने स्वयं इस संदर्भ को भाष्य में उद्धृत किया हो, यह सम्भव नहीं। व्याकरणमहाभाष्यकार, चरक का प्रतिसंस्कर्ता तथा योगमूलक अध्यात्मविषयक योगशास्त्र नामक रचना का निर्माता पतंजलि, भाष्यकार वेदव्यास से पर्याप्त अनन्तर-काल में हुआ है। ज्ञात होता है—कालान्तर में कभी किसी अध्यापयिता ने अपने अध्येताओं की प्रतियों के प्रान्तभाग (हाशिये) पर यह सन्दर्भ लिखा दिया हो, जो प्रतिलिपिकारों द्वारा मूल में सन्निविष्ट कर दिया गया। हाथ से ग्रंथ लिखे जाने के उस लंबे काल में प्रायः ऐसा होता रहा है, जिसके फलस्वरूप अध्ययनाध्यापन में अधिक प्रयुक्त होने वाले विभिन्न ग्रंथों में अतिरिक्त पाठों का प्रवेश हो गया, जिनका असंदिग्ध संशोधन अतिकठिन प्रयाससाध्य है।

पतंजलि संस्कृतव्याकरण-महाभाष्यकार और चरकसंहिता का प्रतिसंस्कर्ता था।

उपर्युक्त पतंजलिपाठ के सदृश व्यासभाष्य (४।१०) में निम्नलिखित पाठ उपलब्ध होता है—"दण्डकारण्यं च चित्तबलव्यतिरेकेण शारीरेण कर्मणा शून्यं कः कर्त्तुमुत्सहेत, समुद्रमगस्त्यवद् वा पिबेत्"।

पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने सं० व्या० शा० का इतिहास, प्रथम भाग पृ० ३६३ पर लिखा है, न्यायवार्तिक तात्पर्यटीकाकार वाचस्पति मिश्र ने व्यासभाष्य के पाठ को पतंजलि नाम से उद्धृत किया है और बताया है कि व्यासभाष्य के नाम से प्रचलित भाष्य पतंजलि का लिखा हुआ है।

मेरे विचार से यह परिणाम निकालना भ्रांतिमूलक है। वाचस्पति मिश्र ने व्यासभाष्य के पाठ को उद्धृत नहीं किया, वह पाठ का उद्धरण नहीं है। यद्यपि अर्थ दोनों पाठों में समान है, किन्तु अर्थ के प्रतिपादन में व्यतिक्रम स्पष्ट है।

मैंने इस विषय में मीमांसकजी को पुनर्विचार करने को लिखा था। उन्होंने जो उत्तर दिया, निम्नांकित है—"संस्कृत व्या० शा० के प्रथम भाग के पृष्ठ ३६३ पर मेरे लेख में आपने जो असंगति दर्शाई है, उसपर पुनः विचार करके अगले संस्करण में (जीवन रहा तो) ठीक करने का प्रयत्न करूँगा।"

(३६) पौरिक सांख्याचार्य—६

पौरिक आचार्य का एकमात्र सन्दर्भ युक्तिदीपिका [आर्या ५६, पृ० १६६; पं० १६-१८] में निम्न प्रकार उद्धृत है—

१. **यदुक्तं प्रतिपुरुषविमोक्षार्थमयमारम्भ इति, तदयुक्तम्, आचार्य-विप्रतिपत्तेः। प्रतिपुरुषमन्यत् प्रधानं शरीराद्यर्थं करोति। तेषाञ्च माहात्म्यशरीरप्रधानं यदा प्रवर्त्तते तदेतराण्यपि; तन्निवृत्तौ च तेषामपि निवृत्तिः। इति पौरिकः सांख्याचार्यो मन्यते।**

जो कहा है—प्रत्येक पुरुष के मोक्ष के लिए एकमात्र प्रकृति से शरीर आदि सर्ग का आरम्भ हुआ है, वह अयुक्त है; क्योंकि इस विषय में आचार्यों की विप्रतिपत्ति है। आचार्यों का इस विषय में समान कथन नहीं है। प्रत्येक पुरुष के शरीर आदि अर्थ (वस्तुतत्त्व) एक ही प्रधान से प्रवृत्त हुए, आरम्भ हुए या निर्मित हुए—इस बात में सब आचार्य एकमत नहीं हैं। प्रत्येक पुरुष के शरीर आदि की रचना अन्य-अन्य प्रधान से होती है। जो उपादानतत्त्व एक शरीर, इन्द्रिय एवं अन्य करणों की रचना में प्रवृत्त हुए हैं, वे उपादानतत्त्व अन्य शरीर आदि की रचना में कारण नहीं हो सकते। विभिन्न शरीर आदि के उपादानतत्त्व एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक शरीर आदि के प्रति प्रधान (उपादानतत्त्व) भिन्न हैं। जितने शरीर आदि अर्थ, उतने प्रधान। ऐसी स्थिति में एकमात्र प्रधान को—अनन्त शरीर आदि अर्थों के निर्माण में—उपादान मानना अयुक्त है।

हम इस बात को जानते हैं, जब एक माहात्म्यशरीर प्रधानतत्त्व से निर्मित होता है, उसी समय में अन्य अनेक साधारण शरीर विभिन्न उपादानतत्त्वों से निर्मित होते हैं। परमर्षि का माहात्म्यशरीर असाधारण है। उसकी तुलना अन्य साधारण शरीर आदि के साथ नहीं की जा सकती। तब यह कैसे माना जा सकता है कि जिस प्रधान (उपादानतत्त्व) से माहात्म्यशरीर आदि निर्मित हुआ, वह प्रधान साधारण शरीर आदि का भी आरम्भक है? जब इन शरीरों में परस्पर भेद है, तब उनके उपादानतत्त्व प्रधान में भी अवश्य भेद स्वीकार करना चाहिए। यदि ऐसा स्वीकार नहीं किया जाता और प्रधान को एकमात्र माना जाता है, तो माहात्म्य-शरीर के निवृत्त होने पर अन्य सब शरीरों को भी निवृत्ति हो जानी चाहिए। परंतु ऐसा नहीं है; यह प्रत्यक्ष से सिद्ध है। इसलिए प्रधान एक न होकर अनेक हैं, यह पौरिक नामक सांख्याचार्य का विचार है।

पौरिक और गुणरत्न सूरि

हरिभद्र सूरि विरचित 'षड्दर्शन समुच्चय' के व्याख्याकार गुणरत्न सूरि ने अपनी व्याख्या[1] में उक्त अर्थ को निम्न प्रकार प्रकट किया है—

मौलिक्यसांख्या हि आत्मानमात्मानं प्रति पृथक् प्रधानं वदंति। उत्तरे तु सांख्याः सर्वात्मस्वप्येकं नित्यं प्रधानमिति प्रपन्नाः।

क्योंकि मूल में होनेवाले अर्थात् पूर्ववर्ती सांख्याचार्य प्रत्येक आत्मा के प्रति पृथक् प्रधान होने का कथन करते हैं; परन्तु उत्तरकालवर्ती आचार्य सब आत्माओं व शरीर आदि कार्यों के निर्माण विषय में एक नित्य प्रधान तत्त्व को उपादानरूप से स्वीकार करते हैं।

युक्तिदीपिका में इस मान्यता का निर्देश 'पौरिक आचार्य' नाम से किया है। परन्तु गुणरत्न सूरि 'मौलिक्य सांख्याः' कहकर निर्देश करता है, और उसमें पूर्व-उत्तरकाल की कल्पना कर मतान्तर का उल्लेख करता है। सम्भवतः 'पौरिक' पद के साधारण निर्वचन—'पुरा भवः पौरिकः' के आधार पर पूर्वापर-काल की कल्पना कर डाली है। ऐसी भावना युक्तिदीपिका के प्रसंग में नितान्त भी नहीं है। आचार्य के 'पौरिक' नाम का प्रवृत्ति-निमित्त क्या रहा होगा, यह तो कहना कठिन है; पर गुणरत्न सूरि की कल्पना में यह असामंजस्य तो स्पष्ट दिखाई दे रहा है कि उसने 'पौरिकः' एकवचनान्त पद को बहुवचनान्त पद के रूप में प्रस्तुत कर दिया। दोनों जगह (युक्तिदीपिका, तर्करहस्यदीपिका) सिद्धान्त का स्वरूप सर्वथा एक है, तब वहाँ प्रवक्ता में भेद सूरि ने क्यों किया? उसकी पूर्वापर-काल की कल्पना यह भेद किये बिना सम्भव न थी। स्पष्ट है, 'पौरिक' पद के अर्थ को समझने में अपने भ्रम को यथार्थ बनाने के लिए उसने ऐसा किया। इस विषय के अधिक विवेचन के लिए 'सांख्यदर्शन का इतिहास' ग्रंथ में 'पौरिक' प्रसंग (पृष्ठ ६२९-३१, द्वितीय संस्करण) द्रष्टव्य है। यहाँ केवल सन्दर्भों की उपयुक्त व्याख्या करना अधिक अभीष्ट है।

सिद्धान्त की दृष्टि से पौरिक आचार्य की मान्यता में कोई अनिवार्य असामंजस्य नहीं है। वस्तुतत्त्व के प्रतिपादन का यह एक दृष्टिकोणमात्र है। इसके अनुसार विचार करने पर जहाँ तक प्रकृति के अनेकतावाद का प्रश्न है, वह एक साधारण बात दिखाई देती है। प्रत्येक पुरुष का—शरीरादि निर्माण तथा अन्य जीवन-साधन सामग्री को देखते हुए—समस्त प्रकृति से सम्पर्क न होकर उसके एक अत्यल्प नगण्य अंश के साथ सम्पर्क हो पाता है। उतने अंश में स्वतन्त्र इकाई की कल्पना करने से प्रतिपुरुष प्रधान को पृथक् मानने के आधार पर एक ही प्रकृति में

---

१. षड्दर्शनसमुच्चय व्याख्या, तर्करहस्यदीपिका, कारिका ३६ पर। पृष्ठ ९९; एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता-संस्करण।

अनेकतावाद का सामंजस्य संभव है। व्यावहारिक वास्तविकता के आधार पर ऐसा विवेचन न आपत्तिजनक है, न मूल सिद्धान्त का विरोधी।

मूल सिद्धांत भी प्रधान को एक व्यक्ति या एक वस्तुरूप इकाई में प्रस्तुत नहीं करता। प्रधान अपने अस्तित्व में 'सत्त्व-रजस्-तमस्' रूप है। ये 'सत्त्व' आदि तत्त्व सर्वथा एक-दूसरे से भिन्न हैं। फिर 'सत्त्व' आदि अपने रूप में एक इकाई न होकर अनेक हैं। अनन्त सत्त्व, अनन्त रजस्, अनन्त तमस्। तब प्रकृति को एक कहने का क्या तात्पर्य है, यह समझना चाहिए। समस्त विश्व का अथवा वस्तुभूत कार्यमात्र का उपादानकारण एकमात्र प्रधान तत्त्व है; उस उपादानकारणता की सीमा में अन्य किसी तत्त्व का अंशमात्र भी प्रवेश नहीं है; उपपादन का यह दृष्टिकोण प्रधान की एकता का आधार है। फलतः इन मान्यताओं में कथन या उपपादन के दृष्टिकोण में अन्तर है, वस्तुतत्त्व की स्वरूपस्थिति में कोई भेद नहीं। अतः आचार्यों में पूर्वापर की कल्पना कर वस्तुतत्त्व में भेद का कथन संगत नहीं समझना चाहिए।

(४१) आचार्य पञ्चाधिकरण–१०

आचार्य के नाम का प्रवृत्तिनिमित्त क्या रहा होगा ? यह अज्ञात है। यह अपने ढंग का एक निराला नाम है। 'षड्गुरुशिष्य' व 'पक्षधर' आदि के समान ऐसे नाम का प्रवृत्तिनिमित्त कोई अवश्य पीछे छिपा रहता है। सम्भव है, पञ्चशिख[1] नाम के समान इस नाम का कोई आधार रहा हो। इसके नाम से उद्धृत सन्दर्भ—जो संकलित किये जा सके—निम्न प्रकार हैं :

१—पतञ्जलि पञ्चाधिकरण वार्षगणानां प्रधानात् महानुत्पद्यत इति।

 (यु० दी०, पृ० १०८; पं० ३-४)

पतञ्जलि, पञ्चाधिकरण और वार्षगण्य एवं उसके अनुयायी आचार्यों का कहना है कि प्रधान से प्रथम महत्तत्त्व कार्य प्रकाश में आता है। इस मान्यता का उल्लेख पतञ्जलि और वार्षगण्य के प्रसंग में भी हुआ है। सिद्धान्त के इतने अंश में सभी सांख्याचार्य एकमत हैं। प्रधान से महत्तत्त्व कार्य के उभार तक तत्त्वपरिणाम-परम्परा को कितने स्तर पार करने पड़ते हैं ? इसका विवरण कहीं प्राप्त नहीं है; यद्यपि इसका उल्लेख अवश्य हुआ है।[2] प्रधान से—अगण्य व अज्ञेय परिणामों के अनन्तर—एक महत्तत्त्व नामक ऐसा कार्य उभार में आता है, जो समस्त सर्गकाल में प्राणी के—प्रत्येक प्रकार के भोग व अपवर्ग तक के लिए—मुख्य साधन के रूप में प्रस्तुत रहता है। प्रधान और महत्तत्त्व के अन्तराल के परिणाम प्राणी के सीधे उपयोग में नहीं आते, सम्भवतः इसी कारण आचार्यों ने उनके विवेचन की उपेक्षा की है। उसका महत्त्वपूर्ण उपयोग इतना ही है कि उसके द्वारा 'महत्तत्त्व' अपने स्तर पर प्रकाश में आ जाता है। यदि प्रधान और महत्तत्त्व के अन्तराल की

---

१. पञ्चशिख नामकरण के आधार के लिए द्रष्टव्य है—म० भा०, शान्ति०, अध्याय २२०, गोरखपुर संस्करण।

२. केचिदाहुः—'प्रधानादनिर्देश्यस्वरूपं तत्त्वान्तरमुत्पद्यते ततो महान्' इति। किन्हीं आचार्यों ने बताया—प्रधान से अनिर्देश्य स्वरूप अनेक तत्त्वान्तर-परिणाम होने के अनन्तर 'महत्' उत्पन्न होता है। विभिन्न आचार्यों ने प्रधान—महत् के अन्तराल की उस स्थिति को प्रतिभा, विद्युत्, आपस्, मनस् आदि अनेक पदों से निर्दिष्ट किया है।

परिणाम-परम्परा की उपेक्षा की जाय, तो उसके अभाव में महत्तत्त्व का उभरना सम्भव न होगा। इस प्रकार प्रधान से महत् की उत्पत्ति में किसी आचार्य का वैमत्य नहीं है।

महत्तत्त्व से आगे की उत्पत्ति में मतभेद है। पतञ्जलि, पञ्चाधिकरण और वार्षगण्य महत् से अहंकार की उत्पत्ति नहीं मानते। उन्होंने तत्त्वों के सर्गक्रम से अहंकार को निकाल बाहर कर दिया है। सांख्य में 'महत्' से उत्पन्न अहंकार से जिन तत्त्वों—मन, इन्द्रिय, तन्मात्र—की उत्पत्ति बताई है, उक्त आचार्य उनकी उत्पत्ति सीधे महत्तत्त्व से मान लेते हैं; बीच में अन्तर्गडु अहंकार को अनावश्यक बताते हैं। इसके विपरीत अन्य प्राचीन व अनन्तरवर्ती सांख्याचार्यों ने 'अहंकार' को सर्गक्रम का अंगभूत आवश्यक तत्त्व माना है, इसका विस्तृत विवरण पतञ्जलि-प्रसंग में प्रस्तुत कर दिया गया है।

२—भौतिकानीन्द्रियाणीति पञ्चाधिकरणमतम्।

(यु० दी०, पृष्ठ १०८; पं० ७-८)

गत सन्दर्भ में कहा गया—पतञ्जलि, पञ्चाधिकरण और वार्षगण्य महत् से अहंकार की उत्पत्ति न मानकर, महत् से सीधे मन, इन्द्रिय और तन्मात्र की उत्पत्ति मानते हैं। परन्तु इस मान्यता में अपने अन्य साथियों से पञ्चाधिकरण का आंशिक मतभेद है। वह महत् से केवल मन और तन्मात्र की उत्पत्ति होना बताता है। आगे तन्मात्र से भूतों की उत्पत्ति होती है, यह तो तीनों आचार्यों का समान मत है; परन्तु पञ्चाधिकरण ने महत् से इन्द्रियों की उत्पत्ति न मानकर तन्मात्र से इन्द्रियों की उत्पत्ति बताई है। प्रश्न होता है, तब इन्द्रियों को 'तान्मात्रिक' न कहकर 'भौतिक' क्यों कहा गया? समाधान है—भूतों के उत्पादक होने के कारण 'तन्मात्र' को 'भूत' नाम भी दिया गया है।[1] तन्मात्र के परिणामस्वरूप जैसे 'भूत' प्रकाश में आते हैं, वैसे इन्द्रियाँ भी। भूतों की अनैन्द्रियक और ऐन्द्रिक रूप से दो अवस्था हैं—पहली सूक्ष्मभूत, दूसरी स्थूलभूत। इन अवस्थाओं के मूलभूत रूप में कोई अन्तर नहीं है। जो शब्द, स्पर्श, रूप आदि विशेषता सूक्ष्म में उभरती हैं, वे ही पूर्ण रूप से स्थूल में रहती हैं। इनका सूक्ष्म-स्थूल-भेद केवल इन्द्रिय द्वारा यथाक्रम अग्राह्य व ग्राह्य रूप से व्यावहारिकमात्र है।

इसकी स्पष्टता के लिए यह समझ रखना चाहिए कि तन्मात्र तत्त्व में शब्द, स्पर्श आदि विशेषों के अव्यक्त रहने के कारण उनकी 'अविशेष' संज्ञा है। तन्मात्र से परिणत भूत (सूक्ष्मभूत) तत्त्व में यह विशेषता उभर आती है, इसी कारण इनकी संज्ञा सांख्य-योग में 'विशेष' है। जैसे तन्मात्र से परिणत भूततत्त्व में शब्द,

---

१. द्रष्टव्य—सांख्यकारिका की २२वीं आर्या पर युक्तिदीपिका व्याख्या; पृष्ठ १०९; पंक्ति ६-७। कलकत्ता-संस्करण।

स्पर्श आदि विशेष उभर आते हैं, ऐसे ही तन्मात्र से परिणत इन्द्रियों की रचना में उस-उस इन्द्रिय में एक-एक विशेष को ग्रहण करने की क्षमता उभर आती है।

महत् या अहंकार से इन्द्रियों का परिणाम न मानकर तन्मात्र से परिणाम मानने पर यह आवश्यक है कि भूतों के परिणाम से पहले इन्द्रियों का परिणाम हो जाय। इन्द्रियाँ ज्ञान-साधन हैं, भूत ज्ञान-साध्य अथवा ज्ञान का विषय। साध्य की अपेक्षा साधन का पहले होना न्याय्य है। ऐसा मानने पर सांख्य के 'सप्त-प्रकृति-विकृति' सिद्धान्त का निर्वाह यथायथ हो जाता है। यदि भूतों की उत्पत्ति के अनन्तर भूतों से इन्द्रियों की उत्पत्ति मानी जाती है, तो सांख्य का उक्त सिद्धान्त ध्वस्त हो जाता है। पञ्चाधिकरण के 'भौतिकानीन्द्रियाणि' का तात्पर्य इसी विवरण के अनुसार समझना चाहिए।

३—तथा करणं निर्लिखितस्वरूपं शून्यग्रामनदीकल्पम्। प्राकृतवैकृतिकानि तु ज्ञानानि प्रेरकांगसंगृहीतानि प्रधानादागच्छन्ति च, इति पञ्चाधिकरणः।

(यु० दी०, पृ० १०८; पं० १३-१५)

इस प्रकार करण कोरे कागज हैं, शून्य ग्राम और शून्य नदी के समान। बुद्धि आदि करण ऐसे स्वाभाविक अद्भुत प्लेट हैं, जिनपर बाह्य विषय अंकित होकर आत्मा तक पहुँचता है, विषय के वहाँ पहुँचते ही यह प्लेट (करण) स्वतः साफ हो जाती है, नये विषय-अंकन के लिए। इस अर्थ को स्पष्ट करने के निमित्त सन्दर्भ में दो उदाहरण दिये हैं—शून्य ग्राम, शून्य नदी। ग्राम बसा हुआ है, किसी कारणवश सब निवासी उसे छोड़ गये, गाँव उजड़ गया। अब वह किसी भी अन्य निवासी के लिए खाली है। शून्य नदी बड़ा आकर्षक उदाहरण है। पर्वतीय प्रदेश के समीपवर्ती मैदानी इलाकों में बरसाती नदी के प्रदेशों को जिन्होंने देखा है, वे इस उदाहरण की उपयुक्तता को हृदयंगम कर सकेंगे। वर्षा ऋतु में ये नदियाँ उफनकर तीव्रगति से प्रवाहित होती हैं, वर्षा-समाप्ति पर पानी का प्रवाह सूख जाता है, खाली स्वच्छ सुन्दर रुहाड़ा (पुलिन-प्रदेश) दूर तक प्रवाहानुसारी दिखाई देता है, पुनः वैसा ही प्रवाह आने के लिए अवसर देने को तैयार। ऐसे प्रदेश का प्राकृतिक सौन्दर्य बड़ा आकर्षक होता है। ये उदाहरण करणों के उस नैसर्गिक स्वरूप को स्पष्ट करते हैं, जिनपर बाह्य विषय का अंकन आत्मा तक पहुँचते ही स्वतः साफ हो जाता है, अगले अन्य अंकन के लिये पूर्णरूप से तैयार।

सन्दर्भ का अगला भाग ज्ञान होने की प्रक्रिया की ओर संकेत करता है। करण (बुद्धि आदि) के आठ भाव शास्त्र में बताए गये हैं, उनका विवरण गत पृष्ठों में यहाँ भी किया गया है। ये भाव हैं—ज्ञान, धर्म, वैराग्य, ऐश्वर्य, अज्ञान, अधर्म, अवैराग्य, अनैश्वर्य। ये भाव बाह्य विषयों के अनुरूप करणों के वृत्तिरूप में उभरकर, वृत्तिरूप बाह्य विषय आत्मा तक पहुँचकर, इसका वृत्तिरूप समाप्त

हो जाता है; करण फिर निर्लिखित स्वरूप—कोरे कागज या स्वच्छ प्लेट के समान अन्य विषय के अंकन या प्रतिबिम्बन के लिए पुनः तैयार हो जाते हैं। इनके उस वृत्ति या व्यापार द्वारा आत्मा को बाह्य विषय का ज्ञान हो जाता है। आत्मा को बाह्य विषय का ज्ञान होने की जो प्रक्रिया है, वही धर्म, वैराग्य आदि के उभार में समझनी चाहिए।

प्राचीन सांख्याचार्यों ने इन भावों को इनके उभार की परिस्थिति के अनुसार तीन वर्गों में बाँटा है—सांसिद्धिक, प्राकृतिक, वैकृतिक। इनका विवरण गत पृष्ठों में आ गया है। परन्तु पञ्चाधिकरण इनका वर्गीकरण अन्य प्रकार से करता है। वह सांसिद्धिक वर्ग को पृथक् न मानकर प्रथम इन सब भावों को दो वर्गों में बाँटता है—प्राकृतिक, वैकृतिक। प्राकृतिक के पुनः तीन भेद करता है—तत्त्वसमकालिक, सांसिद्धिक, आभिष्यन्दिक। पहला है—जब महत्तत्त्व संहत होकर प्रकाश में आता है तथा महत् में ज्ञान आदि भावों के उभार का सामर्थ्य प्रकट हो जाता है। दूसरा है—महत् में सत्त्वोद्रेक से जो परमर्षि को ज्ञान आदि होता है। तीसरा है—कार्य (देह)-करण (बुद्धि आदि) की रचना के अनन्तर अन्य प्रेरक सहयोगियों के द्वारा जो ज्ञान आदि प्राप्त होता है। तात्पर्य है, बाह्य स्रोतों के सहारे प्राप्त होनेवाले ज्ञान, धर्म आदि आभिष्यन्दिक वर्ग में आते है। बाह्य स्रोत हैं—ब्रह्मचर्य, शास्त्रविहित कर्मानुष्ठान, गुरूपदेश, अहिंसा आदि व्रतों का पालन, योगांगों का अनुष्ठान आदि। प्राचीन आचार्यों के अभिमत स्वतन्त्र सांसिद्धिक वर्ग को आचार्य विन्ध्यवासी[1] भी स्वीकार नहीं करता।

वैकृतिक वर्ग के दो भेद पञ्चाधिकरण करता है—स्ववैकृत, परवैकृत। पहले भेद में पूर्ण सिद्धि की अवस्था 'तारक'[2] का समावेश है, दूसरे वर्ग में अन्य सिद्धियों का समावेश। इस प्रकार भावों का वर्गीकरण कर आचार्य पञ्चाधिकरण ने इस सन्दर्भ से उस प्रक्रिया का निर्देश किया है, जिसके द्वारा ये भाव आत्मा तक पहुँचते हैं। पहुँचने का तात्पर्य है, आत्मा में इनका उद्भव होना। ज्ञान, धर्म, वैराग्य आदि भावों का करणों द्वारा आत्मा में उद्भव किस प्रकार होता है, उसी प्रक्रिया का निर्देश प्रस्तुत सन्दर्भ में किया गया है। सन्दर्भ के अन्तिम पदों में बताया गया है कि करणों में यह सामर्थ्य कहाँ से प्राप्त होता है? वहाँ कहा—करणों का यह सामर्थ्य, उनकी अपनी सब विशेषताएँ प्रधान से प्राप्त हैं। इसका उपयुक्त विवेचन वार्षगण्य-प्रसंग में संख्या १२ के अन्तर्गत कर दिया गया है।

---

१. द्रष्टव्य—युक्तिदीपिका, पृष्ठ १४८, पं० १०-११; कलकत्ता संस्करण तथा प्रस्तुत ग्रन्थ का विन्ध्यवासी-प्रसंग, सन्दर्भ-संख्या ६।

२. द्रष्टव्य—पातञ्जल योगसूत्र, ३।५४।

Scanned with CamScanner

४—करणानां···स्वभावातिवृत्तिः ··सर्वा परत इति पञ्चाधिकरणः; बुद्धिः क्षणिकेति च।

(यु० दी०, पृ० १०८; पं० १५,१७)

आचार्य पञ्चाधिकरण की मान्यता है—करणों की स्वभावतः अपने विषयों में प्रवृत्ति पूर्णरूप में अन्य से प्राप्त है। गत सन्दर्भ में स्पष्ट कहा है—'प्रधानात् आगच्छन्ति'। ज्ञान, धर्म आदि भावों की वृत्तियों का करणों में उभार प्रधान—मूल उपादानतत्त्वों से परिणाम-प्रक्रिया द्वारा यहाँ पहुँचता है। वहाँ अव्यक्त अवस्था में रहता है, यहाँ व्यक्त होता है; यह परिणाम का चमत्कार है। पतञ्जलि पूर्ण रूप से करणों की अपनी विशिष्ट रचना को ही स्व-विषयों में प्रवृत्ति का श्रेय देता है। इसके विपरीत पञ्चाधिकरण इसका पूरा श्रेय प्रधान को देता है। परन्तु आचार्य वार्षगण्य ने कहा है—करणों की इस प्रवृत्ति का मुख्य श्रेय यद्यपि मूल उपादानतत्त्व प्रधान को है, पर करणों की अपनी विशिष्ट रचना को भी सर्वथा उपेक्षित नहीं किया जाना चाहिए। इस दिशा में इतना श्रेय करणों का अपना है, उनके इस स्वरूप की अभिव्यक्ति उनके अपने इसी स्तर पर होती है। अतः उनकी इस प्रवृत्ति में उनके स्वरूप व स्वातन्त्र्य को आंशिक श्रेय अवश्य मिलना चाहिए।

ये ज्ञान, धर्म, वैराग्य आदि भाव एक बार उभरकर स्थायी रूप से बने रहें, ऐसा नहीं है। सांख्याचार्यों ने ऐसा माना है कि सूक्ष्म शरीर आदि की रचना एक बार सर्गादिकाल में होकर समस्त सर्गकाल में उन्हें स्थायित्व प्राप्त रहता है। उस सूक्ष्मशरीर में करणों का अस्तित्व है। तात्पर्य है, करणों के स्थायी माने जाने पर भी उनमें उभरनेवाले भाव स्थायी न होकर क्षणिक होते हैं। क्षणिक का तात्पर्य एकक्षण स्थायी होना नहीं है, प्रत्युत उसकी नश्वरता का द्योतक है। ज्ञान, धर्म, वैराग्य आदि के जो भाव उभरते हैं, वे आत्मा की अनुभूति में आकर अपने उस रूप को छोड़ देते हैं तथा संस्कार व वासनारूप में परिणत हो जाते हैं। संस्कार व वासना भी कालान्तर में फलोपभोग व आत्मसाक्षात्कार होने पर नष्ट हो जाते हैं। अनेक संस्कार जो फलदायी नहीं होते, उन्हें काल स्वयं ग्रस लेता है। अथवा यह कहिए—उन्हें उपयुक्त ईंधन न मिलने से वे स्वयं बुझ जाते हैं। इसका लेखा-जोखा पूर्णरूप से उस सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् प्रभु के हाथ रहता है। प्रबुद्ध मानव इस दिशा में कल्पना पर ही सन्तोष कर सकता है। यहाँ केवल इतना प्रतिपाद्य है कि करणों के स्थायी होने पर भी उनमें उभरनेवाले ये भाव स्थायी नहीं होते।

५—अनयोश्चाभिधानाद् यः पञ्चाधिकरणपक्षः—'प्राकृत-वैकृतानां ज्ञानानां प्रधानवत् शुष्कनदीस्थानीयान्तःकरणे बाह्ये च प्रेरक-[1] ज्ञानांशककृत उपनिपातः, तथा च सात्त्विकस्थित्यात्मककृतमप्रत्ययस्या-वस्थानम्' इति, तत् प्रतिक्षिप्तं भवति । (यु० दी०, पृ० ११४; पं० १-३)

यह सन्दर्भ सांख्यकारिका की २३वीं आर्या पर युक्तिदीपिका व्याख्या में उद्धृत है। आर्या के दूसरे-तीसरे चरण में बताया—धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य भावों का उदय बुद्धि आदि करणों में उस समय होता है, जब उनमें सत्त्व गुण का उद्रेक हो। इसके विपरीत अधर्म, अज्ञान, वैराग्य, अनैश्वर्य भावों का उभार उस समय होता है, जब बुद्धि आदि में तमोगुण का उद्रेक हो। यह कथन आर्या के चतुर्थ चरण में है। इसी प्रसंग में चतुर्थ चरण की उक्ति को सप्रयोजन बताने की भावना से व्याख्याकार पञ्चाधिककरण के एतद्विषयक पक्ष का उल्लेख कर उसके प्रत्याख्यान का निर्देश करता है। 'अनयोश्चाभिधानाद् यः पञ्चाधिकरणपक्षः' इस आदि-वाक्य, और 'इति, तत्प्रतिक्षिप्तं भवति' इस अन्तिम वाक्य के मध्य में पञ्चाधि-करण का पक्ष निर्दिष्ट है। इस प्रसंग में सन्दर्भ का अर्थ है—

और सात्त्विक, तामस इन दोनों भावों के कथन से—जो पञ्चाधिकरण का पक्ष है··· वह—प्रतिक्षिप्त=प्रत्याख्यात हो जाता है। सन्दर्भ के पहले वाक्य का अन्तिम वाक्य के साथ सम्बन्ध है। पञ्चाधिकरण का पक्ष है—

जैसे मूल उपादान तत्त्व प्रधान का उपनिपात (=प्राप्ति) समस्त कार्यजगत् पर रहता है, ऐसे ही प्राकृतिक, वैकृतिक ज्ञान, धर्म आदि का उपनिपात —सूखी नदी के समान अन्तःकरण और बाह्यकरण में—ज्ञान, धर्म आदि भावों को उभारनेवाले प्रेरक निमित्तों के द्वारा हुआ करता है, और इसी प्रकार करणों की सात्त्विक (सत्त्वगुणप्रधान) स्थिति के द्वारा अज्ञान, अधर्म आदि भावों का उभार प्रकाश में आता है।

अज्ञान, अधर्म आदि भाव करणों की तमोगुणप्रधान स्थिति में उभरते हैं; तेईसवीं आर्या के चतुर्थ चरण द्वारा निर्दिष्ट इस कथन से पञ्चाधिकरण के इस विचार का खण्डन हो जाता है कि अज्ञान, अधर्म आदि का उभार करणों की सत्त्व-प्रधान स्थिति में होता है।

इस सन्दर्भ में पञ्चाधिकरण का वही मन्तव्य प्रस्तुत किया गया है, जो सन्दर्भ संख्या तीन में है। बाह्य विषयों को भाव के रूप में अंकित व प्रतिबिम्बित करने के लिये करण सदा ऐसे तैयार रहते हैं, जैसे शुष्क नदी पुनः जलप्रवाह के लिये तैयार रहती है। इसी आधार पर सन्दर्भ में करणों को शुष्कनदीस्थानीय कहा है।

---

१. 'प्रेरकज्ञानांशककृत' के स्थान पर संख्या तीन-सन्दर्भ में 'प्रेरकाङ्गसंगृहीत' पाठ है। अर्थ में कोई भेद नहीं।

सन्दर्भ के अन्तिम भाग में 'अप्रत्ययस्य' का अर्थ 'अज्ञान' है; यह अन्य भावों—अधर्म, अवैराग्य, अनैश्वर्य—का उपललक्षण है। एक भाव के कथन से उनका भी यहाँ ग्रहण समझ लेना चाहिये।

६—करणं ...... दशविधमिति तान्त्रिकाः पञ्चाधिकरणप्रभृतयः।

(यु० दी०, पृ० १३२; पं० २८-२९)

सांख्यकारिका की बत्तीसवीं आर्या पर अवतरणिका करते हुए युक्तिदीपिकाकार ने पञ्चाधिकरण के एक मत का उल्लेख किया है—करण दस प्रकार के हैं, यह तान्त्रिक पञ्चाधिकरण आदि आचार्य मानते हैं।

पञ्चाधिकरण की इस मान्यता का उसके अन्य सन्दर्भों द्वारा प्रतिपादित अर्थ के साथ कुछ विरोध प्रतीत होता है।

करणों की संख्या दस मानने का तात्पर्य है—केवल बाह्य करणों को स्वीकार करना। दस संख्या में पूरे बाह्य करण आते हैं, जिसका तात्पर्य है—अन्तःकरणों की अमान्यता। यह दस संख्या में किसी एक या दो अन्तःकरण का समावेश अभिमत है, तो यह जानना अत्यन्त कठिन है कि बाह्य करणों में से किसको हटाकर, उस संख्या को अन्तःकरण से पूरा किया जाय? इस विषय में कोई संकेत पञ्चाधिकरण का उपलब्ध नहीं है। इसके विपरीत संख्या पाँच सन्दर्भ में स्पष्ट, तथा संख्या एक व आठ में अस्पष्ट रूप से अन्तःकरण के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है। तब करणों की दस संख्या कहना संदिग्ध हो जाता है।

हमारा विचार है, सन्दर्भ में 'दशविध०' से पहले कुछ अक्षर खण्डित हो गये प्रतीत होते हैं। पञ्चाधिकरण के सन्दर्भों में ऐसा कोई संकेत उपलब्ध नहीं होता, जिससे यह जाना जाय कि वह तीन अन्तःकरणों में से किसी एक या दो को स्वीकार नहीं करता; इसलिये सन्दर्भ में 'दशविध०' पद से पहले 'त्रयो' पदांश रहा हो, यह सम्भव है। ऐसा मानने पर उसके सन्दर्भों में कोई असामञ्जस्य नहीं रहता तथा युक्तिदीपिका के उक्त प्रसंग में करणविषयक मान्यता की विप्रतिपत्ति का भी निर्वाह हो जाता है।

७—पञ्चाधिकरणस्य तावत्—

वैवर्तं शरीरं मातापितृसंसर्गकाले करणाविष्टं शुक्रशोणितमनुप्रविशति। तदनुप्रवेशाच्च कललादिभावेन विवर्धते। व्यूढावयवं तूपलब्धप्रत्ययं मातुरुदरान्निःसृत्य यौ धर्माधर्मौ षट्सिद्ध्युपभोगकाले कृतौ तद्वशादवतिष्ठते; यावत् तत्क्षयात् शरीरपातस्तावत्।

यदि धर्मसंस्कृतं करणं ततो द्युदेशं सूक्ष्मशरीरेण प्राप्यते; तद्विपर्ययात्तु यातनास्थानं तिर्यग्योनिं वा; मिश्रीभावेन मानुष्यम्। एवमातिवाहिकं सूक्ष्मशरीरमिन्द्रियाणां धारणप्रापणसमर्थं नित्यं बाह्येवापायिना परिवेष्टयते परित्यज्यते च। (यु० दी०, पृ० १४४; पं० १०-१६)

सांख्यकारिका की ४०वीं आर्या का अवतरण करते हुए सूक्ष्मशरीर के विषय में आचार्यों की विप्रतिपत्ति दिखाने के प्रसंग से युक्तिदीपिकाकार ने सर्व-प्रथम पञ्चाधिकरण के मत का यह उल्लेख किया है।

पहले पञ्चाधिकरण का विचार समझिये—

सूक्ष्मशरीर माता-पिता के संसर्गकाल में बुद्धि आदि करणों से आविष्ट (जिसमें करण अन्तर्निविष्ट हैं) हुआ, शुक्रशोणित के साथ गर्भाशय में प्रवेश करता है। उसके प्रवेश से शुक्रशोणित अन्य उपयोगी भौतिक निमित्तों के सहयोग से कलल, कण्डरा आदि अवस्थाओं के रूप में गर्भ बढ़ने लगता है। जब यह पूर्ण अंगों से युक्त हो जाता है, और ज्ञान आदि भाव उभरने लगते हैं, तब माता के उदर से निकल बाहर आ जाता है। यह 'प्रसव' कहा जाता है। अनन्तर समस्त जीवन में प्रारब्धकर्मानुसार षाट्कौशिक स्थूलशरीर द्वारा कर्मफलों का उपभोग करने के अवसर पर जो अपेक्षित धर्म-अधर्म किये जाते हैं, उनके अनुसार वह शरीर अवस्थित रहता है, जब तक प्रारब्धकर्मों का भोग करके क्षय न हो जाय। भोगे जाकर कर्मों का क्षय हो जाने पर वह स्थूलशरीर नष्ट हो जाता है। इसे मृत्यु कहा जाता है।

सन्दर्भ के इस अंश में दो बातें विशेष ध्यान देने की हैं। एक—सूक्ष्मशरीर का शुक्र-शोणित के साथ प्रवेश। इसका तात्पर्य है—शुक्र-शोणित में ही सूक्ष्मशरीर अन्तर्हित रहते हैं, कहीं बाहर से आकर शुक्र-शोणित के साथ जुड़ जाते हों, ऐसी बात नहीं है। छान्दोग्य, बृहदारण्यक उपनिषदों में 'पञ्चाग्निविद्या' के विवरण-प्रसंग से इसका उल्लेख हुआ है। उसका सारांश केवल इतना है—'पञ्चम्या-माहुतावाप: पुरुष वचसो भवन्ति'—वे 'आपस' पाँचवीं आहुति में पुरुषसंज्ञक हो जाते हैं। नर-मादा का संपर्क पाँचवीं आहुति है। यह क्रम प्राणिमात्र में अपनी योनियों के अनुसार निरन्तर चला करता है। समस्त प्राणियों के जीवन का आधार जीवनी-शक्ति-सम्पन्न ओषधि-वनस्पति आदि आहार है। इनके उपयोग से जीवनी शक्तियाँ शुक्र-शोणित-निर्माण के साथ—रसादि पाक के अनुरूप—उनमें पहुँचती हैं। शुक्र-शोणित में ये जीवनी शक्तियाँ दार्शनिक विवेचन के अनुसार 'सूक्ष्मशरीर' ही हैं। वस्तुत: सूक्ष्मशरीर चेतन आत्मा का आवेष्टन (खोल) है। शुक्र की एक बूंद में न मालूम ऐसी कितनी जीवनी शक्तियाँ (सूक्ष्म-शरीर) अन्तर्निविष्ट रहती हैं। यह प्राकृतिक नियम है कि शुक्र की बूँद के जिस शतांश का—सहस्रांश का, शोणित की डिम्ब-ग्रन्थियों में से सबसे प्रथम जिसके साथ सम्पर्क हो जाता है, वही जीवन आगे गर्भ के रूप में उभरता है। शुक्र में अन्तर्हित अन्य जीवनी शक्तियाँ अपनी दौड़ में पिछड़कर नष्ट हो जाती हैं। तात्पर्य है—शुक्र का शेष भाग गर्भ के लिये उपयोगी न रहकर बाहर निकल नष्ट हो जाता है। न मालूम किन अगणित स्तरों में लुढ़कता-पुढ़कता वह जीवनी शक्तियों का समुदाय फिर अपने उस स्तर को

प्राप्त कर पाता है, जब उसे पुनः पुरुषरूप में आने का अवसर प्राप्त हो।

आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान ने इस स्थिति को प्रकट किया है कि शुक्र के एक बिन्दु में अनेक जीवाणुओं की विद्यमानता है। अनेक व्यक्तियों के शुक्र में जीवाणु अत्यल्प रहते हैं; तथा कहीं उनका अभाव भी रहता है। यह आहार के रस-पाक आदि पर अधिक निर्भर है। अन्य कारण भी हो सकते हैं। प्राचीन भारतीय ऋषि-मुनियों, आचार्यों ने शुक्र की इस स्थिति को बड़े गम्भीर रूप में समझकर इसके महत्त्व को पहचाना था। इसी सन्दर्भ में ब्रह्मचर्य-व्रत के पालन को उन्होंने बड़ा ऊँचा स्थान दिया था। स्त्री-पुरुष-सम्पर्क केवल सन्तानोत्पत्ति के लिये श्रेयस्कर माना जाता था, वासना-तृप्ति के लिये नहीं।

दूसरी बात इस सन्दर्भ में ध्यान देने की है—गर्भ की परिपक्व अवस्था में गर्भ से बाहर आनेवाले प्राणी में प्रत्यय-ज्ञान का उभरना। इस विषय की स्पष्ट जानकारी के लिये पाठकों को 'गर्भोपनिषत्' का अध्ययन अधिक उपयोगी होगा। वहाँ के उल्लेख का सारांश केवल इतना है कि गर्भस्थ प्राणी उस दशा में गर्भस्थिति के कष्ट का अनुभव करता है, और प्रभु से प्रार्थना करता है कि अब मैं ऐसे कार्य न करूँगा, जिससे फिर गर्भ का कष्ट उठाना पड़े। फिर वहीं लिखा है, गर्भ से बाहर आकर प्राणी 'वैश्वानर' वायु का संस्पर्श होने पर वह सब भूल जाता है, और उसका वही पुराना घिसा-पिटा क्रम चालू रहता है। उपनिषत्कार ने गर्भस्थित प्राणी की उस अवस्था को कैसे जाना? यह वही जाने, या प्रभु। सम्भव है, इस ज्ञान का आधार योगसामर्थ्य हो।

सन्दर्भ के उत्तर-भाग में बताया, यदि करण धर्मानुष्ठान, सत्याचरण, शास्त्र-विहित कर्मों के पालन करने में साधन बनते हैं, तो आत्मा के आवेष्टन सूक्ष्मशरीर के द्वारा स्वर्ग (द्युस्थानम्) को पहुँचाये जाते हैं। इससे विपरीत अनुष्ठानों के—अर्थात् अधर्म के आचरण का साधन बनने पर नरक (यातनास्थानम्) को धकेले जाते हैं। अथवा, कर्मानुसार उनका जन्म पशु-पक्षियों की योनियों में होता है। यदि धर्म-अधर्म का आचरण मिला-जुला रहता है, तो साधारण मनुष्य-जन्म मिलता है। इस प्रकार करणों-सहित आत्मा का योन्यन्तरों में वहन करनेवाला सूक्ष्मशरीर इन्द्रियों के धारण करने एवं उपयुक्त स्थानों तक पहुँचाने में समर्थ रहता हुआ, सदा उत्पाद-विनाशशील बाह्य स्थूलशरीर से परिवेष्टित और परित्यक्त होता रहता है।

धर्म-अधर्म आदि का आचरण स्थूलशरीर के साथ ही सम्भव है। इनके फलों का भोग भी स्थूलशरीर के बिना नहीं होता। इस प्रकार कर्मानुष्ठान और फलोपभोग के अवसर पर सूक्ष्मशरीर स्थूलशरीर से परिवेष्टित रहता है। दोनों अवसरों पर आत्मा के भोग आदि के लिये साधनरूप में बुद्धि आदि करण सूक्ष्मशरीर में आत्मा के साथ आवेष्टित रहते हैं और सूक्ष्मशरीर स्थूलशरीर में। जब सूक्ष्म-

शरीर के बाह्य आवेष्टन स्थूलशरीर का परिवर्तन होता है, तब पहले स्थूलशरीर के न रहने पर, तथा अगले स्थूलशरीर के प्राप्त होने तक के अन्तराल-काल में सूक्ष्मशरीर स्थूलशरीर से परित्यक्त रहता है।

सूक्ष्मशरीर के विषय में पञ्चाधिकरण का यह सिद्धान्त अन्य कपिल आदि प्राचीन सांख्याचार्यों के सिद्धान्त से पूर्ण सन्तुलित है; जबकि आचार्य पतञ्जलि स्थूलशरीर के समान उसीके जन्म-मरण के साथ सूक्ष्मशरीर को भी उत्पाद-विनाशशील मानता है। आचार्य बिन्ध्यवासी सूक्ष्मशरीर के अस्तित्व को स्वीकार ही नहीं करता। सूक्ष्मशरीर-सम्बन्धी इसी प्रकार का विवेचन पतञ्जलि के छठे सन्दर्भ में हुआ है।

८—**पंचाधिकरणस्य तावत्**--

द्विविधं ज्ञानम्—प्राकृतिकं वैकृतिकं च। प्राकृतिकं त्रिविधम्—तत्त्वसमकालं सांसिद्धिकमाभिष्यन्दिकं च। तत्र तत्त्वसमकालम्—संहतश्च महाँस्तत्त्वात्मना महति प्रत्ययो भवति। उत्पन्नकार्यकरणस्य तु सांसिद्धिकमाभिष्यन्दिकं च भवति। सांसिद्धिकम्—यत् संहतव्यूहसमकालं निष्पद्यते; यथा परमर्षेर्ज्ञानम्। आभिष्यन्दिकं च—संसिद्धकार्यकरणस्य कारणान्तरेणोत्पद्यते।

सांख्यकारिका की तेंतालीसवीं आर्या में करणों के ज्ञान, धर्म आदि आठ भावों को सांख्याचार्यों ने तीन वर्गों में विभाजित किया है—सांसिद्धिक, प्राकृतिक, वैकृतिक। प्रस्तुत आर्या की अवतरणिका करते समय युक्तिदीपिकाकार ने इस विषय में विभिन्न आचार्यों की विप्रतिपत्ति प्रकट करते हुए सर्वप्रथम पंचाधिकरण आचार्य के विचार का उल्लेख किया—ज्ञान दो वर्गों में विभाजित है—प्राकृतिक, वैकृतिक। प्राकृतिक ज्ञान पुनः तीन वर्गों में विभाजित है—तत्त्वसमकाल, सांसिद्धिक, आभिष्यन्दिक। इन वर्गों में तत्त्वसमकाल ज्ञान वह है जब तत्त्वरूप से—प्रकृति का आद्य कार्य—महत् संहत हो जाता है, और उसमें ज्ञान—साधनता की क्षमता उभर आती है। सांसिद्धिक और आभिष्यन्दिक वर्गों में ज्ञान, धर्म आदि भाव उस समय आते हैं जब कार्य (देह) और करण (बुद्धि, इन्द्रिय) पूर्ण रूप में उभरकर अपने निर्धारित रूप को धारण कर लेते हैं। इनमें सांसिद्धिक वर्ग में ज्ञान, धर्म आदि भाव वे आते हैं, जो संघातरूप में व्यवस्थित रचना होने के साथ द्रुत निष्पन्न होते हैं, जैसे परमर्षि का ज्ञान। परमर्षि कपिल को ज्ञान, धर्म आदि भावों के उभार के लिए कोई अतिरिक्त प्रयास नहीं करना होता; देह-इन्द्रिय आदि से सम्बद्ध होने पर अनायास भावों का उद्‌भव हो जाता है। परमर्षि आत्मा से सम्बद्ध बुद्धि आदि करण अत्यन्त पटु होते हैं। इसी प्रकार आभिष्यन्दिक वर्ग में वे ज्ञान, धर्म आदि भाव आते हैं, जो कार्य (देह) और करणों (बुद्धि, इंद्रियों) के संसिद्ध हो जाने पर अर्थात् अपने व्यवहार में पूर्णरूप से प्रवृत्त हो जाने पर अन्य कारणों के सहयोग से उत्पन्न हुआ करते हैं। वे अन्य कारण हैं—ब्रह्मचर्य, विविध प्रकार की तपस्या, शास्त्रविहित

कर्मानुष्ठान, यम-नियम आदि का पालन, अन्य व्रत-नियमों का आचरण, योगाभ्यास आदि।

इस सन्दर्भ में तीन बातें विशेष ध्यान देने योग्य हैं—पहली है—'महत्' का तत्त्वरूप से संहत होना। अपनी साम्य अवस्था से—सर्गादि काल में जब—प्रकृति वैषम्य की ओर प्रवृत्त होती है, तब परिणाम-परम्परा के अनेकानेक स्तरों को—लाँघकर अथवा—पार करते हुए कारण-तत्त्व दीर्घकाल के अनन्तर 'महत्तत्त्व' के रूप में संहत हो पाते हैं। इतने परिणामों के अनंतर होने पर भी महत्तत्त्व को प्रकृति का आद्यकार्य सम्भवतः इसी कारण कहा जाता है कि यह पुरुष (चेतन आत्मतत्त्व) के भोग-अपवर्ग की सिद्धि के लिए सीधा (किसी अन्य के द्वारा नहीं) उपयोग में आता है। प्रकृति और इसके अन्तरालवर्ती परिणामों की स्थिति ऐसी नहीं होती। यह भावना संदर्भ के उक्त वाक्य (=संहतश्च महाँस्तत्त्वात्मना आदि) से ध्वनित होती है।

दूसरी बात संदर्भ में ध्यान देने की यह है—तेंतालीसवीं आर्या के अनुसार प्राचीन सांख्याचार्यों ने भावों के सांसिद्धिक वर्ग को एक स्वतन्त्र रूप में भिन्न माना है। परन्तु पंचाधिकरण इसे स्वतन्त्र भिन्न वर्ग न मानकर प्राकृतिक वर्ग के अंतर्गत अभिन्न मानकर इसका उल्लेख करता है।

तीसरी बात है—इस विषय में पंचाधिकरण और विन्ध्यवासी के ऐकमत्य की। विन्ध्यवासी भी सांसिद्धिक को स्वतन्त्र अतिरिक्त वर्ग स्वीकार नहीं करता। इसी प्रसंग में युक्तिदीपिकाकार ने विन्ध्यवासी के विचार प्रकट करने के लिए लम्बा सन्दर्भ लिखा है। इसी ग्रंथ के आगे के पृष्ठों में विन्ध्यवासी के उद्धृत सन्दर्भों के मध्य नौवाँ सन्दर्भ द्रष्टव्य है।

इसी प्रसंग को चालू रखते हुए युक्तिदीपिकाकार मूल सन्दर्भ को आगे बढ़ाता एवं वैकृतिक वर्ग का विवरण देता हुआ लिखता है—

वैकृतं तु द्विविधम्—स्ववैकृतं परवैकृतञ्च। स्ववैकृतं तारकम्, परवैकृतं सिद्ध्यन्तराणि। आह च—तत्त्वसमं वैवर्त्तं तत्राभिष्यन्दिकं द्वितीयं स्यात्। वैकृतमतस्तृतीयं षाट्कौशिकमेतदाख्यातम्॥ अत्र तु तत्त्वैः सहोत्पत्त्यविशेषात् सांसिद्धिकमभेदेनाह। वैकृतमपि च द्विविधं स्ववैकृतं तत्र तारकं भवति। स्यात् सप्तविधं परवैकृतं सत्त्वारामादि निर्दिष्टम्॥

इति। यथा ज्ञानमेवं धर्मादयोऽपि इति।

(यु० दी०, पृ० १४७-४८; पं० २२-२४।१-१०)

ज्ञान, धर्म आदि भावों का वैकृतिक वर्ग तो दो प्रकार का है—स्ववैकृत और परवैकृत। स्ववैकृत प्रकार 'तारक' नामक विशेष सिद्धि है। इसके लिए देखें—पातंजल योगदर्शन (३।५४) सूत्र का भाष्य। परवैकृत प्रकार में अन्य सिद्धियाँ आती हैं। इस विषय में आचार्य पंचाधिकरण ने कहा—

ज्ञान, धर्म आदि भावों के वर्गीकरण-प्रसंग में सूक्ष्मशरीर[1] तत्त्वसमकाल-वर्ग में आता है; दूसरा वर्ग आभिष्यन्दिक है। इसके अनन्तर तीसरा वैकृतिक वर्ग है जो 'षाट्कौशिक' कहा जाता है। वह चाहे स्ववैकृत हो अथवा परवैकृत, वह विभिन्न कारणान्तरों के सहयोग से इस स्थिति में आता है कि ज्ञान, धर्म आदि भावों के उद्भव में समर्थ हो सके।

यहाँ आर्या में प्राकृतिक वर्ग के विभाजन में 'सांसिद्धिक' विभाग का उल्लेख नहीं हुआ। वस्तुतः यह वर्ग अति विरल है; केवल परमर्षि कपिल के ज्ञान, धर्म आदि भावों के उद्भव को इसके उदाहरण के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। उसी स्तर के अन्य लोककर्त्ता पुरुषों के विषय में इसका उपयोग किया जा सकता है। इसीलिए यहाँ आर्या में 'तत्त्वसमकाल' विभाग के साथ समानता होने के कारण उसी नाम से 'सांसिद्धिक' विभाग का कथन कर दिया गया है। इसकी 'तत्त्वसम-काल' विभाग के साथ समानता यही है कि यह अन्य कारणों के सहयोग के विना ही तत्त्वों की उत्पत्ति के साथ अनायास उद्भव में आ जाता है।

दूसरी आर्या में बताया—

वैकृतिक वर्ग दो भागों में विभक्त है—स्ववैकृत, परवैकृत। इसमें स्ववैकृत 'तारक' है और सात प्रकार का परवैकृत' 'सत्त्वाराम' आदि के रूप में निर्दिष्ट किया गया है। भावों का वर्गीकरण जैसा 'ज्ञान' को लक्ष्य कर किया गया, वह धर्म-वैराग्य आदि भावों के विषय में भी उसी प्रकार समझना चाहिए।

६—केचित्तु मन्यन्ते—

अतीताऽध्ववर्तिनोऽपि पुनः कालान्तरे जगत्परावर्त्तेषूद्भवन्ति। 'कृतपरि-निष्ठिता हि भावाः प्रधानप्रसेवकान्तर्गता यथाकालमुद्दर्शयन्त्यात्मानम्, पुनः प्रलये तत्रैव तिरोभवन्ति' इति पंचाधिकरणदर्शनस्थानां सांख्याना (मय ?) मभ्युपगमः।[2]

---

१. आर्या में 'वैवर्त्त' पद सूक्ष्मशरीर के लिए प्रयुक्त है। देखें—पंचाधिकरण का सातवाँ सन्दर्भ। यह ज्ञान, धर्म आदि भावों के साधनभूत बुद्धि आदि करणों का समुदाय है। यह जब पूर्णतया स्व-रूप में अवस्थित हो जाता है, तभी ज्ञान-धर्म आदि भावों का उद्भव संभव है। यहाँ 'तत्त्वसमकाल' और 'आभिष्यंदिक' दो भाग 'प्राकृतिक' वर्ग के बताये। यहाँ 'सांसिद्धिक' भाग का उल्लेख नहीं किया। इसी का स्पष्टीकरण आर्या के अनन्तर लिखित युक्तिदीपिकाकार की 'अत्र तु तत्त्वैः' इत्यादि पंक्ति से हो जाता है।

इस प्रसंग में सन्दर्भ के पते पर जो पृष्ठ व पंक्ति अंकित किए गये हैं, वे युक्तिदीपिका के कलकत्ता-संस्करण के अनुसार हैं।

२. वाक्यपदीय, ३ काण्ड, कालसमुद्देश, श्लोक ५३ पर भूतिराजतनय-हेलाराज-कृत व्याख्या में ! अनन्तशयन संस्कृत ग्रंथावलिः, पृष्ठ ६८।

कोई आचार्य तो मानते हैं—अतीत मार्ग पर गये हुए भी भाव कालान्तर में प्रलय के अनन्तर सर्ग का प्रारम्भ होने के अवसर पर पुनः उद्भूत हो जाते हैं। पंचाधिकरण-दर्शन में आस्था रखनेवाले सांख्याचार्यों का यह स्वीकृत मत है, क्योंकि अपनी निश्चित अवस्था में किये गए भाव प्रधान के अन्तर्गत, थैले या पेटिका में सुरक्षित रहते हुए प्रधान द्वारा जगत् के परिणत होने के अवसर पर अनुकूल समय आने पर अपने-आपको प्रकट कर देते हैं, तथा पुनः प्रलय आने की अवस्था में वहीं तिरोहित हो जाते हैं।

इस सन्दर्भ का तात्पर्य गम्भीरतापूर्वक विचारणीय है। मध्यकालिक सांख्याचार्य यह विचार प्रकट करते रहे हैं कि ज्ञान, धर्म, वैराग्य आदि भाव करणों के धर्म हैं, अर्थात् बुद्धि आदि करण ही ज्ञान, धर्म आदि भावों के आश्रय हैं। ऐसी मान्यता के अनुसार ज्ञान, धर्म आदि से जनित संस्कार व वासना आदि के आश्रय भी बुद्धि आदि करणों को ही मानना होगा। इस प्रकार वास्तविक रूप में चेतन आत्मतत्त्व (पुरुष) इन भावों से नितान्त असंपृक्त रहता है। वह अविवेक के कारण ऐसा समझता है कि ये ज्ञान, धर्म आदि भाव मुझमें हो रहे हैं, अथवा मैं इनका कर्ता हूँ, जबकि इनके कर्ता बुद्धि आदि करण रहते हैं। उन आचार्यों का कहना है कि यदि ऐसा न माना जाय, तो पुरुष (चेतन आत्मतत्त्व) का असंग होना अथवा नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त माना जाना दूषित हो जायगा; भावों के अनेक रूप सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि से संपृक्त होकर पुरुष विकारी हो जायगा; क्योंकि ये भाव विकाररूप हैं; अपने प्रभाव से अपने आश्रय को भी ऐसा बना देंगे। अतः यह मानना चाहिए कि ये भाव प्रकृतिजन्य बुद्धि आदि करणों में उत्पन्न होने व रहने से प्रकृति के धर्म हैं। अपनी अतीत अवस्था में भी ये प्रकृति में रहते हैं। इनकी अतीत अवस्था इनसे जन्य संस्कार व वासना आदि की स्थिति कही जा सकती है। ज्ञान, धर्म आदि भाव द्रुतनश्वर हैं; ये संस्कार वासना आदि को उत्पन्न कर स्वतः अतीत स्थिति में चले जाते हैं। इनका अध्वा यही है। इसके अनुसार सन्दर्भ का भाव है—चालू सर्ग के समाप्त होने पर प्रलयकाल प्रारम्भ होता है। प्रश्न उठता है—बुद्धि आदि करण तो अपने कारणों में लीन हो गए, उनका कार्यरूप अब अव्यक्त है; तब ये भाव जो संस्कार-वासना आदि के रूप में अभी तक बुद्धि आदि करणों में आश्रित थे, अब प्रलयकाल में कहाँ रहेंगे, जबकि इनके आश्रय बुद्धि आदि करण अपने अस्तित्व में नहीं रहे हैं?

इस प्रश्न का उत्तर सन्दर्भ यह देता है कि संस्कार आदि के रूप में वे भाव प्रकृति में रहेंगे। जैसे बुद्धि आदि अपने कारणों में अव्यक्त अवस्था में हैं, ऐसे ही वासना-संस्कार आदि का अस्तित्व अव्यक्त अवस्था में बने रहना कोई आपत्तिजनक नहीं समझा जाना चाहिए। जब प्रलयकाल समाप्त होकर पुनः सर्ग प्रारम्भ होता है, तब संस्काररूप में अवस्थित वे भाव अभिव्यक्त हो जाते हैं। यही तात्पर्य

इस सन्दर्भ का प्रतीत होता है।

विचारना चाहिए, यह मान्यता मूलभूत सांख्य-सिद्धान्तों के साथ अपना सामंजस्य कहाँ तक रखती है। सांख्य का यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि प्रकृति के समस्त परिणाम व नर्त्तन पुरुष (चेतन आत्मतत्त्व) के भोग व अपवर्ग को सिद्ध करने के लिए हैं। विचारणीय है, भोग आदि की सिद्धि के लिए प्रकृति साधनरूप में प्रस्तुत होती है, अथवा भोगादि अनुदान प्रदान करने के रूप में कर्तृभाव से? यह दूसरा विकल्प, कि भोग आदि का अनुदान प्रदान करने के लिए प्रकृति स्वतः प्रवृत्त होती है, सर्वथा असम्भव है। ऐसी मान्यता वास्तविकता से नितान्त दूर तथा सर्वथा निराधार है। क्योंकि प्रकृति स्वरूप में जड़ है। कोई भी इच्छा, कामना या भावना चेतन में अभिव्यक्त हो सकती है, जड़ में नहीं। इस तथ्य को—प्रकृति द्वारा अनुदान देना माननेवाले—आचार्य भी—स्वीकार करते हैं। तभी ये आचार्य प्राकृतिक जड़ बुद्धि को कर्त्ता मानकर उसमें भावनाओं के उभरने के लिए उसे चित्सान्निध्य से चेतन बनाने का प्रयास करते हैं। यदि प्रकृति कर्तारूप में प्रवृत्त होने के लिए स्वतः सामर्थ्य रखती है, तो चित्सान्निध्य से उसे चेतन-जैसा बनाने का प्रयत्न क्यों किया जाता है? यह एक उपहासास्पद बात है कि ये आचार्य वास्तविक चेतन द्वारा वह कार्य होना न मानकर एक नकली चेतन से कार्य कराना चाहते हैं। ऐसा क्यों? इस जिज्ञासा का कोई समाधान उनके पास नहीं रहता। बुद्धि में भावना उभरने की मान्यतावाले आचार्य की उक्ति है—

पुरुषोऽविकृतात्मैव स्वनिर्भासमचेतनम्।
मनः करोति सान्निध्यात् उपाधिः स्फटिकं यथा॥

यथा उपाधिः सान्निध्यात् स्फटिकं स्वनिर्भासं करोति, तथा अविकृतात्मा पुरुषः सान्निध्यात् अचेतनं मनः स्वनिर्भासं करोति।

उपाधि—लाल रंग का गुड़हल का फूल (जपाकुसुम) सफेद बिल्लौरी पत्थर (स्फटिक) के सामने रखा जाने पर अपने सान्निध्य से स्फटिक को लाल-जैसा कर देता है, जैसे, वैसे ही विकाररहित पुरुष (अविकृतात्मा पुरुषः) अचेतन मन को चेतन-जैसा (स्वनिर्भासम्) कर देता है।

यह उक्ति बड़ी अद्भुत-अनहोनी जैसी है; अपने प्रतिपाद्य अर्थ को सिद्ध करने में कहाँ तक सफल है, आइए, विचार करें। स्फटिक सफेद है, वह विकाररहित है; लाल फूल सामने आने पर भी वास्तविक रूप में वह सफेद है। यदि सफेद न हो तो वह लाल दिखाई दे ही नहीं सकता। यहाँ फूल उपाधि और स्फटिक उपहित है। लाल दीखनेवाले स्फटिक की लाली से आप कोई काम ले नहीं सकते। आप लाल स्फटिक पर कितना ही अपनी उँगली या अन्य कोई वस्तु घिसें, आपकी उँगली या वस्तु रंचमात्र भी लाली से युक्त न होगी। निश्चित ही आप उस नकली लाली से लालपने का कोई कार्य नहीं ले सकते। स्पष्ट है—वस्तुस्थिति में वहाँ

लालपन या लाल रंग है ही नहीं। पर उपाधि=लाल फूल को आप उँगली से घिसें या रगड़ें, तो निश्चित रूप से आपकी उँगली पर अतिरिक्त लाली दिखाई देगी। इसका तात्पर्य हुआ—उपाधि में कार्य करने का जो सामर्थ्य है, वह उपहित में कदापि नहीं। उपाधि वास्तविक और उपहित नकली है।

इस दृष्टान्त की स्थिति को समझकर अब दार्ष्टान्ति पर आइए। उदाहरण के अनुसार ही उदाहृत होना चाहिए। दार्ष्टान्ति में उपाधिस्थानीय पुरुष है, उपहित मन (बुद्धि=महत्तत्त्व) है। दृष्टान्त में उपहित (स्फटिक) विकाररहित है, परन्तु दार्ष्टान्ति में उपाधि (=पुरुष) विकाररहित है। यह अर्थ के उपन्यास करने में वैषम्य है। दृष्टान्त में उपहित की लाली कोई भी लाल रंग सम्बन्धी कार्य करने में असमर्थ रहती है। इसी प्रकार दार्ष्टान्ति में उपहित मन (बुद्धि) का चैतन्य तत्सम्ब्रन्धी कोई भी कार्य करने में असमर्थ होना चाहिए। परन्तु इस मान्यता को स्वीकार करनेवाले आचार्य चैतन्य-सम्बन्धी सब-कुछ कार्य उपहित चैतन्य से ही कराना अभीष्ट मानते हैं। यह कथन परस्पर कितना विषम है, यह स्पष्ट है। आश्चर्य है, उन आचार्यों को यह वैषम्य क्यों नहीं दिखाई देता? उनके ही इस कथन के अनुसार जड़ से चेतन का कार्य कराया जाना सिद्ध नहीं होता। यदि वास्तविकता को देखा जाय, तो उन आचार्यों का उक्त कथन सर्वथा उथला, शाब्दिक मात्र है। अर्थसामंजस्य की ओर ध्यान देने का उन्होंने कभी कष्ट नहीं उठाया।

यह भी एक विचित्र बात है कि चेतन के सान्निध्य से जड़ को चेतन बनाने का प्रयास करना, और उससे चेतन का कार्य कराना निर्दोष समझना। यदि चेतन द्वारा ही वह कार्य किया जाय, तो इसमें क्या दोष है? यदि इसमें किसी दोष की कल्पना की जा सकती है, तो वह दोष चित्सान्निध्य से जड़ को चेतन बनाते हुए चित् में क्यों नहीं उभर सकता? चेतन में दोष उभरने की कल्पना समान रूप से दोनों अवस्थाओं से बनी रहती है; चाहे, स्वयं चेतन वह कार्य करे, या जड़ को चेतन बनाकर करे। इसलिए जड़ को चेतन बनाने का प्रयास नितान्त निष्फल है।

प्रतीत होता है, मूल आचार्यों के इस प्रकार के संकेतों को समझने में सम्भवतः कुछ भ्रान्तियाँ हुई हों। जड़ को चेतन के सान्निध्य से चेतन-जैसा बनाने या बन जाने का तात्पर्य केवल इतना है कि स्थूलशरीरों में बुद्धि, मन, चक्षु आदि की अपने विषयों में प्रवृत्तियाँ (व्यापार) चेतन आत्मा के सान्निध्य से ही सम्भव हैं। शरीर में आत्मा के विद्यमान रहने पर बुद्धि आदि सब करण अपने कार्यों के प्रति सजग रहते हैं। जब आत्मा शरीर का त्याग कर जाता है, तो ये भी उसका अनुगमन करते हैं। चेतन आत्मा के सहयोग में इनका सजग रहना और नियुक्त हो जाने पर विरत हो जाना—चित्सान्निध्य से बुद्धि आदि का चेतन-सा बन जाने का—तात्पर्य है।

इस विषय में यह भी ध्यान देने की बात है कि प्राकृतिक बुद्धि आदि तत्त्वों को सभी सांख्याचार्यों ने पूर्ण ऐकमत्य से 'करण' माना है। करण का अर्थ साधन है।

प्रकृति, पुरुष का भोग आदि सम्बन्धी उपकार इन्हीं करणों द्वारा प्रस्तुत करती है। इससे ज्ञात होता है—प्रकृति कर्ता बनकर पुरुष को भोग आदि का अनुदान नहीं देती, प्रत्युत कर्ता पुरुष के सम्मुख अपने-आपको साधनरूप में प्रस्तुत करती है। साधारण व्यवहार में प्रत्येक प्रबुद्ध व्यक्ति इस तथ्य को प्रत्यक्ष जानता है—'चक्षुषा पश्यति, श्रोत्रेण शृणोति, बुद्धया अध्यवस्यति पुरुषः'—पुरुष = चेतन आत्मा चक्षु से देखता है, श्रोत्र से सुनता है, बुद्धि से निश्चय करता है; यह अनुभव यथार्थ है। यह प्रतीति कभी नहीं होती—चक्षुः पश्यति, श्रोत्रं शृणोति' इत्यादि; आँख देखती है, कान सुनता है। तात्पर्य है, जो 'करण' है, वह कर्ता नहीं हो सकता। यदि ऐसा व्यवहार बोलचाल में कभी होता है, तो वह औपचारिक ही है। उससे 'कर्ता' और 'करण' के एकत्व का उपपादन नहीं हो सकता।

फलतः पुरुष के भोग आदि की सिद्धि के लिए प्रकृति किस रूप में प्रस्तुत होती है, इसको स्पष्ट करने के लिए प्रथम उद्भावित दो विकल्पों में से पहला विकल्प यथार्थता के समीप है, जिसमें प्रकृति की प्रस्तुति साधनरूप से कही गई है। ज्ञान, धर्म आदि भावों का आश्रय जो करणों को बताया गया है, वह उक्त विवरण के अनुसार साधनरूप से समझना चाहिए, कर्तारूप से नहीं। ज्ञान, धर्म आदि भावों का कर्तारूप से आश्रय चेतन आत्मा है। वह कर्ता है, और स्वयं उसके फलों का भोक्ता है। आत्मा को भोक्ता मानकर कर्ता न मानना अन्याय्य है। कर्ता अन्य हो और भोक्ता अन्य, यह सर्वथा अनुचित अप्रामाणिक है। फिर भोक्ता मानने पर भोग के प्रति कर्त्तृत्व तो मानना ही पड़ेगा। फिर कर्ता मानने में क्या बाधा है?

यदि कर्त्तृत्व[1] के समान भोक्तृत्व भी आत्मा का औपचारिक माना जाता है,

---

१. प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्त्ताऽहमिति मन्यते॥ (गीता, ३।२७)

गीता के इस श्लोक-आधार पर पुरुष का कर्त्तृत्व औपचारिक माना जाता है।

परन्तु श्लोक का यह तात्पर्य आपाततः प्रतीत होता है। श्लोक के पदों पर गम्भीरतापूर्वक ध्यान देने से कुछ दूसरा ही भाव सामने आता है। श्लोक में पद हैं—प्रकृतेः गुणैः सर्वशः कर्माणि क्रियमाणानि (जायन्ते), प्रकृति के गुणों से सब प्रकार के कर्म किए जाते हैं। इसमें विचारना है—प्रकृति के गुण क्या हैं? प्रकृतिरूप गुण हैं—सत्त्व, रजस्, तमस्। जितने कर्म किए जाते हैं, वे सब इन्हीं गुणों के अनुरूप यथायथ सात्त्विक, राजस, तामस हुआ करते हैं। कर्मों का सात्त्विक, राजस, तामस होना पूर्णरूप से सत्त्व आदि गुणों पर आधारित है। यह कथन सात्त्विक आदि कर्मों के उपादानतत्त्व सत्त्व आदि गुण हैं, इस अर्थ को अभिव्यक्त करता है। परन्तु आत्मा जब यह समझता है कि कर्मों के सात्त्विक आदि रूपों का करनेवाला मैं हूँ, तो उसका यह

तो सांख्याचार्यों का यह कहना कि पुरुष के लिए प्रकृति प्रवृत्त होती है, सर्वथा ढह जाता है। मूल सिद्धान्त का शीर्षासन हो जाता है। कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व पुरुष में औपचारिक हैं, प्रकृति में मुख्य हैं। पर प्रकृति जड़ होने से कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व के लिए अयोग्य है, अक्षम है। तब उसे इसके लिए चेतन पुरुष का सहयोग अपेक्षित होता है। इसका तात्पर्य हुआ—प्रकृति के कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व की सिद्धि के लिए पुरुष प्रवृत्त होता है, तो प्रकृति के लिए पुरुष हो गया, पुरुष के लिए प्रकृति की प्रवृत्ति नहीं रही, यह 'पुरुषार्थाय प्रकृतिः प्रवर्त्तते' सिद्धान्त का शीर्षासन कर दिया गया।

इस विषय में और भी विचारणीय है—मान लीजिये, ज्ञान, धर्म, वैराग्य आदि भावों के सब प्रकार से आश्रय बुद्धि आदि करण हैं। ज्ञान, धर्म आदि के द्रुतनश्वर होने के कारण इनसे जनित संस्कार—उनके फल मिलने का अवसर आने तक—अवस्थित रहते हैं। ज्ञान, धर्म आदि के समान उनके संस्कार भी बुद्धि आदि करणों में अवस्थित माने जा सकते हैं। अब प्रलयकाल आ गया; परन्तु फल भोगे जाने की प्रतीक्षा में अभी तक संस्कारों का अम्बार लगा पड़ा है। ऐसे संस्कारों के ढेर को 'सञ्चित' कर्म अथवा 'वासना' कहा जाता है। इनके आश्रय बुद्धि आदि करण प्रलयकाल में अपने कारणों के रूप में चले जाते हैं, तब अपने बुद्धि आदि 'करण'-रूप को खो बैठते हैं। तब संस्कार कहाँ आश्रित रहेंगे? यह प्रश्न उठता है।

प्रस्तुत सन्दर्भ के अनुसार यह संकेत गत पंक्तियों में किया गया है कि बुद्धि आदि करणों के समान वे संस्कार भी कारणरूप साम्य अवस्थापन्न प्रकृति में रह सकेंगे, परन्तु यह कथन केवल कथनमात्र है। यह सम्भाव्य व व्यवहार्य भी है, या नहीं? इस ओर ध्यान नहीं दिया गया। प्रकृति की वैषम्य अवस्था में जब कारण-

---

समझना विमूढ़-अविवेकी होने के कारण ही माना जाएगा। उस अवस्था में उसे त्रिगुणात्मक प्रकृति और अपने (आत्मा के) भेद का साक्षात्कार नहीं होता। वह अपने-आपको प्रकृति से अभिन्न समझकर प्रकृति-गुणों से किये जाते कार्यों को अपने द्वारा किया जाना समझता है, तो यह उसके विमूढ़ स्वरूप का ही द्योतक है। पुरुष त्रिगुणातीत है। त्रिगुणोपादानक कार्यों में उसका नाममात्र भी कोई अंश नहीं होता।

सांख्य में उपादान अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए 'कर्तृ' पद का प्रयोग पारिभाषिक है, यह अनेकत्र स्पष्ट कर दिया गया है। मुख्य कर्त्तृत्व की अभिव्यक्ति के लिए सांख्य में 'अधिष्ठातृ' पद का प्रयोग प्रायः हुआ है। यह 'कर्त्तृ' पद के अर्थ की भिन्नता का स्पष्ट द्योतक है। इस प्रकार गीता के इस प्रसंग में प्रयुक्त 'कर्त्तृ' पद गुणों के उपादानभाव को प्रकट करता है, जिससे पुरुष नितान्त रहित है।

Scanned with CamScanner

तत्त्व बुद्धि आदि करण-रूप में कार्यात्मना उभरकर आते हैं, तभी उनके द्वारा ज्ञान, धर्म आदि भावों का उदय अथवा उद्‌भव में आना सम्भव होता है। इन भावों का उद्भव मूलतत्त्व की कारण-अवस्था में होना सर्वथा असम्भव है। यदि यह सब कारण-अवस्था में ही हो जाया करे, तो कार्य-रूप में परिणाम होना सर्वथा व्यर्थ है।

परन्तु, ऐसा व्यवहार्य नहीं है; तब यह स्पष्ट है कि ज्ञान, धर्म आदि का उद्भव तत्त्व की कारण-अवस्था में सम्भव नहीं। जब उद्भव सम्भव नहीं, तो उनसे जनित संस्कारों का भी कारणतत्त्व में अवस्थित रहना कैसे सम्भव होगा ?

इसके लिए बुद्धि आदि करणों की समानता का कहना निराधार है; क्योंकि बुद्धि आदि करण मूलकारणतत्त्व के परिणामस्वरूप वस्तुतत्त्वरूप में उद्भव होते हैं, परन्तु ज्ञान, धर्म आदि भाव वस्तुतत्त्वरूप नहीं हैं, ये सब भावनात्मक हैं। भावनाओं का उदय,—चेतन आत्मतत्त्व का बुद्धि आदि से संपर्क होने पर हो पाता है। चेतन आत्मा प्रकृति के इसी रूप के साथ संपर्क में आता है। इससे स्पष्ट है—भावनाओं का उदय चेतन आत्मतत्त्व से सम्बद्ध है। इसलिए मूल उपादानतत्त्व की साम्य अथवा अव्यक्त अवस्था में जैसे ज्ञान, धर्म आदि का उद्भव असम्भव है, ऐसे ही उनसे जनित संस्कारों व वासनाओं का मूल अव्यक्त कारण में अवस्थित होना असम्भव है। इसलिए बुद्धि आदि करणों की तरह भाव अथवा तज्जनित संस्कार मूल अव्यक्त कारण में प्रलय-अवसर पर रह सकेंगे,—यह कथन कुछ बल नहीं रखता।

वस्तुतः भावनाओं का सम्बन्ध चेतन आत्मतत्त्व से है; बुद्धि आदि करणों के सहयोग से ज्ञान, धर्म आदि भाव चेतन आत्मा में उभरते हैं। बुद्धि आदि करण उनके उभरने में केवल साधन हैं। ज्ञान, धर्म आदि भाव बुद्धि आदि करण-व्यापार के फल हैं। साधनव्यापार-जनित फल कभी साधन में नहीं रहता; अर्थात् साधन को कभी प्रभावित नहीं करता। जैसे कुठार का छिदिक्रिया-व्यापार कुठार को कभी प्रभावित नहीं करता, ऐसे ही बुद्धि आदि करणों का दर्शन-स्पर्शन आदि व्यापार करणों को प्रभावित न कर चेतन आत्मतत्त्व को प्रभावित करता है। उसी के लिए यह बुद्धि आदि करणों का व्यापार है। वही चेतन आत्मा का भोग है। इसका स्वरूप है—बाह्य विषय का—इन्द्रिय, मन, बुद्धि द्वारा आत्मा को अनुभव होना।

अनुभूति चेतन आत्मा का स्वरूप है। बुद्धि आदि में अनुभूति का होना असम्भव है। चेतन आत्मा इसी रूप में भोक्ता है, और उसी प्रकार कर्ता भी। साधन को साधयिता बनाना न किसी मूल दर्शनकार को अभीष्ट है, और न यह प्रामाणिक व न्याय्य है।

Scanned with CamScanner

फलतः विन्ध्यवासी[1] आदि आचार्यों ने पुरुष के भोग का जो स्वरूप प्रस्तुत किया है, वह ठीक इसी प्रकारका है, जैसे आज की सरकारें सब-कुछ गरीब जनता के लिए करने की घोषणा करती हुई गरीब जनता को प्रशासन के उन मधुर फलों से सर्वथा वञ्चित रखती हैं; ऐसे ही प्रकृति की सब प्रवृत्तियाँ केवल पुरुष के लिए हैं, ऐसी घोषणा किए जाने पर भी बुद्धि के रूप में प्रशासक प्रकृति अपना समस्त माधुर्य स्वयं भोगती है; बेचारा गरीब पुरुष निर्दोष असंग रहता हुआ एक ओर—अपने कर्मों को (भाग्य को) कोसता हुआ—चुपचाप पड़ा रहता है। ये प्रकृति के उपासक चापलूस आचार्य बड़े चतुर हैं, जो स्वयं अपने-आपको धोखे में डाले रखते हैं, जिन्होंने दासी को स्वामिनी बनाकर खड़ा कर दिया है! इत्यलम्—

मा मा विलीकुरुत कीर्त्तिनदीः परेषाम्।

आचार्य पञ्चाधिकरण का प्रसंग पूर्ण हुआ।

---

१. प्रस्तुत सन्दर्भ के विवरण-प्रसंग में जो 'पुरुषोऽविकृत्यैव' आदि पद्य उद्धृत किया गया है, वह अनेकत्र 'विन्ध्यवासी त्वेवं भोगमाचष्टे' कहकर आचार्यों ने उसका स्मरण किया है। द्रष्टव्य—हरिभद्र सूरिकृत 'षड्दर्शन समुच्चय' की गुणरत्न सूरिकृत व्याख्या, पृष्ठ १०४; रॉयल एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता-संस्करण, तथा—स्याद्वादमञ्जरी, १५ की हेमचन्द्रसूरि विरचित व्याख्या।

(४४) आचार्य रुद्रिल विन्ध्यवासी—११

आचार्य का इतिवृत्त-सम्बन्धी विवरण 'सांख्यदर्शन का इतिहास' नामक ग्रन्थ में देखना चाहिए। उसके जो सन्दर्भ संकलित किए गए हैं, उनकी व्याख्या प्रस्तुत है—

१—किञ्च तन्त्रान्तरोक्तेः ; तन्त्रान्तरेषु हि विन्ध्यवासिप्रभृतिभिराचार्यैरुपदिष्टाः। प्रमाणं नस्ते आचार्याः ; इत्यतश्चानुपदेशो जिज्ञासादीनामिति।

(यु० दी०, पृष्ठ ४, पंक्ति ७-८)

सांख्यकारिका की प्रथम आर्या का अवतरण करते हुए युक्तिदीपिकाकार ने यह सन्दर्भ लिखा है। वहाँ प्रसंग है—

प्रश्न—इस शास्त्र (सांख्यकारिका) में अनुमान के अवयव जिज्ञासा आदि का निर्देश क्यों नहीं किया गया?

उत्तर—शास्त्र में जिज्ञासा आदि को स्वीकार किए जाने पर भी अनुमान का अंग होने के कारण वे अनुमान के अन्तर्गत हैं, अतः उनका पृथक् उपदेश नहीं किया।

इसके अनन्तर प्रस्तुत सन्दर्भ आरम्भ होता है। उसका अभिप्राय है—

जिज्ञासा आदि के विषय में उक्त कथन के अतिरिक्त एक यह बात है, क्योंकि तन्त्रान्तरों में विन्ध्यवासी आदि आचार्यों ने इनका उपदेश किया हुआ है। वे आचार्य हमारे लिए प्रमाण हैं। इस कारण यहाँ जिज्ञासा आदि का उपदेश करने की आवश्यकता नहीं है। यह कथन संख्या एक सन्दर्भ में समाप्त होता है। इसके अनन्तर दूसरा सन्दर्भ निम्न प्रकार प्रारम्भ होता है—

२—आह—न, प्रमाणानुपदेशप्रसंगात्। यदि च तन्त्रान्तरोपदेशादेवावयवानामनुपदेशः, प्रत्यक्षादीन्यपि च तन्त्रान्तरेषूपदिश्यन्ते—'श्रोत्रादिवृत्तिः प्रत्यक्षम्। सम्बन्धादेकस्माच्छेषसिद्धिरनुमानम्। यो यत्राभियुक्तः कर्मणि चादुष्टः, स तत्राप्तः, तस्योपदेश आप्तवचनम्' इति। तेषामप्यनुपदेशप्रसंगः।

प्रथम सन्दर्भ का कथन युक्त नहीं है। क्यों युक्त नहीं? सुनिये; तब ऐसा करने से प्रमाणों का अनुपदेश प्राप्त होगा। यदि तन्त्रान्तर में विन्ध्यवासी आदि आचार्यों के द्वारा जिज्ञासा आदि का उपदेश कर देने से यहाँ (सांख्यकारिका में) उनका उपदेश नहीं किया गया, तो तन्त्रान्तर में विन्ध्यवासी आदि आचार्यों ने प्रत्यक्षादि प्रमाणों का उपदेश किया है; उनका निर्देश भी तब यहाँ नहीं होना चाहिए। इस कथन के मध्य में 'श्रोत्रादिवृत्तिः' पद से प्रारम्भ कर 'आप्तवचनम्'

तक तीनों प्रमाणों के लक्षण विन्ध्यवासी के ग्रन्थ से यहाँ उद्धृत हैं। इनका इतिहास-सम्बन्धी विवरण 'सांख्यदर्शन का इतिहास' नामक ग्रन्थ में देखना चाहिए। यहाँ केवल अपेक्षित व्याख्या प्रस्तुत है—

प्रत्यक्ष—श्रोत्रादिवृत्तिः प्रत्यक्षम्। श्रोत्र आदि इन्द्रियों का व्यापार प्रत्यक्ष प्रमाण होता है। सन्दर्भ में 'वृत्ति' पद का अर्थ—बर्त्तना—है। वह बर्त्तना क्या है?—इन्द्रिय का बाह्य विषय के साथ सम्बन्ध होना। इस प्रसंग की प्रक्रिया को 'व्यापार' कहा जाता है—इन्द्रिय का विषय के साथ व्यापृत—संपृक्त—संबद्ध होना। 'वृत्ति' या 'व्यापार' पद उस प्रक्रिया को अभिव्यक्त करते हैं, जो इन्द्रिय-विषय-सम्बन्ध में उभरती है। अथवा यूँ कहना चाहिए—ये दोनों पद इन्द्रिय-विषय-सम्बन्ध की स्थिति को अभिव्यक्त करते हैं। यह 'इन्द्रिय-व्यापार' इन्द्रिय तक ही सीमित न रहकर व्यवस्थित प्रणालिका द्वारा बुद्धि तक पहुँचता है। इन्द्रिय और बुद्धि के अन्तराल में उस प्रणाली के अंग हैं, यथाक्रम मन और अहंकार। इस प्रकार सन्दर्भ में 'श्रोत्र' पद व्यापार-प्रणाली के समस्त अंगों का उपलक्षण है। श्रोत्र पद से यहाँ उन सबका ग्रहण समझना चाहिए। सन्दर्भ का 'आदि' पद त्वक्, चक्षु आदि शेष इन्द्रियों का ग्राहक है। तात्पर्य हुआ—विषय का करणों के साथ सम्पर्क 'प्रत्यक्ष प्रमाण' है।

कतिपय आचार्यों ने इस लक्षण में 'अविकल्पिका' पद अधिक पढ़ा है। यह लक्षण के वृत्ति पद का विशेषण है। वह वृत्ति 'अविकल्पिका' होनी चाहिए। 'विकल्प' पद का अर्थ है—संशय व विपर्यय। तात्पर्य हुआ—वह 'वृत्ति' संशय और विपर्यय से रहित होनी चाहिए। जिस श्रोत्रादि वृत्ति में संशय या विपर्यय की सम्भावना है, उस वृत्ति को प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं माना जायगा। जहाँ लक्षण के कथन में इस पद का पाठ नहीं है, वहाँ भी यह अर्थ समझना अभीष्ट है। तात्पर्य हुआ—बाह्य इन्द्रिय करण से लेकर आन्तर करण बुद्धि तक बाह्य विषय का सम्पर्क—व्यापार 'प्रत्यक्ष प्रमाण' है। उस प्रत्यक्ष प्रमाण का फल है—चेतन आत्मतत्त्व को बाह्य विषय का 'ज्ञान' होना। इसे 'प्रत्यक्ष प्रमाण' कहा जाता है।

'ज्ञान' दो प्रकार का है—एक स्वाभाविक, दूसरा–नैमित्तिक। स्वाभाविक ज्ञान—चेतना स्वयं आत्मतत्त्व है। वह ज्ञानस्वरूप है, चेतनास्वरूप है। दूसरा नैमित्तिक ज्ञान वह है, जो बाह्य विषयों की जानकारी अन्य निमित्तों—साधनों द्वारा चेतन आत्मा को होती है। यह नैमित्तिक ज्ञान उसी को हो सकता है, जो स्वभावतः ज्ञानस्वरूप है, चेतन है। अचेतन को किसी भी तरह का ज्ञान होना असम्भव है। जब तक बाह्य विषय व्यापार-दशा में रहता है, उसको औपचारिक रूप में 'वृत्ति ज्ञान' अथवा 'वृत्त्यात्मक ज्ञान' कह देते हैं। वह 'वृत्त्यात्मक' इसी कारण कहा जाता है कि वह अभी अपने वास्तविक फलस्वरूप को प्राप्त नहीं कर पाया है। जब वह फलस्वरूप को प्राप्त कर लेता है, अर्थात् आत्मा को उस बाह्य

विषय का ज्ञान हो जाता है, तब वह वृत्तिरूपता को लाँघ जाता है। इस अवस्था में वह केवल तद्विषयक ज्ञान है। यह नैमित्तिक ज्ञान नश्वर है। जहाँ इसका उदय हुआ, वहाँ स्वजनित संस्कार छोड़कर स्वयं तिरोहित हो जाता है। पहले के समान अन्य विषय का ज्ञान उभर आता है। पुरुष की जाग्रत अवस्था में यही क्रम चला करता है।

अनुमान—प्रत्यक्ष के अनन्तर विन्ध्यवासी ने अनुमान का लक्षण बताया—सम्बन्धादेकस्माच्छेषसिद्धिरनुमानम्। एकस्मात् सम्बन्धात् शेषसिद्धिः अनुमानम्। एकविषयक सम्बन्ध से शेष की—बचे हुए की सिद्धि हो जाना अनुमान प्रमाण है। परस्पर नियत रूप से सम्बद्ध दो वस्तुओं में से एक की विद्यमानता का प्रत्यक्ष होने पर दूसरी बची अप्रत्यक्ष वस्तु की विद्यमानता का ज्ञान हो जाना अनुमान प्रमाण कहाता है।

सन्दर्भ में 'सम्बन्ध' पद इन्द्रिय-विषय-सम्बन्ध-रूप प्रत्यक्ष का बोधक है। दो ऐसी वस्तुएँ जो व्यवस्थित व नियमित रूप से एक-साथ रहती हैं, अथवा जिन वस्तुओं में से एक, दूसरी के बिना अपना अस्तित्व प्राप्त नहीं कर सकती, इनमें से अस्तित्व प्राप्त करनेवाली वस्तु का प्रत्यक्ष होने पर उसकी निमित्तभूत दूसरी वस्तु का अनुमान हो जाता है। जैसे—धूम से अग्नि का अनुमान। धुआँ आग के बिना अपना अस्तित्व प्राप्त नहीं कर सकता। यदि कहीं धुएं की लाट आपको दूर से दिखाई दे रही है, तो आप वहाँ अप्रत्यक्ष आग का निश्चित ज्ञान कर लेते हैं, वहाँ आग अवश्य है। यह ज्ञान 'अनुमिति' और इसका साधन अनुमान प्रमाण कहा जाता है। यहाँ धूम से अग्नि का अनुमान हो सकता है; अग्नि से धूम का नहीं, क्योंकि अग्नि को अपने अस्तित्व के लिए धूम की अपेक्षा नहीं रहती; जबकि धूम को अपने लाभ (अस्तित्व) के लिए अग्नि की अपेक्षा रहती है। दो वस्तुओं के समानरूप से एक-दूसरे के साथ नियमित सम्बन्ध होने की दशा में किसी एक के प्रत्यक्ष से दूसरे अप्रत्यक्ष का अनुमान हो जाता है। इसके उदाहरण के लिए अनित्यत्व और उत्पत्तिधर्मकत्व दो धर्मों को लीजिए। आप घड़े को उत्पन्न होता हुआ, कुम्हार द्वारा अपनी अभिव्यक्ति में आता हुआ देख रहे हैं। आपने उसके उत्पत्तिधर्मकत्व को प्रत्यक्ष देखा; पर आपने उसे नष्ट होते, टूटते हुए नहीं देखा। परन्तु आप उसके उत्पत्तिधर्मक होने के प्रत्यक्ष से उसके अनित्य होने का अर्थात् भविष्यत् में कभी उसके नष्ट हो जाने, टूट जाने का निश्चित अनुमान कर लेते हैं।

इसी प्रकार आप एक घड़े को टूटता प्रत्यक्ष देख रहे हैं। आपने उसे बनते हुए कभी नहीं देखा, पर आप उसके टूटने—नष्ट होने—नित्य स्थायी न रहने से अर्थात् उसके इस अनित्यत्व धर्म के प्रत्यक्ष से उसके अप्रत्यक्ष—उत्पत्तिधर्मकत्व का अनुमान कर लेते हैं। यह प्रक्रिया ऐसी समस्त अवस्थाओं में लागू रहती है। अनुमान का विषय-क्षेत्र बहुत विस्तृत है। यह अतीत, वर्तमान, अनागत, सभी कालों की

वस्तुओं को जानने में दखल रखता है।

तात्पर्य है—इस साधन से, प्रमाण से त्रिकालस्थित वस्तुओं के जानने में सुविधा होती है।

गत पंक्तियों में कहा है—सन्दर्भ का 'सम्बन्ध'-पद प्रत्यक्ष का द्योतक है। उद्योतकर के न्यायवार्त्तिक (१।१।५) में तथा 'सन्मतितर्क' की व्याख्या पञ्जिका में अनुमान-लक्षण के अन्तर्गत 'प्रत्यक्ष' पद साक्षात् पठित है।

आप्तवचन = शब्द—तीसरे प्रमाण 'शब्द' के लिए सन्दर्भ में 'आप्तवचन' पद का प्रयोग हुआ है। लक्षण बताया—'यो यत्राभियुक्तः कर्मणि चादुष्टः, स तत्राप्तः, तस्योपदेश आप्तवचनम्।' जो व्यक्ति जिस विषय में प्रामाणिक है, विषय का यथार्थ ज्ञाता—साक्षात्कृतधर्मा है, और अपने आचरण में दोषरहित है, किसी को धोखा देना या संशय में डालना कभी नहीं चाहता, सबके प्रति हितबुद्धि व कल्याण की कामना रखता है, वह व्यक्ति उस विषय में 'आप्त' माना जाता है। उस विषय का उसका उपदेश 'आप्तवचन' नामक तीसरा प्रमाण है।

शब्द प्रमाण का लक्षण—प्रायः सभी आचार्यों ने 'आप्तोपदेशः शब्दः' आप्त का उपदेश शब्द है—किया है। प्रस्तुत लक्षण में 'आप्त' का स्वरूप भी बताया गया है। अन्यत्र भी—उस विषय का 'साक्षात्कृतधर्मा' अथवा 'यथार्थज्ञाता' आदि आप्त का स्वरूप बताया है। परन्तु यहाँ 'कर्मणि चादुष्टः' कहकर आप्त का स्वरूप स्पष्ट करने में चार चाँद लगा दिए हैं। विषय का यथार्थज्ञाता व्यक्ति भी यदि सद्भावना से ज्ञात विषय का उपदेश नहीं करना चाहता, तथा अर्थ को अन्यथा अस्पष्ट या लिपटे शब्दों से अभिव्यक्त करता है, तो उसके कथन को 'शब्द'-प्रमाण की कोटि में नहीं लिया जाता। सम्भवतः इसी कारण राजनीति के प्रसंगों में विभिन्न राजनीतिज्ञ परस्पर कथनों पर कभी पूर्ण विश्वास नहीं करते। ऐसा भी देखा गया है कि राजनीतिज्ञों की घोषणाओं पर साधारण जनता भी अनेक बार विश्वास नहीं करती। कदाचित् उन घोषणाओं में बाह्य हितबुद्धि एवं आंशिक राष्ट्रिय कल्याण-भावना के पीछे घोर स्वार्थ का आसुरी भाव छिपा रहता है। इस प्रकार राजनीति-सम्बन्धी घोषणाओं के शब्द, प्रमाण की कोटि के अन्तर्गत नहीं आ पाते। वे शब्द असफल रहते हैं, प्रभावहीन।

आचार्यों ने प्रमाणों के विभिन्न शास्त्रीय लक्षणों पर खण्डन-मण्डन को लेकर परस्पर प्रखर प्रहार किए हैं। परन्तु गम्भीरता से देखने पर ऐसा ज्ञात होता है कि यह खण्डन-मण्डन का प्रचण्ड झंझावात मात्र शाब्दिक है, नितान्त उपरी। सभी प्रकार के लक्षणों में स्वरूप की आत्मा एक ही दिखाई देती है। प्रमाणों का सर्वत्र सामञ्जस्य इस रूप में जाना जा सकता है। दार्शनिक तत्त्वविवेचन में तथा अन्यत्र भी सर्वत्र अर्थ के निर्णय में प्रमाणों का सर्वोच्च महत्त्व है।

३—महतः षडविशेषाः सृज्यन्ते पञ्चतन्मात्राण्यहंकारश्चेति विन्ध्यवासिमतम् ।

(यु० दी० पृ० १०८, पंक्ति ६-७)

आचार्य विन्ध्यवासी का मत है—महत्तत्त्व से छह 'अविशेष'-संज्ञक तत्त्वों की सृष्टि होती है—पाँच तन्मात्र और एक अहंकार।

प्रायः अन्य सभी सांख्याचार्यों का मत है कि महत्तत्त्व से अहंकार और अहंकार से तन्मात्र की सृष्टि होती है। परन्तु विन्ध्यवासी महत्तत्त्व से अहंकार की सृष्टि के समान तन्मात्र की सृष्टि भी महत्तत्त्व से मानते हैं। पातञ्जल योगसूत्र (२।१९) के व्यासभाष्य में लगभग इसी अर्थ को प्रस्तुत किया गया है। मूल सूत्र में विशेष, अविशेष, लिंगमात्र और अलिंग, इन चार गुणपर्वों का उल्लेख है। सत्त्व, रजस्, तमस्, ये तीनों गुण सर्गकाल-अवस्था में उक्त चार पर्वों—विभागों में अवस्थित रहते हैं। इन विभागों में प्रकृति और समस्त प्राकृतिक विश्व समाविष्ट हैं। प्रकृति-सम्बन्धी कोई तत्त्व इनसे बाहर बचा नहीं रहता।

विशेष—इनमें 'विशेष'-संज्ञक तत्त्वों की संख्या सोलह है—एक मन आन्तर इन्द्रिय, 'दस' बाह्य इन्द्रिय, पाँच स्थूलभूत।

अविशेष—संज्ञक तत्त्व छह हैं—एक अहंकार, पाँच तन्मात्र—शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र, गन्धतन्मात्र। 'तन्मात्र' पद के साथ 'शब्द' आदि पदों का प्रयोग केवल इस अर्थ का द्योतक है कि अमुक तन्मात्र-तत्त्वों से शब्द आदि के आधार आकाश, वायु, तेजस् आदि तत्त्व अभिव्यक्ति में आते हैं। सर्गक्रम के अनुसार तत्त्वों के 'तन्मात्र' स्तर में शब्द, स्पर्श आदि की अभिव्यक्ति नहीं होती; पर ये तन्मात्र आगे ऐसे कार्यों को अभिव्यक्त करते हैं, जिनमें शब्द आदि विशेषताओं की अभिव्यक्ति हो जाती है। इसी आधार पर 'तन्मात्र' पद के साथ 'शब्द' आदि पदों का प्रयोग है। 'तन्मात्र' पद के साथ 'पञ्च' पद का प्रयोग इसी कारण किया जाता है कि सर्गक्रम में ये आगे केवल पाँच प्रकार के तत्त्वों को अभिव्यक्त करते हैं—आकाश, वायु, तेजस्, आपस्, पृथिवी। अपने रूप में तन्मात्र-तत्त्वों की संख्या अभी अगणित है।

लिंगमात्र—संज्ञक तत्त्व केवल एक है—महत्। यह प्रकृति का ऐसा आद्य कार्य है, जो प्राणियों (आत्मतत्त्वों) के भोग आदि की सिद्धि के लिए सीधा उनके सम्पर्क में आता है। इसलिए जहाँ भोग है, वहाँ चेतन आत्मतत्त्व की विद्यमानता का यह सर्वमान्य, संशयरहित चिह्न है। इसके उक्त नाम का यही आधार है।

अलिंग—गुणपर्वों का चौथा पर्व अलिंग है—साम्यावस्थापन्न प्रकृति। यह ऐसी अवस्था है, जिसमें प्रकृति किसी भी प्रकार के वैषम्य या विशेष चिह्नों से रहित होती है। इसी कारण इस गुणपर्व को उक्त नाम दिया गया है। व्यासभाष्य (२।१९) में इस भाव को अभिव्यक्त करने के लिए पाठ है—

Scanned with CamScanner

"षड् अविशेषाः, तद्यथा—शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं गन्धतन्मात्रञ्च, इत्येकद्वित्रिचतुष्पञ्चलक्षणाः शब्दादयः पञ्चाऽविशेषाः, षष्ठश्चाऽविशेषोऽस्मितामात्र इति। एते सत्तामात्रस्यात्मनो महतः षडविशेषपरिणामाः।"

इसका हिन्दी रूपान्तर गत पंक्तियों में स्पष्ट हो गया है। अन्तिम पंक्ति में महत्तत्त्व को सत्तामात्र-स्वरूप बताया है। उसके 'अविशेष'-संज्ञक छह परिणाम हैं। महत्तत्त्व के सत्तामात्र-स्वरूप के लिए पञ्चशिख-सन्दर्भों में पठित संख्या दस का सन्दर्भ द्रष्टव्य है।

व्यासभाष्य से स्पष्ट है—भाष्यकार तन्मात्र की उत्पत्ति महत्तत्त्व से मानता है। इस सिद्धान्त का उपज्ञ आचार्य कौन है? यह विचार करने पर ज्ञात होता है, स्वयं सूत्रकार पतञ्जलि इसका उपज्ञ हो। मूल सूत्र से यह अर्थ प्रकट होता है। कार्य से कारण की ओर गणना करके चार गुणपर्वों का संकेत सूत्र में है। इनमें सर्वप्रथम विशेष हैं, जिनकी संख्या भाष्यकार ने सोलह बताई है। इन सोलहों विशेषों के कारण-तत्त्व हैं—छह अविशेष। इन छह अविशेषों में से पाँच प्रकार के तन्मात्र यथायथ पाँच स्थूलभूतों (विशेषों) के कारणतत्त्व हैं, तथा एक अहंकार (अविशेष) तत्त्व एक आन्तर इन्द्रिय मन और दस बाह्य इन्द्रियों (एकादश विशेषों) का कारण है। कारण से कार्यपरिणति के क्रम को गहराई से देखने पर ज्ञात होता है, कारण की अपेक्षा कार्य में कुछ विलक्षणता आ गई है—अलिंग से लिंगमात्र, लिंगमात्र से अविशेष, अविशेष से विशेष। मूलतत्त्व के—अलिंग व अव्यक्त अवस्था से इन्द्रिय-ग्राह्य व्यक्त अवस्था में आना—परिणामक्रम का चमत्कार है।

इस क्रमनिर्देश में पर्वों की संज्ञाओं का आधार भी ध्वनित होता है। अविशेष-संज्ञक वर्ग में वे तत्त्व आते हैं, जो विशेष के उत्पादक हैं। अविशेष-वर्ग एक इकाई के रूप में सामने आया, जो केवल विशेष को अभिव्यक्त करता है। तब अविशेष-वर्ग का उत्पादक भी कोई एक इकाई हो। ऐसा नहीं होना चाहिए कि कोई तत्त्व विशेष और अविशेष दोनों वर्ग के तत्त्वों का उत्पादक हो। अहंकार से तन्मात्र-अविशेषों एवं मन आदि विशेषों—दोनों—की सृष्टि मानना सूत्रकार पतञ्जलि को असामञ्जस्यपूर्ण प्रतीत हुआ। उसने 'अहंकार' अविशेष की सृष्टि के साथ तन्मात्र अविशेष की सृष्टि का भी महत्तत्त्व से होने का सुझाव दिया। जिन आचार्यों ने अहंकार से तन्मात्र की सृष्टि कही, उन्होंने भी अहंकार के भेद मानकर उभय-विध सृष्टि का निर्वाह किया है।

इन संज्ञाओं के विषय में एक बात ध्यान देने की है। 'विशेष'-संज्ञक वे तत्त्व हैं, जो आगे किसी नये वस्तुतत्त्व की सृष्टि नहीं करते। इसके अनुसार 'अविशेष'-वर्ग में उन्हें आ जाना चाहिये, जो केवल 'विशेष'-वर्ग की सृष्टि करते हैं। इस प्रकार 'विशेष-अविशेष' उभय की सृष्टि करनेवाला 'अहंकार' तत्त्व अविशेष-वर्ग

से बहिष्कृत हो जाता है। इस अव्यवस्था को दूर करने के लिए सूत्रकार पतञ्जलि ने सर्गक्रम के अन्तर्गत तत्त्व-समुदाय को समान रूप से चार पर्वों में बाँट दिया। समस्त परिस्थिति पर ध्यान देते हुए पर्वों की उक्त संज्ञा (—अलिंग, लिंगमात्र, अविशेष, विशेष) निर्धारित कर दीं।

इस मान्यता की परम्परा में सूत्रकार पतञ्जलि, भाष्यकार व्यास और विन्ध्यवासी एक स्थान पर हैं। पर विन्ध्यवासी एक कदम आगे बढ़कर अहंकार और महत्तत्त्व (बुद्धि) को 'करण' नहीं मानता। अहंकार को अन्य कतिपय आचार्य भी अतिरिक्त करण नहीं मानते। विन्ध्यवासी का कहना है—संकल्प, अभिमान, अध्यवसाय, ये वृत्तियाँ अनेक न होकर एकरूप हैं, और केवल मनोगत हैं। उसका यह विचार सन्दर्भ-संख्या पाँच व सात में स्पष्ट है।

४—**इन्द्रियाणि········विभूनीति विन्ध्यवासिमतम्।**

(यु० दी०, पृष्ठ १०८; पंक्ति १०)

इन्द्रियाँ विभु हैं, यह विन्ध्यवासी का मत है। 'विभु' पद का प्रयोग प्रायः 'व्यापक' पद के पर्याय रूप में किया जाता है। परन्तु कतिपय विद्वान् इसमें आपत्ति करते हैं। उनका कहना है- वैशेषिक-आचार्यों ने विभु का लक्षण किया है—'सर्व-मूर्त्तद्रव्यसंयोगित्वं विभुत्वम्' समस्त मूर्त्तद्रव्यों के साथ संयोगी (संयोगवाला= संयुक्त) होना विभु होने का लक्षण है। जो द्रव्य अशेष मूर्त्तद्रव्यों के साथ संयुक्त रहता है, वह विभु है। द्रव्यों के संयोग को एकदेशी माना गया है। विचारणीय है, क्या विभुद्रव्य का मूर्त्तद्रव्य के साथ संयोग एकदेशी होता है? नहीं, वस्तुतः दो मूर्त्तद्रव्यों का संयोग एकदेशी होता है। मूर्त्त और अमूर्त्त दो द्रव्यों का संयोग एकदेशी नहीं होता। वहाँ अमूर्त्तद्रव्य मूर्त्तद्रव्य को व्याप्त कर विद्यमान रहता है। इसलिए 'विभु' और 'व्यापक' पदों की पर्यायता में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

विचारणीय है, इन्द्रियों का विभु मानना कहाँ तक सामञ्जस्यपूर्ण है। न्याय-वैशेषिक विचार से केवल चक्षु इन्द्रिय द्रव्यग्राहक है। कतिपय प्राचीन आचार्यों ने त्वक् इन्द्रिय को भी द्रव्यग्राहक माना है। चक्षु द्वारा पदार्थ के देखे जाने की अवस्था में प्रश्न उठता है—पदार्थ का केवल सम्मुख का भाग चक्षु से दीखता है; उस भाग से अन्तर्हित शेष भाग के साथ चक्षु का संयोग नहीं; तब वह पूरा द्रव्य प्रत्यक्ष कैसे माना जाता है? आचार्यों ने इसका समाधान किया है—द्रव्य का जो भाग सामने है, और उससे अन्तर्हित जो शेष भाग है, उन सब (दृश्य-अदृश्य दोनों) में एक 'अवयवी' नामक तत्त्व है। वह समस्त अवयवों में इकाई रूप से समवेत (बैठा) है। किसी द्रव्य का कोई एक भाग दीखने पर उसके सहित वह पूर्ण एक अवयवी दीखता है। दृश्य द्रव्य का वही स्वरूप है। इस अवयवी की कल्पना या सत्ता को लेकर विभिन्न दार्शनिकों के मध्य तुमुल वाग्युद्ध होता रहा है, जिसका

अन्त कहीं नहीं हुआ। जब पूर्णद्रव्य के साथ चक्षु का संयोग नहीं, तो पूर्णद्रव्य का प्रत्यक्ष कैसे ?

प्रतीत होता है—बौद्ध और वैदिक दार्शनिकों के इस विषय के संघर्ष पर वैशेषिकों की विवादग्रस्त अवयवि-कल्पना की उपेक्षा कर विन्ध्यवासी ने पूर्णद्रव्य के साथ चक्षु का संयोग स्थापित करने के लिए इन्द्रियों को विभु मान लिया। विभु द्रव्य का मूर्त्तद्रव्य के साथ संयोग उसको पूर्ण रूप में व्याप्त कर विद्यमान रहता है। इस दशा में यह प्रश्न ही नहीं उठता कि चक्षु का संयोग द्रव्य के केवल सम्मुखीन भाग के साथ है। विभु चक्षु इन्द्रिय द्रव्य को पूर्ण व्याप्त कर विद्यमान रहने से उसका संयोग पूर्ण द्रव्य के साथ है; द्रव्य के एक देश के साथ नहीं।

इससे आपाततः अवयविमूलक संघर्ष तो कम दिखाई देने लगता है, पर इन्द्रियों को विभु मानने से अन्य अनेक संघर्ष सामने आ जाते हैं, जैसे—व्यवहित द्रव्य का प्रत्यक्ष होना। चक्षु इन्द्रिय को विभु मानने पर व्यवधान का अस्तित्व ही उठ जाता है। तब व्यवहित व दूरस्थित वस्तु का प्रत्यक्ष होता रहना चाहिए। यह स्थिति अब द्रव्यग्राहक इन्द्रिय तक सीमित नहीं। अन्य इन्द्रियाँ भी विभु होने से अपने ग्राह्य विषयों को निरन्तर ग्रहण करते रहें। पर ऐसा न अनुभव के अनुकूल है, न सम्भव।

पातञ्जल योगदर्शन के व्यासभाष्य में केवल मन (आन्तर इन्द्रिय) को विभु माना है। इन्द्रिय-विभुता की साधुता-असाधुता पर विवेकी विद्वज्जन स्वयं चिन्तन करें।

५—करणमपि..............एकादशकमिति विन्ध्यवासी।

(यु० दी०, पृष्ठ १०८; पंक्ति ११)

करण भी ग्यारह हैं, यह विन्ध्यवासी का मत है। दस बाह्यकरण (पाँच ज्ञानेन्द्रिय+पाँच कर्मेन्द्रिय) और एक आन्तर करण मन। अगली संख्या छह और सात के सन्दर्भों से यह स्पष्ट है कि विन्ध्यवासी केवल एक अन्तःकरण स्वीकार करता है—मन।

६—तथा.........सर्वार्थोपलब्धिः मनसि विन्ध्यवासिनः।

(यु० दी०, पृष्ठ १०८; पंक्ति १२)

इसी प्रकार विन्ध्यवासी के मतानुसार सब अर्थों की उपलब्धि केवल एक अन्तःकरण मन में हो जाती है। वे सब अर्थ कौन-से हैं, यह अगले सन्दर्भ में बताया है—

७—संकल्पाभिमानाध्यवसायनानात्वमन्येषां, एकत्वं विन्ध्यवासिनः।

(यु० दी०, पृष्ठ १०८; पंक्ति १२-१३)

अन्य आचार्यों की मान्यता के अनुसार संकल्प, अभिमान, अध्यवसाय वृत्तियाँ नाना हैं; परन्तु विन्ध्यवासी का कहना है कि ये एक हैं। अन्य आचार्य तीन

अन्तःकरण=मन, अहंकार, बुद्धि पृथक् मानकर उनकी वृत्तियाँ भी पृथक् मानते हैं। संकल्पवृत्ति मन की है। अभिमान अहंकार की वृत्ति, अध्यवसाय बुद्धि की। विन्ध्यवासी कहता है, ये सब मन की वृत्ति हैं। गत सन्दर्भ में जो कहा—सब अर्थों की उपलब्धि मन में होती है, ये ही वे सब अर्थ हैं, जो केवल मन द्वारा उपलब्ध हो जाते हैं। समस्त बाह्य इन्द्रियों के विभिन्न विषयों को ग्रहण करने का सामर्थ्य एक मन में जिस प्रकार विद्यमान है, उसी प्रकार केवल मन द्वारा संकल्प, अभिमान, अध्यवसाय आदि अर्थों को ग्रहण किया जा सकता है। तीन अन्तःकरण मानना अनावश्यक है।

८—विन्ध्यवासिनस्तु—विभुत्वादिन्द्रियाणां बीजदेशे वृत्त्या जन्म। तत्त्यागो मरणम्। तस्मान्नास्ति सूक्ष्मशरीरम्। तस्मान्निर्विशेषः संसार इति पक्षः।

(यु० दी०, पृष्ठ १४४; पंक्ति २०-२२)

आचार्य विन्ध्यवासी का तो यह पक्ष है कि सूक्ष्मशरीर के द्वारा करणों अथवा इन्द्रियों का जो संसरण[1] बताया जाता है, वह कोई विशेषता नहीं रखता, अर्थात् वह अनावश्यक है। क्योंकि इन्द्रियाँ विभु हैं, बीजदेश में जब वे अपना व्यापार—वृत्ति प्रारम्भ करती हैं, उसी का नाम जन्म है। जब अपनी वृत्ति का त्याग कर देती हैं, उसका नाम मरण है। इसलिए सूक्ष्मशरीर का कोई अस्तित्व नहीं है। इन्द्रियों के विभु होने से जब उनका संसरण ही नहीं है, तो उसके लिए सूक्ष्मशरीर का माना जाना व्यर्थ है। बीजदेश का तात्पर्य है—गर्भस्थिति-प्रदेश, अथवा गर्भस्थिति के अवसर पर। वहाँ विद्यमान इन्द्रियाँ अपना व्यापार प्रारम्भ कर देती हैं।

सूक्ष्मशरीर की अमान्यता के विन्ध्यवासी-पक्ष को विभिन्न दार्शनिक रचनाओं में अनेकत्र स्मरण किया गया है। परन्तु यह मान्यता इन्द्रियों के विभु होने पर आश्रित है, जो अपने में स्वयं चिन्त्य है।

९—विन्ध्यवासिनस्तु—नास्ति तत्त्वसमं सांसिद्धिकञ्च। किन्तर्हि? सिद्धिरूपमेव। तत्र परमर्षेरपि सर्ग-संघातव्यूहोत्तरकालमेव ज्ञानं निष्पद्यते; यस्माद् गुरुमुखाभिप्रतिपत्तेः प्रतिपत्स्यत इति।

अपीत्याह—सिद्धं निमित्तं नैमित्तिकस्यानुग्रहं कुरुते, नापूर्वमुत्पादयति—इति, निमित्तनैमित्तिकभावश्चैवमुपपद्यते।

तत्र परमर्षेः पटुः, तूक्तः; अन्येषां क्लिष्ट इत्ययं विशेषः। सर्वेषां तु तारकाद्यविशिष्टम्।

(यु० दी०, पृष्ठ १०८; पंक्ति १०-१४)

---

१. द्रष्टव्य—पञ्चाधिकरण-सन्दर्भ, संख्या—७; तथा पतञ्जलि-सन्दर्भ, संख्या ५,६।

बुद्धि आदि करणों में साधनरूप से आश्रित धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य आठ भावों का विवरण पञ्चाधिकरण-प्रसंग में सन्दर्भ-संख्या आठ पर आया है। इन भावों को आचार्यों ने तीन वर्गों में विभाजित किया है— सांसिद्धिक, प्राकृतिक, वैकृतिक (द्रष्टव्य सांख्यकारिका, ४३)। इस वर्गीकरण के विषय में कतिपय आचार्य विभिन्न रीति पर अपने विचार प्रकट करते हैं। इनमें पञ्चाधिकरण के विचार उस प्रकरण में संख्या ८ सन्दर्भ पर स्पष्ट कर दिये गये हैं। विन्ध्यवासी के विचार प्रस्तुत सन्दर्भ में पढ़िये।

विन्ध्यवासी तत्त्वसम और सांसिद्धिक विभागों को स्वीकार नहीं करता। तब उसका क्या कहना है? वह कहता है, शरीर आदि प्राप्ति के अनन्तर न्यूनाधिक प्रयास करने पर ही भावों का उदय होता है। परमर्षि कपिल को भी सर्गरचना के अनन्तर महत्तत्त्व आदि करण व देह आदि की रचना हो जाने के पश्चात् ही ज्ञान आदि भावों का उदय होता है। कारण यह है कि गुरु के अभिमुख उपस्थित होकर उपदेश-श्रवण से ज्ञानादि भावों के उद्भव की सम्भावना होगी। भावों के उदय का अन्य कोई अवसर कल्पना करना उचित प्रतीत नहीं होता।

जिज्ञासा होती है, परमर्षि के ज्ञान, धर्म आदि भावों के विषय में कहा जाता है कि वह स्वतःसिद्ध थे; किसी अन्य निमित्त के सहयोग से उनका उद्भव नहीं हुआ। आपके उक्त कथन के अनुसार इसका निर्वाह कैसे होगा? इस विषय में जिज्ञासा का समाधान किया गया—निश्चित निर्धारित (सिद्धं) निमित्त, नैमित्तिक के प्रति अनुग्रहमात्र करता है, किसी अपूर्व का उत्पादन नहीं करता। तात्पर्य है, नैमित्तिक की अभिव्यक्ति के लिये निमित्त की उपस्थिति एक बहाना मात्र है। इससे व्यवहार में निमित्त-नैमित्तिकभाव भी उपपन्न हो जाता है और परमर्षि के भावोदय की स्वतःसिद्धि का भी निर्वाह हो जाता है।

इस विषय में कह दिया गया है कि परमर्षि से सम्बद्ध बुद्धि आदि करण अत्यन्त पटु—तीव्रशक्तिसम्पन्न होते हैं; वहाँ वे भाव अनायास-जैसे उद्भूत हो जाते हैं। अन्य व्यक्तियों के धर्म, ज्ञान आदि भावों के उद्भावन में क्लेशपूर्ण प्रयास अपेक्षित होता है; परमर्षि के तथा अन्य व्यक्तियों के भावोद्भावन में यही भेद है। तारक आदि सिद्धियों की प्राप्ति तो सबके लिये समान है। तात्पर्य है, सिद्धि के 'तारक' आदि स्तरों को प्राप्त करने के लिये सभी को ब्रह्मचर्य, तपस्या, व्रत आदि का अपेक्षित प्रयास करना होता है।

१०—सन्दिह्यमान सद्भाववस्तुबोधात् प्रमाणता।
विशेषदृष्टमेतच्च लिखितं विन्ध्यवासिना॥

(श्लो०, वा०, अनु०श्लो० १४३, पृ० ३९३, बनारस-संस्करण)

जिस वस्तु के अस्तित्व के विषय में सन्देह है कि यह वस्तु है, या नहीं, उसकी जानकारी जिस साधन के द्वारा हो जाती है, उस साधन की प्रमाणता निश्चित है।

अनुमान-प्रमाण में साधन या हेतु की सफलता एवं सार्थकता की यही कसौटी है कि वह अपने साध्य को सिद्ध करने में पूर्ण समर्थ है। ऐसे साधन की विद्यमानता में साध्य-विषयक कोई सन्देह नहीं रहता। साधन का दोषरहित प्रामाण्य यही है। यह विशेषदृष्ट अनुमान है, ऐसा विन्ध्यवासी ने लिखा है।

इस अनुमान को प्रत्यक्षदृष्ट अथवा प्रत्यक्षदृष्टसम्बन्ध अनुमान भी कहा जाता है। अनेक बार अग्नि के साथ धूम का नियमित रूप से साहचर्य का सम्बद्ध रहने का प्रत्यक्ष दर्शन कर व्यक्ति यह जान लेता है कि जब धुआँ लाट के रूप में कहीं से उठ रहा हो, तो उसे आग के न दीखने पर भी यह निश्चय हो जाता है कि वहाँ आग विद्यमान है। न दीख रही आग के अस्तित्व में धुआँ प्रमाण है, यह विशेषदृष्ट अनुमान, गौतमीय अनुमानलक्षण सूत्र (१।१।५) में वर्णित 'पूर्ववत्' नामक अनुमानविशेष के साथ सन्तुलित होता है। आगे संख्या १५ के सन्दर्भ में विन्ध्यवासी ने इसी अर्थ को कहा है।

११—अन्तराभवदेहस्तु निषिद्धो[1] विन्ध्यवासिना।
तदस्तित्वे प्रमाणं हि न किञ्चिदवगम्यते॥

(श्लो० वा०, सूत्र ५ पर, श्लो० ६२)

आचार्य विन्ध्यवासी ने अन्तराभव देह का प्रतिषेध किया है; अथवा अन्तराभव देह की मान्यता उसे अभीष्ट नहीं है, क्योंकि उसके अस्तित्व में कोई प्रमाण जाना नहीं गया। सांख्याचार्य तथा अन्य दार्शनिक आचार्यों ने यह सुझाव दिया है कि देहत्याग होने पर देहान्तर में प्राप्त होने के लिये बुद्धि आदि करणों का कोई आश्रय माना जाना आवश्यक है; क्योंकि देहत्याग के अनन्तर निराश्रित करणों का उस स्थान तक संसरण सम्भव नहीं, जहाँ अन्य देह के साथ उनका सम्बन्ध होना है। जो आचार्य आत्मा को विभु मानते हैं, उनके अनुसार संसरण केवल बुद्धि आदि करणों का होता है; जो आत्मा को परिच्छन्न या अणु मानते हैं, उनके विचार से आत्मा और करण दोनों का संसरण होता है। इसके लिये जो आश्रय माना गया है, उसका नाम सूक्ष्मशरीर है। प्रस्तुत पद्य में उसी को 'अन्तराभव' शब्द से कहा गया है। इस नामकरण का कारण—दोनों देहों के अन्तराल-काल व देश में संसरण का एकमात्र वही आश्रय रहना है। स्थूल देह प्राप्त होने पर गति आदि का आश्रय स्थूल देह है। आत्मा व करणों का आश्रयभूत यह आवेष्टन स्थूलशरीर में सन्निहित बँधा हुआ रहता है।

सर्गादि-काल में प्रत्येक आत्मा के साथ सूक्ष्मशरीर सम्बद्ध हो जाता है। वही आनेवाले प्रलयकाल तक अथवा आत्मज्ञान होने तक बना रहता है, यह कपिल आदि सांख्याचार्यों का विचार है। अनन्तरवर्ती पतञ्जलि व पञ्चाधिकरण आदि

---

१. 'नेष्यते' इति क्वचित् पाठः।

कतिपय आचार्य सूक्ष्मशरीर को स्थूलशरीर के समान बनने-बिगड़नेवाला मानते हैं।[1] विन्ध्यवासी ने सूक्ष्मशरीर (=अन्तराभवं देह) को सर्वथा अमान्य किया; इसका कारण है—उसके द्वारा इन्द्रियों को विभु मानना। गत पंक्तियों में यह कहा गया है, जो आचार्य आत्मा को विभु मानते हैं, उनके मत में सूक्ष्मशरीर द्वारा केवल बुद्धि आदि समस्त आन्तर-बाह्य करणों का संसरण होता है, आत्मा का नहीं; एक देह के छूट जाने पर दूसरे प्राप्त होनेवाले स्थूल देह तक पहुँचने के लिये करणों को ढोनेवाले (वहन करनेवाले=आतिवाहिक=अन्तराभव) सूक्ष्मशरीर की अपेक्षा रहती है। आत्मा तो विभु होने से वहाँ सदा विद्यमान है। जब समस्त करणों को विभु मान लिया गया, तो वे भी सदा-सर्वत्र विद्यमान हैं, उनके संसरण का प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसी दशा में सूक्ष्मशरीर मानना व्यर्थ है।

विन्ध्यवासी ने सूक्ष्मशरीर के विषय में तो कह दिया कि उसके अस्तित्व में कोई प्रमाण नहीं जाना जाता, पर उसने इन्द्रियों के विभु होने में कौन-से प्रमाण किये? इसका पता सूक्ष्मशरीरवादियों को नहीं लगता। अन्तराभव देह के विषय में विन्ध्यवासी के सन्दर्भ संख्या ८ और १८ द्रष्टव्य हैं।

१२—विन्ध्यवासी त्वेवं भोगमाचष्टे—

> **पुरुषोऽविकृतात्मैव स्वनिर्भासमचेतनम्।**
> **मनः करोति सान्निध्यादुपाधिः स्फटिकं यथा॥**[2]

प्रकृति द्वारा सर्गरचना पुरुष के भोग-अपवर्ग की सिद्धि के लिये होती है। पुरुष के भोग का स्वरूप विन्ध्यवासी इस प्रकार करता है—

> अविकृतात्मा एव पुरुषः सान्निध्यात् अचेतनं
> मनः स्वनिर्भासं करोति, यथा उपाधिः स्फटिकम्।

विकार को प्राप्त न होता हुआ ही पुरुष अपने सान्निध्य—सामीप्य से अचेतन मन को अपने सदृश चेतन-जैसा बना देता है; जैसे उपाधि—लाल जपाकुसुम (गुड़हल का फूल) स्फटिक=बिल्लौरी सफेद पत्थर को लाल-जैसा बना देता है।

दृष्टान्त पर ध्यान देना चाहिये, फूल वस्तुतः लाल है। उसका सामीप्य होने पर सफेद बिल्लौर लाल-जैसा दिखाई देता है; पर वस्तुतः वह उस समय भी लाल नहीं है, सफेद ही है। यदि ऐसा न हो, तो वह लाल दिखाई दे ही नहीं सकता। लाल

---

१. द्रष्टव्य—पतञ्जलि का सन्दर्भ, संख्या ५; तथा पञ्चाधिकरण का सन्दर्भ, संख्या ७।

२. द्रष्टव्य—हरिभद्र सूरिकृत षड्दर्शन समुच्चय की गुणरत्न सूरिकृत व्याख्या, पृष्ठ १०४; रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता-संस्करण। तथा स्याद्वाद-मञ्जरी, श्लोक १५ की हेमचन्द्र सूरि विरचित 'अन्ययोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका स्तवन' नामक टीका।

दिखाई देना सफेदी की विद्यमानता का प्रमाण है। यही स्थिति आत्मा के भोग की है। बाह्य विषय इन्द्रिय-प्रणाली द्वारा मन में अंकित होता है। चेतन पुरुष अपने सान्निध्य से उस अचेतन मन को चेतन-जैसा (स्वनिर्भासम्) बना देता है। यही पुरुष के भोग का स्वरूप है। लाल न होते हुए भी लाल-जैसे दीखते हुए स्फटिक-दृष्टान्त के अनुसार, चेतन न होते हुए भी चेतन-जैसे दिखाई देनेवाले मन में बाह्य विषय झलकता है। यही पुरुष का भोग है।

ध्यान देना चाहिये—यह 'भोग' क्या है? बाह्य विषय की अनुभूति ही भोग है। अनुभूति किसको होती है, यह देखना होगा। अनुभूति चेतन को ही हो सकती है, अचेतन को नहीं। बाह्य विषय मन में अंकित है। मन स्वरूपतः अचेतन है; चेतन पुरुष सान्निध्य से उसे चेतन-जैसा बताता है, तब भोग सम्पन्न होता है। इसका तात्पर्य हुआ—विषय का भोग=अनुभव वहाँ भी चेतन ही कर रहा है। तब मन को चेतन-जैसा बनाना व्यर्थ है। चेतन अपनी जगह बैठा अनुभव क्यों नहीं कर सकता? बाह्य विषय की आत्मा में अनुभूति होने से आत्मा में किसी विकार की कल्पना नितान्त निराधार है। अनुभूति चेतन का स्वरूप है; किसी विषय की चेतन को अनुभूति होना चेतन में विकार कैसे? वह तो चेतन का स्वरूप है। जब मन को चेतन-जैसा बनाकर वहाँ भी भोग=अनुभव चेतन को ही होने पर चेतन विकारी नहीं होता, तो अपने-रूप में बैठा चेतन अनुभव=भोग करने पर विकारी क्योंहो जाएगा? अन्य के घर वही कार्य करने पर विकारी न हो, अपने घर करने पर विकारी हो जाए; यह कैसा तर्क है?

यदि अन्य के घर में चेतन को भोग होना न मानकर उस अन्य मन को भोग होना माना जाता है, पर पुरुष अविवेक के कारण यह समझता है कि मैं ही भोग करनेवाला हूँ, तो क्या सांख्य में पुरुष के भोग-अपवर्ग का कथन उसके ऐसा समझने के रूप का ही वर्णन किया गया है और क्या ये भोग-अपवर्ग वस्तुतः प्रकृति को ही होते हैं? यदि ऐसा है, तो यह सांख्य सिद्धान्त का शीर्षासन कर दिया गया है। इसके अनुसार प्रकृति पुरुष के भोग-अपवर्ग के लिए प्रवृत्त नहीं होती; प्रत्युत पुरुष प्रकृति के भोग-अपवर्ग के लिए प्रवृत्त होता है, उसे चेतन-जैसा बनाकर उसकी (भोग-अपवर्ग की) सिद्धि करता है। चले थे पुरुष को विकार से बचाने के लिए, परन्तु पुरुष के साथ उसका बसा घर ही उजाड़ बैठे! मालिक को दास बना दिया और सेवक को स्वामी!

इस विषय में सिद्धान्त यह है—देह और करण आदि के रूप में प्रकृति पुरुष के भोग आदि के लिए साधनरूप है, अन्य प्राकृत जगत् भोग्य है। पुरुष वास्तविक भोक्ता है, नकली भोक्ता नहीं। मन के रूप में प्रकृति भोग करती रहे, और झूठा ही—बहलाये की तरह—पुरुष यह समझता रहे कि मैं ही भोग रहा हूँ, ऐसे मिथ्या भोग के लिए पुरुष क्यों उत्सुक होगा? जप, तप, व्रत, अनुष्ठान, ब्रह्मचर्य, यम,

नियमादि पालन, कटु क्लेश उठाकर समाधिप्राप्ति के प्रयास, क्या यह सब प्रकृति करती है? यदि ऐसा ही है, तो यह बुद्धिमत्ता और मूर्खता दोनों की बलिहारी है। बुद्धिमत्ता की इसलिए कि यह कहनेवालों ने साधारण मानव-समाज को विभ्रान्त किया है। मूर्खता की इसलिए कि वैसा कथन वास्तविकता का उपहास है।

साधन और भोग्य सामग्री की अनिवार्य आवश्यकता और उसकी महत्ता को अभिव्यक्त करने की भावना से उस प्रकार के कथनों का औचित्य कथञ्चित् मान्य हो सकता है। ईश्वरकृष्ण-रचित सांख्यकारिका के अन्तर्गत ६१, ६२ आर्याओं का तात्पर्य इसी भावना के अनुसार समझना चाहिए। तभी ६८वीं आर्या में विषय का उपसंहार करते हुए वास्तविक अर्थ का कथन संगत हो सकता है। फलतः विन्ध्य-वासी द्वारा प्रस्तुत पुरुष के भोगस्वरूप वर्णन में शाब्दिक जाल अधिक है; शब्दों की लपेट है; वस्तुभूत अर्थतत्त्व वहाँ का वहीं है। भोग जहाँ भी हो रहा है, वह चेतन को हो रहा है, अन्य किसी को नहीं। आचार्य आसुरि द्वारा किया गया पुरुष-भोग के स्वरूप का वर्णन उसके प्रकरण में देखिए। वह वास्तविकता के समीप है। बाह्यविषय करणव्यापार द्वारा बुद्धि तक पहुँचता है। सम्बद्ध पुरुष उसका अनुभव करता है, उसे जान लेता है, यही पुरुष का भोग है। वहाँ दिए गये उदाहरण के अनुसार बाह्य विषय से अंकित—अनुलिप्त बुद्धि चेतनपुरुष में प्रतिबिम्बित हो जाती है। यह भी वस्तुस्थिति के वर्णन करने का एक प्रकारमात्र है। प्रतिबिम्ब का तात्पर्य है—बाह्य विषय को वहाँ तक पहुँचा देना। करणों की यह सब प्रक्रिया देह में पुरुष की उपस्थिति से सम्भव है। इसी तथ्य को—पुरुष के सान्निध्य से करण (मन) को चेतन-जैसा बना देने के रूप में—वर्णन किया गया है। सब स्थितियों को विचारकर पुरुष के भोग-स्वरूप को समझने का प्रयास करना उपयुक्त होगा।

१३. **विन्ध्यवासिनस्तु—**

> **पूर्वव्यक्त्यवच्छिन्नमपूर्वव्यक्तौ प्रतीयमानं सामान्यमेव सादृश्यम्। तदेक-शब्दवाच्यम्—इति मतम्।**[1]

सादृश्य के विषय में विन्ध्यवासी का तो यह मत है—पहले या एक व्यक्ति में सम्बद्ध सामान्य धर्मों का दूसरे व्यक्ति में प्रतीत होना 'सादृश्य' कहा जाता है। वह सादृश्य 'एक' शब्द का वाच्य है; अर्थात् 'एक' इस पद के द्वारा भी उस अर्थ का कथन किया जाता है। जिन दो व्यक्तियों अथवा वस्तुओं में इस प्रकार का सादृश्य होता है, उनको लोकव्यवहार में कहा जाता है—ये तो बिल्कुल 'एक' हैं।

---

१. यह सन्दर्भ 'साहित्य मीमांसा' के पृष्ठ ४३ पर देखना चाहिए। तुलना करें, सन्दर्भ संख्या १६ के साथ।

१४. यदेव दधि तत्क्षीरं यत्क्षीरं तद्दधीति च।
वदता रुद्रिलेनैवं ख्यापिता विन्ध्यवासिता॥[1]

सांख्य के सत्कार्यवाद-सिद्धान्त के प्रत्याख्यान-प्रसंग में उक्त वाद का उपहास करते हुए लेखक ने कहा—रुद्रिल विन्ध्यवासी ने यह बताते हुए—जो दही है, वही दूध है, और जो दूध है वही दही है—अपना जंगलीपन प्रकट कर दिया है। सत्कार्यवाद के अनुसार कार्य-कारण में परस्पर अभेद माना जाता है। कार्य, कारण से भिन्न नहीं होता, तथा कार्य अपूर्व उत्पाद भी नहीं माना जाता। दूध कारण और दही कार्य है। जब कार्य कारण से भिन्न नहीं, तो जो दूध है, वही दहीं होगा। ऐसी दशा में दही को दूध कहने में कोई बाधा नहीं। यदि यही सिद्धान्त है तो यह निरे जंगलीपन (=विन्ध्यवासिता) की बात है; क्योंकि दूध-दही कभी एक नहीं हो सकते, इसे साधारण व्यक्ति भी अच्छी तरह जानता है।

'वादी भद्रं न पश्यति' वादी अपने प्रतिपक्षी की अच्छाई को नहीं देखता; इस कहावत के अनुसार उक्त श्लोक के रचयिता ने सत्कार्यवाद की वास्तविक मूलभूत अच्छाई की ओर ध्यान देने की उपेक्षा की है और उसे उपहास का विषय बनाया है। इस सिद्धान्त का वास्तविक तथ्य इतने में है कि किसी भी उभरते कार्य में उपादानतत्त्व वे ही हैं जो 'कारण' पद से कहे जाते हैं। किन्हीं बाह्य या आन्तर निमित्तों से कारणतत्त्वों में परिणाम-संज्ञक जो परिवर्तन आता है, उसका नाम कार्य है। कार्य और कारण दोनों स्थानों पर मूल तत्त्वों का अस्तित्व समान-जैसा बना रहता है। सत्कार्यवाद इसको इस रूप में प्रस्तुत करता है—उभरनेवाला भावी कार्य अपने रूप, आकृति, परिनिष्ठिति आदि की अव्यक्त दशा में कारण के अन्दर विद्यमान रहता है। किन्हीं निमित्तों से उसकी अभिव्यक्ति कार्य-अवस्था है।

दूध और दही का उदाहरण लीजिए। यह कोई नहीं कहता कि दूध ही दही और दही दूध है। पर यह निश्चित है कि दही की पूर्ण परिनिष्ठति अव्यक्त दशा में केवल दूध में अन्तर्हित है, यही आधार सत्कार्यवाद का है। यदि ऐसा नहीं माना जाता, और कहा जाता है कि दही कार्य की किसी भी परिस्थिति का दूध में सर्वथा अभाव है, तो सर्वत्र अभाव के समान होने से प्रत्येक कार्य चाहे जहाँ से अभिव्यक्त हो जाया करे। यह सर्वथा असम्भव है। दही दूध से ही अभिव्यक्त हो सकता है, अन्यत्र कहीं से नहीं। दूध में मिला पानी भी दही नहीं बनता, वह साथ अलग-थलग पड़ा रह जाता है; दही केवल दूध की परिणत अभिव्यक्ति है। इस सिद्धान्त

१. शान्तरक्षितकृत तत्त्वसंग्रह की कमलशीलकृत व्याख्या पंजिका; पृष्ठ २६, पंक्ति ११-१२। प्रारम्भिक प्रकृतिपरीक्षा प्रसंग के श्लोक १६ की व्याख्या में द्रष्टव्य। वाराणसी-संस्करण, सन् १९६८ ई०।

Scanned with CamScanner

का वास्तविक तथ्य केवल इतना है।

१५. एतच्च यथोक्तम्—

प्रत्यक्षदृष्टसम्बन्धमनुमानं विशेषतोदृष्टमनुमानमित्येवं विन्ध्यवासिना गदितम्।[1]

दो वस्तुओं के अविनाभावी सम्बन्ध को प्रत्यक्ष द्वारा जान लेने पर कालान्तर या देशान्तर में उन दो वस्तुओं में से एक को देखकर न दीखती हुई दूसरी वस्तु का ज्ञान हो जाता है, इस ज्ञान का नाम 'अनुमिति' तथा इस ज्ञान के साधन को अनुमान प्रमाण कहा जाता है। इसी प्रसंग में प्रस्तुत सन्दर्भ तत्त्वसंग्रह की पंजिका-व्याख्या में उद्धृत किया गया है।

तथा जिस प्रकार यह कहा—प्रत्यक्षदृष्टसम्बन्ध अनुमान, विशेषतोदृष्ट अनुमान है, ऐसा विन्ध्यवासी ने कहा है।

अनुमान के दो भेद हैं—विशेषतोदृष्ट अनुमान और सामान्यतोदृष्ट अनुमान। प्रस्तुत सन्दर्भ में पहले अनुमान का स्वरूप बताया है। महानस आदि में अग्नि और धूम के सम्बन्ध को प्रत्यक्ष देखकर, तथा यह जानकर कि धूम का प्रादुर्भाव अग्नि के बिना नहीं हो सकता—व्यक्ति कहीं दूर प्रदेश में धुएँ की लाट उठती देखकर यह अनुमान कर लेता है, यहाँ आग अवश्य है। यह ज्ञान यथार्थ होता है, इसमें कोई संशय या विपर्यय नहीं। इस प्रकार प्रत्यक्ष-दृष्टसम्बन्धपूर्वक जो अनुमान होता है, वह विशेषतोदृष्ट अनुमान कहा जाता है।

१६. सारूप्यं सादृश्यं विन्ध्यवासीष्टम्।[2]

रूप, आकृति, बनावट आदि का समान होना 'सादृश्य' है, यह विन्ध्यवासी का अभिमत है। प्राणियों अथवा अप्राणियों में रूप आदि का समान होना उनके सादृश्य का प्रयोजक होता है। सन्दर्भ संख्या १३ में इसका विवरण आ गया है।

१७. श्रोत्रादिवृत्तिरविकल्पिका इति विन्ध्यवासिप्रत्यक्षलक्षणम्।[3]

विन्ध्यवासी द्वारा मान्यताप्राप्त प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण है—अविकल्पिका =विकल्प—संशय एवं विपर्यय आदि से रहित, श्रोत्र आदि इन्द्रियों की वृत्ति अर्थात् व्यापार। श्रोत्र आदि इन्द्रियों का अपने ग्राह्य विषय के साथ सम्बन्धरूप व्यापार

---

१. द्रष्टव्य—तत्त्वसंग्रह पंजिका, अनुमानपरीक्षा-प्रकरण; पृष्ठ ५१८; पंक्ति ९-१०। व्याख्या, श्लोक १४४२-१४४५॥

२. तत्त्वसंग्रह पंजिका, पृष्ठ ६३६; पंक्ति ७। गायकवाड़ सीरीज, बड़ौदा-संस्करण।

३. सिद्धसेन दिवाकर कृत 'सन्मति तर्क' पर अभयदेव सूरिकृत व्याख्या, पृष्ठ ५३३; पंक्ति २। गुजरात पुरातत्त्व मन्दिर ग्रंथावली संस्करण।

प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण है; पर उसमें संशय एवं विपर्यय का सम्मिश्रण नहीं होना चाहिए।

इसकी अपेक्षित विस्तृत व्याख्या विन्ध्यवासी के तथा वार्षगण्य के सन्दर्भ संख्या २ में कर दी गई है।

१८—अथवा कैश्चिदिष्यते—अस्त्यन्तराभवं शरीरं सूक्ष्मं यस्येयमुत्क्रान्तिः। अन्यैस्त्वन्तराभवदेहो नेष्यते, यथाह भगवान् व्यासः—

'अस्मिन् देहे व्यतीते तु देह मन्यन्नराधिप।
इन्द्रियाणि वसन्त्येव तस्मान्नास्त्यन्तराभवः॥'

सांख्या अपि केचिन्नान्तराभवमिच्छन्ति विन्ध्यवासिप्रभृतयः।[1]

यह सन्दर्भ मनुस्मृति (१।५५) श्लोक के मेधातिथिकृत भाष्य से लिया गया है। सन्दर्भ के अन्तर्गत व्यास के नाम से उद्धृत श्लोक का मूल स्थान अज्ञात है। यह पद्य महाभारत में हो या कहीं पुराण में, यह अन्वेष्य है। मनुस्मृति के (५५-५६) श्लोकों में मृत्यु के अवसर पर एक देह के छोड़कर देहान्तर में उत्क्रमण करने का निर्देश है। उसी प्रसंग में टीकाकार मेधातिथि का यह लेख है।

कतिपय आचार्यों का अभिमत है—एक अन्तराभव सूक्ष्मशरीर रहता है, जो एक देह से देहान्तर में उत्क्रमण करता है। अन्य आचार्य अन्तराभव देह को अभीष्ट नहीं मानते। जैसा भगवान् व्यास ने कहा है—

हे राजन्! इस देह के बीत जाने पर अन्य देह प्रस्तुत रहता है, जहाँ इन्द्रियाँ पहले से रह रही हैं। इसलिए अन्तराभव देह अमान्य है। विन्ध्यवासी आदि कई सांख्याचार्यों को भी अन्तराभव देह अभीष्ट नहीं है।

श्लोक में यह भाव ध्वनित होता है कि आगे प्राप्त होनेवाले शरीर के साथ इन्द्रियाँ पहले से विद्यमान हैं। इससे स्पष्ट होता है, श्लोक का रचयिता इन्द्रियों को विभु मानता है। यदि इस मान्यता का उपज्ञ विन्ध्यवासी है, तो यह श्लोक वेदव्यास की रचना नहीं हो सकता। उस दशा में यही सम्भव है कि विन्ध्यवासी ने अथवा उसके किसी अनुयायी ने वेदव्यास की तथाकथित रचनाओं में इसका प्रक्षेप किया, जो मेधातिथि-काल से पर्याप्त पूर्व हुआ। वहाँ से मेधातिथि ने लिया।

१९—देहयोगेन नैवास्य भावतो भोग इष्यते।
प्रतिबिम्बोदयात् किन्तु यथोक्तं पूर्वसूरिभिः॥
पूर्वसूरिभिः विन्ध्यवास्यादिभिः।

यह श्लोक 'शास्त्रवार्त्तासमुच्चय' का ३।२७ है। इसकी टीका 'शास्त्रवार्त्ता-

---

१. मनुस्मृति, श्लोक (१।५५) का मेधातिथि-भाष्य। विन्ध्यवासी के इस मत की तुलना करें—सन्दर्भ संख्या ८ तथा १३ के साथ।

Scanned with CamScanner

समुच्चयस्याद्वादकल्पलता' (पृ० १०६, पं० ८) में श्लोक के 'पूर्वसूरिभिः' पद का अर्थ 'विन्ध्यवास्यादिभिः' किया है। इससे स्पष्ट होता है—मूल श्लोक में जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है, टीकाकार के विचार से वह सिद्धान्त विन्ध्यवासी आदि आचार्यों का है।

इस श्लोक में आत्मा के भोग के स्वरूप का निरूपण है। सन्दर्भ संख्या १२ में एक श्लोक पहले लिखा जा चुका है। उस श्लोक में आत्मा के भोग-सम्बन्धी जो विचार विन्ध्यवासी के नाम से प्रकट किए गए हैं, उनका पूर्ण सामञ्जस्य इस श्लोक के साथ नहीं हो पाता। प्रत्युत आसुरि के नाम से[1] अनेकत्र उद्धृत श्लोक के साथ प्रस्तुत श्लोक का पूर्ण सामञ्जस्य है। षड्दर्शनसमुच्चय की गुणरत्न सूरिकृत व्याख्या में वह श्लोक निम्न प्रकार उद्धृत है—

तथा चासुरिः—

विविक्ते दृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते।
प्रतिबिम्बोदयः स्वच्छे यथा चन्द्रमसोऽम्भसि ॥[2]

आसुरि के एतद्विषयक मत का ग्रन्थारम्भ के आसुरि-प्रसंग में, तथा विन्ध्यवासी के मत का इसी प्रसंग में संख्या १२ के सन्दर्भ पर विवेचन किया है। अपेक्षित विचार यहाँ प्रस्तुत हैं। प्रथम संख्या १६ सन्दर्भ का अर्थ जानना उपयुक्त होगा। अर्थ है—

अस्य—जीवात्मनः, भोगः—सुख-दुःखाद्यनुभवः, देहयोगेन—शरीर-सम्बन्धमात्रेण, नैव—न हि, इष्यते—अभिलष्यते, स्वीक्रियते; किन्तु प्रतिबिम्बोदयात्—करणव्यापारानुरूपमात्मनि बाह्यविषयावभासनात् भावतः—धर्माऽधर्मादि द्वारा, भोगः—सुख-दुःखात्मकानुकूलप्रतिकूलानुभूतिः, इष्यते—स्वीक्रियते।

अस्य—इस जीवात्मा का, भोगः—भोग, सुख-दुःख आदि का अनुभव केवल देहसम्बन्धमात्र से होना अभीष्ट नहीं है। तात्पर्य है, केवल देह के साथ सम्बन्ध होना भोग नहीं है। भोग की रेखा देहसम्बन्ध तक ही सीमित नहीं है, कुछ आगे भी है। वह है, भावों का आत्मा में उभरना। भाव आठ हैं—धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य। आत्मा में इनका उभार करणों के व्यापार के अनुरूप होता है; इसी कारण इन्हें (धर्म आदि

---

१. (क) हरिभद्र सूरिकृत षड्दर्शनसमुच्चय की गुणरत्न सूरि तर्करहस्यदीपिका नामक टीका, पृष्ठ १०४। (रॉयल एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता, सन् १९०५ का संस्करण)।
(ख) स्याद्वाद मञ्जरी, श्लोक १५ की हेमचन्द्र सूरि कृत व्याख्या।
(ग) वादमहार्णव तथा अन्य जैन-बौद्ध दार्शनिक ग्रन्थ।

२. इसकी विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत ग्रन्थ के आसुरि प्रसंग में देखिए।

Scanned with CamScanner

को) करणाश्रयी कहा जाता है। करणों के सहारे ही—उनके सहयोग से ही—ये उभरते हैं। इनकी नियत प्रक्रिया के अनुरूप बाह्यविषय अनुकूल या प्रतिकूल रूप से आत्मा में अवभासित होता है; यही आत्मा के भोग का स्वरूप अभीष्ट है। भोग करण (बुद्धि) में हो और आत्मा को झूठा बहलाया जाय या बहकाया जाय—तुम्हारा यही भोग है, ऐसा नहीं है। करणव्यापार द्वारा बाह्यविषय का आत्मा तक पहुँचना आत्मा का भोग है। विन्ध्यवासी उसे मार्ग में ही अटका देता है; बुद्धि तक लाकर उसे समाप्त कर देता है। ऐसा तात्पर्य प्रस्तुत श्लोक से अभिव्यक्त नहीं होता।

इस सब पर विचार करते हुए 'स्याद्वादकल्पलता' में 'पूर्वसूरिभिः' पद का अर्थ 'विन्ध्यवास्यादिभिः' जो किया गया है, वह चिन्तनीय है। उसका ठीक अर्थ 'आसुर्यादिभिः' होना चाहिए।

२०. अनेनैवाभिप्रायेण विन्ध्यवासिनोक्तम—'सत्त्वतप्यत्वमेव पुरुषतप्यत्वम्' इति।

(योगसूत्र भोजवृत्ति, ४।२२)

इसी अभिप्राय से विन्ध्यवासी ने कहा है—सत्त्व का तपना ही पुरुष का तपना है। 'सत्त्व' पद का अर्थ बुद्धितत्त्व है। तप्यत्व=तपना से तात्पर्य सुख-दुःख आदि का होना है। सुख-दुःख आदि बुद्धि को होते हैं, उन्हीं का उपचार पुरुष में किया जाता है। सन्दर्भ संख्या १२ में यही भाव विन्ध्यवासी ने स्पष्ट किया है।

इति श्रीपूर्णसिंहतनूजेन तोफादेवीगर्भजेन, बलियामण्डलान्तर्गत 'छाता'
वासि-श्रीकाशीनाथ शास्त्रिपादाब्जसेवालब्धविद्योदयेन
बुलन्दशहरमण्डलान्तर्गत—पहासूपकण्ठ 'बनैल' ग्रामाभि-
जनेन साम्प्रतं 'अजमेर' (अजयमेरु) नगर-
निवासिना विद्यावाचस्पतिना **उदयवीर-**
शास्त्रिणा रचिता 'प्राचीन-सांख्यसन्दर्भ'
व्याख्या विद्योदयाभिधाना
सम्पूर्णतामगात्।

तिथि—आषाढ़ अमावास्या (सोमवती) २०४६ विक्रमी संवत्
ता०—३ जुलाई, १९८९ ईसवी सन्

□□□



आचार्य उदयवीर शास्त्री का जन्म ६ जनवरी १८९४ को बुलन्दशहर जिले के बनैल ग्राम में, मृत्यु १६ जनवरी १९९१ को अजमेर में।

प्रारम्भिक शिक्षा गुरुकुल सिकन्द्राबाद। १९१० में गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर में प्रवेश यहाँ से विद्याभास्कर की उपाधि प्राप्त की। १९१५ में कलकत्ता से वैशेषिक न्यायतीर्थ १९१६ में सांख्य-योग तीर्थ की परिक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। गुरुकुल महाविद्यालय में इनके वैदुष्य तथा प्रकाण्ड पाण्डित्य से प्रभावित होकर विद्यावाचस्पति की उपाधि प्रदान की। जगन्नाथ पुरी के भूतपूर्व शंकराचार्य स्वामी भारती कृष्णतीर्थ ने आपके प्रौढ़ पाण्डित्य से मुग्ध होकर आपको शास्त्र-शेवधि तथा वेदरत्न की उपाधियों से विभूषित किया।

स्वशिक्षा संस्थान गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर में अध्यापन प्रारम्भ किया। तत्पश्चात् नेशनल कॉलेज, लाहौर में और कुछ काल दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय में अध्यापक तथा बीकानेर स्थित शार्दूल संस्कृत विद्यापीठ में आचार्य पद पर कार्य।

अन्त में 'विरजानन्द वैदिक शोध संस्थान' में दार्शनिक ग्रन्थों का प्रणयन किया।

गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली-६